वैशेषिक दर्शन

तुलनात्मक अध्ययन

A COMPARATIVE STUDY OF THE

VAIŚESIKA PHILOSOPHY

भारतीय दर्शन ग्रन्थमाला :
प्रथम पुष्प

वैशेषिक दर्शन—तुलनात्मक अध्ययन

लेखक : डॉ० बद्री नाथ सिंह

एम. ए. पी. एच. डी. दर्शनाचार्य, वाचस्पति (डी. लिट्)

दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय.

आशा प्रकाशन

गोदौलिया, वाराणसी, यू. पी.

प्रकाशक
आशा प्रकाशन
डी. ४३/२० सदानन्द बाजार
गोदौलिया, वाराणसी

★

प्रथम संस्करण—१०००

मूल्य सजिल्द १५ रू.

मुद्रक:—
भारती मुद्रण बड़ी पियरी वराणसी

भूमिका

डा० बद्रीनाथ सिंह, अध्यापक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय द्वारा लिखित "वैशेषिक दर्शन तुलनात्मक अध्ययन' को मैंने बड़ी रूचि और आदर से देखा। डा० सिंह ने इस ग्रन्थ में वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों का सुन्दर विवेचन किया है, उनके विवेचन के प्रकाश में वे सारे सिद्धान्त निखर उठे हैं और अध्येता के लिये अत्यन्त सरल और सुबोध बन गये हैं। सिद्धान्तों के प्रतिपादन और स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में डा० सिंह ने जो कुछ कहा है उसकी प्रामाणिकता की रक्षा के लिए वैशेपिक दर्शन के अनेकों मान्य ग्रन्थों से आवश्यक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, इस प्रकार उनका प्रतिपादन प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत होने के कारण बिना किसी हिचक के वैशेषिक दर्शन के जिज्ञासुओं के लिये उपादेय और उपयोगी है, । अनेक सिद्धान्तों के विषय में यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि डा० सिंह के विवेचन ने उनमें नयी आभा और नया सौन्दर्य उत्पन्न कर दिया है। उदाहरणार्थ पृष्ठ १३ में भाव सम्बन्धि विचार का उउल्लेख किया जा सकता है।

इस ग्रन्थ की वैशेषिक दर्शन के मूल ग्रन्थों से यह विशेषता है कि उन ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों को इस ग्रन्थ में ऐसी प्रणाली से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है जिसे आज का अध्येता पसन्द करता है और जिससे पदार्थ को सरल और स्पष्ट ढंग से समझने में सहायता मितती है। दूसरी विशेषता यह है कि प्राचीन ग्रन्थों में उन सिद्धान्तों को अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों की तुलना में समझने और समझाने का प्रयास उतना नहीं किया गया है जितना इस ग्रन्थ में किया गया है।

नये युग में नवीन लेखकों ने अंग्रेजी, हिन्दी या अन्य प्रादेषिक भषाओं में इस विषय पर जो ग्रन्थ लिखे हैं उन ग्रन्थों से भी इस ग्रन्थ में कई उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जैसे इस ग्रन्थ में विषयों की विवेचना करते समय यह ध्यान रखा गया है कि उस विषय के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है उसका सार संक्षेप में अवश्य प्रस्तुत हो जाय। इतना ही नहीं, यह भी ध्यान रखा गया है कि उस विषय पर अन्य प्राचीन दर्शनों में जो कुछ कहा गया है उसकी भी चर्चा इस ग्रन्थ में प्रस्तुत हो।

प्रतिपाद्य विषय के बारे में विदेशी विद्वानों ने अपने दर्शनों के दृष्टिकोण से भारतीय विचार पद्धति के सम्बन्ध में अपनी धारणा के अनुसार जो आलोचनायें या नवीन उद्भावनायें की हैं इस ग्रन्थ में उनकी भी पर्याप्त चर्चा की गयी है और औचित्य, अनौचित्य की परिक्षा कर उसके परीक्षा के प्रकाश में विषयों को देखने का प्रयत्न किया गया है।

इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने प्रतिपाद्य विषयों से सम्बद्ध प्राचीन और नवीन दोनों प्रकार के ग्रन्थों की अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य और अपना क्षेत्र भेद रखने के कारण विद्वानों और विद्यार्थियों के लिये, विशेषकर दर्शन के अनुसन्धाताओं के लिये अत्यन्त उपयोगी और स्पहणीय है।

ऐसे उपयोगी ग्रन्थ को अपने देश की राष्ट्रभाषा में सरल, सुबोध, साथ ही गम्भीर रूप में प्रस्तुत करने के लिये मैं डा० सिंह को धन्यवाद देता हूँ और उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करना चाहता हूँ कि वे इसी प्रकार अन्य भारतीय तथा वैदेशिक दर्शनों पर भी ऐसी ही पुस्तक प्रस्तुत करने का प्रयास करें।

बद्रीनाथ शुक्ल

प्राध्यापक अध्यक्ष
न्याय वैशेषिक विभाग
तथा गवेषणालय संचालक
वा. सं विश्व विद्यालय

निवेदन

वैशेषिक दर्शन को पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हर्ष का अनुभव करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि पाठकों के मानस सरोवर में समान स्पन्दन होगा—सम सुगन्ध कर दोउ। आशा है निकट भविष्य में पूरी माला उनके उदार वक्षस्थल की शोभा बढ़ायेगी। माला विशेष पुष्पों से ही गूँथी जाती है, अतः प्रथम पुष्प वैशेषिक दर्शन है। कणभक्षी कणाद के चरणों की महिमा किसी भी दर्शनानुरागी से छिपी नहीं—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्, अतः कणाद से ही प्रारम्भ श्रेयसकर है। शीघ्र ही अक्षपाद की आन्वीक्षिकी 'प्रदीपः सर्वविद्यानां' से पाठकों को आलोक मिलेगा।

अनुग्राहकों में सर्वप्रथम नैयायिक प्रवर पं० ज्वाला प्र० गौड़ का उल्लेख करता हूँ। उनकी सहानुभूति और सौहार्द्र को मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। उनके पाण्डित्य के विषय में कुछ भी कहना तो सूरज को दीपक दिखाना है। पुस्तक में मैंने यत्र तत्र 'गुरुमुखात्' का प्रयोग किया है, यह शब्द उन्हीं के तथा उनके गुरुवर पं० शिवदत्त मिश्र गौड़ के लिये किया गया है। पुस्तक में मैंने अधिकाधिक उद्धरण पं० ज्वाला प्र० गौड़ की मुक्तावली पर विलासिनी टीका से दिया है। पुनः नैयायिक शिरोमणि पं० बद्रीनाथ शुल्क जी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने अपने कर कमलों से पुस्तक की भूमिका लिखकर पुष्प में सौरभ प्रदान किया है। वरिष्ठ प्राध्यापक डा. एन. के. देवराज, डा. आर. एस. मिश्र के प्रति आभारी हूँ जिनके कृपा-कटाक्ष से बराबर लाभान्वित होता रहा हूँ। डा० सदानन्द भादुरी, श्री नारायण मिश्र के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनके पुस्तक से लाभान्वित हुआ हूँ। पुस्तक में कुछ उद्धरणों की पृष्ठ संख्या छूट गयी है जिन्हें मैंने अन्त में शुद्धि पत्र में दे रखा है। अन्त में आलोचकों से प्रार्थना है कि पुष्प के पराग पर अधिक ध्यान दें, चित्र की प्रशंसा चित्रकार ही करता है।

विद्वानेव जानाति विद्वद्जनपरिश्रमम्।
न हि वन्ध्याभिजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

निवेदक
बद्रीनाथ सिंह

विषय—सूची

मिलति नयनमक्षपाद पादप्रणिपतनेन ललाटसीम्नि यस्य ।
विधिरपिपुरुषस्य तस्य भाले लिखितुमदृष्ट लिपिं कुतः क्षमेत ॥

यन्नादृतस्त्वमलिना मनिनाशयेन
किंतेन चम्पक विषादमुरी करोषि ।
विश्वाभिरामनवनीरदनील वेषाः
केशाः कुशेशयदृशां कुशली भवन्तु ॥

शैत्यगाम्भीर्यमाधुर्यवैधुर्यमवधार्यते ।
नावगाह्य न चास्वाद्य तरङ्गिण्यास्तु तेन किम् ॥
(पं. बद्री नाथ शुक्ल जी से प्राप्त).

मान्यान् प्रणम्य वहिताञ्जलिरेष भूयो
भूयो विधाय विनयं विनिवेदयामि ।
दूष्यं वचो मम पुनर्निपुणं विभाव्य
भावार्थबोधविहितो न दुनोति दोषः

रघुनाथ शिरोमणि.

★

प्रथम अध्याय

पदार्थ विचार

वेद में स्वर के समान वैशेषिक में वस्तु पर बल दिया गया है। वस्तु की वास्तविक सत्ता निर्विवाद रूप से स्वीकार की गयी है। ज्ञान सविषयक (अर्थजन्य) होता है, अर्थात् हमें ज्ञान वस्तु का ही होता है। इस प्रकार ज्ञान के अर्थजन्य होने से वस्तु की सत्ता ज्ञान के पूर्व ही मान्य है। यदि वस्तु की सत्ता को स्वीकार न किया जाय तो ज्ञान की उत्पत्ति ही सर्वथा असम्भव हो जाय, कारण कि—'विषयतासम्बन्धेन ज्ञानं प्रति तादात्म्येन विषयः कारणम्' अर्थात् विषयता सम्बन्ध से ज्ञान के प्रति तादात्म्य सम्बन्ध से विषय या वस्तु कारण होता है। इस प्रकार ज्ञान और वस्तु या विषय का कार्यकारण भाव माना गया है। वस्तु या अर्थ ज्ञान का कारण है। यहाँ कार्य कारण नियम का संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है। कारण कार्य के नियम से पूर्व में रहता है—

'कार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम्'—अन्नंभट्ट. तर्क संग्रह

कार्याव्यवहितप्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकाऽन्यथासिद्धयश्रयतानवच्छेदकधर्मवत्वम्, न्या० सि० मु० विलासिनी।

अन्यत्र भी पाश्चात्य दर्शन में भी 'कारण कार्य के नियत पूर्ववर्त्ती घटता है'

इसी प्रकार कार्य का लक्षण है—'प्रागभाव का प्रतियोगी होना' कार्य प्रागभावप्रतियोगि—अन्नंभट्ट. त. सं. अर्थात् कार्य उसे कहते है जो अपने प्रागभाव का प्रतियोगी हो। प्रागभाव का नियम है कि वह सर्वदा कार्योत्पत्ति के पूर्व काल में ही रहता है।

अतः इससे कार्य का यह लक्षण स्पष्ट निकल रहा है—जो नियम से कारण सामग्री के उत्तरकाल में उत्पन्न हो वह कार्य कहलाता है।

कार्य और कारण की उपर्युक्त परिभाषा ज्ञान और विषय के सम्बन्ध में पूर्णतः समन्वित हो रही है। हमें "अयं घटः, अयं पटः" इस रूप से घट-पट की प्रतीति होती है। यह प्रतीति या ज्ञान कार्य हुआ तथा घट-पट आदि विषय कारण हुवे।

कार्य और कारण का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है, उसी प्रकार ज्ञान और विषय में भी अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध है, अर्थात् जहाँ विषय होगा वहाँ ज्ञान भी होगा, तथा जहाँ विषयाभाव होगा वहा ज्ञानाभाव भी। अतः वैशेषिक तथा न्याय प्रभृति दर्शनों में विषय की सत्ता को ज्ञान के पूर्व स्वीकार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन में ज्ञान के विषय को प्रमेयभूत पदार्थ कहा गया है। दूसरे शब्दों में पदार्थ (वस्तु) प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के विषय हैं—

प्रमितिविषयाः पदार्थाः,

शिवादित्य—सप्तपदार्थी

ये सब प्रमिति विषयी (भूत) पदार्थ ही अभिधा के विषय होने के नाते अभिधेय भी होते हैं। पदार्थ प्रमा या प्रमिति के विषय है, इससे सिद्ध होता है कि कोई भी वस्तु या पदार्थ ऐसा नहीं जिसका किसी शब्द के द्वारा निर्वचन न हो सके अर्थात् जिसका कोई नाम या संज्ञा न हो। अतः विश्व के सभी विषय पदार्थ संज्ञा से संज्ञित होते हैं। पदार्थों का किसी संज्ञा से संज्ञित होना अर्थात् अभिधेयत्व या प्रमेयत्व, ज्ञेयत्व एवं वाच्यत्व पदार्थसामान्य का लक्षण माना गया है :—

अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्—तर्कदीपिका

इस प्रकार कोई भी नामधारी वस्तु पदार्थ कहलाता है।

'पदस्य अर्थः पदार्थः' इस यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर ही पदार्थ शब्द निष्पन्न होता है। पद के अर्थ को पदार्थ कहते है। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय को अर्थ कहते हैं। विश्व के सभी विषय घट-पट आदि इन्द्रिय ग्राह्य हैं, अतः सभी अर्थ हैं। इस प्रकार कोई भी अर्थ जो संज्ञा से संज्ञित हो पदार्थ कहलाता है।

'पदार्थत्वं ज्ञेयत्वम्—सिद्धान्तचन्द्रोदय'

पदार्थ प्रमिति का विषय है अथवा पदार्थ ज्ञेय है। विश्व के जितने भी इन्द्रिय-ग्राह्य विषय हैं सबका कोई नाम है अर्थात् सभी विषय अभिधेय हैं तथा जो भी अभिधेय है वह प्रमेय है, जो भी प्रमेय है वह पदार्थ है। इस प्रकार पदार्थत्व की परिभाषा प्रमितिविषयत्व या प्रमेयत्व है। प्रमेय और अभिधेय समान हैं। अतः सभी पदार्थ प्रमेय हैं, अभिधेय हैं तथा सभी अभिधेय प्रमेय हैं, पदार्थ हैं।

पदार्थ का लक्षण—

"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि"

पदार्थधर्मसंग्रह—प्रशस्तपादाचार्य ।

अर्थात् पदार्थ के तीन लक्षण हैं—

(क) पदार्थ सत् हैं ।

(ख) पदार्थ ज्ञेय हैं ।

(ग) पदार्थ अभिधेय हैं ।

इन तीनों लक्षणों पर पृथक् २ विचार आवश्यक है ।

पदार्थ सत् (Existent) हैं । सत्ता किसी वस्तुके अस्तित्व (isness) को कहते हैं । प्रत्येक पदार्थ या वस्तु का अपना अस्तित्व है जिसके आधार पर उस वस्तु का दूसरे वस्तु से भेद सम्भव है । अतः सत्ता पदार्थों के पृथक् अस्तित्व का द्योतक है । यह सत्ता या अस्तित्व वस्तु विशेष का स्वरूप है—

'यस्य वस्तुनो यत् स्वरूपं तदेव तस्य अस्तित्वम्'

न. क. पृ. १६

साधारणतः हम सत्ता और अस्तित्व को पयार्यवाची समझते हैं; परन्तु वैशेषिक दर्शन में इनमें भेद स्वीकार किया गया है । सत्ता सामान्य है और अस्तित्व विशेष है । यहाँ सामान्य का अर्थ अधिक व्यापक नहीं क्योंकि अस्तित्व सत्ता की अपेक्षा अधिक व्यापक है । वैशेषिक दर्शन के अनुसार सत्ता केवल द्रव्य, गुण और कर्म में है । सत्ता सामान्य है जो विशेष पदार्थों में अर्थात् द्रव्य, गुण, कर्म में समवेत होकर रहता है । सामान्य और नित्य द्रव्य, जाति और व्यक्ति आदि में समवाय सम्बन्ध माना गया है । इसका विशेष विवेचन समवायनिरूपण में होगा । यहाँ इतना ही आवश्यक है कि जाति अनुगत प्रतीति का कारण है जो व्यक्ति विशेष में समवेत है । अस्तित्व 'किसी वस्तु का अपना स्वरूप है । यह सामान्य (सत्ता) की भाँति समवाय सम्बन्ध से नहीं स्थित रहता अपितु वस्तु का स्वरूप है जो पृथक् नहीं हो सकता । अतः अस्तित्व सत्ता की अपेक्षा अधिक व्यापक है । सत्ता में भी अस्तित्व है अन्यथा सत्ता भी विद्यमान नहीं प्रतीत होगी । सत्ता निःस्वरूप नहीं हो सकती—

नापि अस्तित्वं निःस्वरूपम्, सत्तायाः समवायाभावात्

न. क. पृ. १६.

इस प्रकार सत्ता सामान्य का द्योतक है तथा अस्तित्व स्वरूप का द्योतक है। अस्तित्व व्यापक है और सत्ता व्याप्य। यह व्याप्य-व्यापक भाव सत्ता को सामान्यरूप, अस्तित्व को पदार्थों का स्वरूप मानने पर ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा नहीं। यदि सत्ता को भी अस्तित्व रूप ही मान लिया जाय तब ये दोनों समनियत अर्थात् परस्पर में व्याप्य-व्यापक भाव से सम्पन्न हो जायेगें। सत्ता का व्याप्य अस्तित्व और अस्तित्व का व्याप्य सत्ता। पूर्वपक्ष में सत्ता व्यापक हो रही है और द्वितीय पक्ष में अस्तित्व व्यापक हो रहा है। इस प्रकार परस्पर में व्याप्य व्यापक भाव सम्पन्न हो रहा है। यही परस्पर का व्याप्य व्यापक भाव ही समनियत पद का अर्थ है। यद्यपि सत्ता को सामान्यरुपता-स्वीकार पक्ष में भी अस्तित्व के समनियत माना जा सकता है कारण कि वैशेषिकों ने अभाव को अंगीकार करने वाले किसी भी सूत्र का उल्लेख नहीं किया। उनके इस मतानुसार यदि छः भाव पदार्थों का अङ्गीकार ही श्रेयस्कर मान लिया जाय तो सत्ता सामान्य भी छः भाव पदार्थों में रहती है, क्योंकि समवाय सम्बन्ध से सत्ता प्रारंभिक द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों में रहती है और एकार्थसमवायसम्बन्ध से सत्ता सामान्य-विशेष-समवाय इन अन्तिम तीन पदार्थों में रहती है। इस प्रकार छः भाव[1] पदार्थों में सत्ता है और इन्हीं छः पदार्थों में अस्तित्व भी है। अभाव नामक कोइ पदार्थ नहीं।

ज्ञेय तथा अभिधेय—ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व एवं अस्तित्व पदार्थत्व ये सब समान धर्म हैं। ज्ञेयत्व का अर्थ है ज्ञानयोग्यता। विश्व के सभी विषय घट-पट आदि जिनका अस्तित्व है ज्ञेय अर्थात् ज्ञानयोग्य हैं। ज्ञान वस्तु का जनक नहीं प्रकाशक है। ज्ञान विषयों का प्रकाश करता है। इससे सिद्ध होता है कि विषयों में प्रकाशित होने की क्षमता विद्यमान है। अतः अज्ञेय विषय की सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती है। जिसका अस्तित्व है वह सत् है, जो सत् है वह ज्ञेय है, जो ज्ञेय हैं वह अभिधेय है।

वस्तुतः ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व सत्ता की अपेक्षा पृथक् लक्षण नहीं स्वीकार किये जा सकते, क्योंकि ये पदार्थ धर्म के विषय में अतिरिक्त लक्षण का प्रतिपादन नहीं करते वरन् सत्ता के ही अर्न्तर्निहित गुणों का प्रकाश करते हैं। अस्तित्वरूप सत्ता और वाच्यत्व, प्रमेयत्व, अभिधेयत्व एवं पदार्थत्व में सामानाधिकरण्य सम्बन्ध

---

१. देखो सिद्धान्तलक्षण पं. शिवदत्त मिश्र की गंगा टीका

को स्वीकार किया जा सकता है। किसी वस्तु की सत्ता तथा उसकी ज्ञेयता आदि उस वस्तु के पृथक् धर्म नहीं माने जा सकते हैं क्योंकि ये सब वस्तुओं के स्वरूप हैं—

'अभिधेयत्वमपि'......वस्तुनः स्वरूप मेव
भावस्वरूपमेवावस्थाभेदेन ज्ञेयत्व—मभिधेयत्वं चोच्यते'

न. क. पृ. १६.

अतः सत्ता, ज्ञेयत्व और अभिधेयत्व इनमें से किसी एक से पदार्थ का धर्म निरुपण हो सकता है। इसे प्रायः वैशेषिक दार्शनिक स्वीकार करते हैं। श्री उदयनाचार्य के अनुसार जहां भी सत्ता है वहाँ अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व अवश्य है—

'अभिधेयाः पदार्थाः'—लक्षणावली पृ. १

श्री अन्नंभट्ट ने वताया कि अभिधेयत्व पदार्थ सामान्य का लक्षण है—

'अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्'

—तर्क दीपिका पृ. २

श्री शिवादित्य के अनुसार पदार्थ प्रमा के विषय हैं।

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में पदार्थ सामान्य के तीन लक्षण तथा एक लक्षण दोनों का प्रतिपादन मिलता है। परन्तु सरलतया बोध के लिये तीनों लक्षण आवश्यक प्रतीत होते हैं। भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने सम्भवतः इसी दृष्टि से तीनों लक्षणों का प्रतिपादन किया है। सत्ता पदार्थ की वास्तविक स्थिति, अस्तित्व, स्वरूप का परिचायक है। वस्तु की सत्ता वास्तविक है काल्पनिक नहीं। यह मत योगाचार विज्ञानवादी बौद्ध के बिल्कुल विपरीत है। विज्ञानवाद विज्ञान के अतिरिक्त वस्तु की सत्ता नहीं स्वीकार करता। दूसरे लक्षण 'ज्ञेयत्व' के द्वारा वैशेषिक दर्शन अज्ञेयवाद (Agnosticism) का परिहार करता है। तत्व अज्ञेय नहीं ज्ञेय हैं। सत्ता का स्वरूप इन्द्रिय-ग्राह्य है। अर्थात् सत्ता बोध-गम्य है। तीसरा लक्षण 'अभिधेयत्व' भी सप्रयोजन है। पदार्थ-ज्ञान व्यक्तिगत नहीं सार्वजनीन है। बोध की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। अभिव्यक्ति के माध्यम से हमारा ज्ञान व्यक्ति की परिधि को पारकर सामान्य ज्ञान का रूप ले लेता है। अतः पदार्थ का बोध सर्वगत सामान्य बोध हो सकता है।

पदार्थों के सामान्य लक्षण पर विचार करने से पता चलता है कि वैशेषिक के पदार्थ तार्किक (Logical) ही नहीं तात्विक (ontological) भी हैं।

पदार्थ की धारणा तो प्राच्य एवं पाश्चात्य अनेक दर्शनों में पायी जाती है परन्तु पदार्थों का तात्विक स्वरूप वैशेषिक की देन है। पाश्चात्य दार्शनिक कांट (Kant) के दर्शन में पदार्थ केवल तार्किक हैं क्योंकि वे शुद्ध बुद्धि की देन हैं, उनका अस्तित्व बुद्धि के नियमों पर आधारित है। वैशेषिक में पदार्थ तात्विक भी हैं अर्थात् तत्व के निर्णायक भी हैं। छः भाव पदार्थों में ही सम्पूर्ण विश्व की सत्ता समाहित है, इनके अतिरिक्त कोई तत्व नहीं। इस प्रकार के सत्ता मूलक पदार्थ की धारणा कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती।

पदार्थ सामान्य के निरूपण में जगदीशतर्कालङ्कार का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही है। उनका कहना है कि—श्रवण-मनन-निदिध्यासन तत्वज्ञान के जनक हैं। जो व्यक्ति आत्मा का श्रवण कर चुका है उसी का मनन में भी अधिकार है। मनन आत्मा के इतर भेदानुमान को कहते हैं। आत्मा शरीर-इन्द्रिय आदि समस्त अनात्म-पदार्थों से भिन्न है इस प्रकार के तत्व ज्ञान को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति रूप मोक्ष की प्राप्ति में कारण माना है, और वह तत्वज्ञान उन शरीर-इन्द्रिय आदि समस्त अनात्मपदार्थों के ज्ञान के बिना कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान के बिना नहीं होता है। जैसे घटात्मकप्रतियोगी के ज्ञान के बिना घटाभाव का ज्ञान सर्वथा असंभव है। उसी प्रकार आत्मा का इतर भेदानुमानरूप मननात्मक तत्वज्ञान भी इतरभेद का प्रतियोगी जो "इतर" उसके ज्ञान से साध्य है। उस इतर ज्ञान के विषयीभूत इतर (पदार्थ) कितने हैं उसी के लिये पदार्थ निरूपण सर्वथा आवश्यक है। कहा भी है—

"मननञ्च आत्मन इतरभिन्नत्वेनानुमानम्,

तच्च भेदप्रतियोगीतरज्ञानसाध्यम्, तथा चेतरदेव कियत् ?
इत्येतदर्थं पदार्थनिरूपणम्"। तर्कामृत—ज्वा० प्र० की टीका पृ० २

पदार्थों के भेद

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने मोक्षप्राप्ति सूचक चौथे सूत्र के द्वारा छः ही पदार्थों का प्रदर्शन किया है।

"धर्मविशेषप्रसूताद्द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

वे छः पदार्थ निम्नलिखित हैं—

(१) द्रव्य,
(२) गुण,
(३) कर्म,
(४) सामान्य,
(५) विशेष,
(६) समवाय,

इन छः पदार्थों में द्रव्य वह है जिसमें इतर पांचों पदार्थ रहते हों। वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य की परिभाषा है 'गुण[१]–कर्म[२]–सामान्य–[३]–विशेष[४]–समवाय[५] इन पाँच पदार्थों का आधार भूत पदार्थ ही द्रव्य है।'

और जो पदार्थ द्रव्य के आश्रित होता हुआ स्वयं निर्गुण तथा निष्क्रिय हो उसे "गुण" कहते हैं।

एवं जो पदार्थ द्रव्य के आश्रित होता हुआ स्वयं निर्गुण और संयोग-विभाग का निरपेक्ष कारण हो उसे कर्म कहते हैं।

सामान्य वह है जो समानरूप से बहुत से वस्तुओं में रहता हो। जैसे द्रव्य में द्रव्यत्व, गुणों में गुणत्व, कर्मों में कर्मत्व तथा अनुगतप्रतीति का कारण भी हो।

विशेष पदार्थ की परिभाषा वैशेषिक दार्शनिकों ने इस प्रकार की है 'जो पदार्थ स्वयं स्वतः व्यावृत्त होता हुआ किसी व्यक्ति विशेष को अन्य समस्त व्यक्तियों से भिन्न सिद्ध करता हो वही—"विशेष" पदार्थ है'।

समवाय उस पदार्थ को कहते हैं जो उपरोक्त समस्त भाव पदार्थ द्रव्य के अन्दर जिस सम्बन्ध से रहते हों, उसी की दूसरी परिभाषा यह भी है कि—जो दो वस्तुओं में अविचलरूप से रहता हुआ सर्वथा अविच्छिन्न हो वही—"समवाय" है।

इन छहो पदार्थों के विस्तृत और विशद स्वरूप एवं परिभाषा का विवेचन आगे प्रत्येक पदार्थ के निरूपण के अवसर पर हम करेगें।

कणाद ने "अभाव" को भी पदार्थ माना है। वे अभाव को पदार्थ मानने में यह युक्ति देते हैं कि जैसे किसी स्थान परचैत्रो के रहने पर "चैत्रोऽस्ति" यहाँ चैत्र है ऐसी प्रतीति होती है, वैसे ही जहाँ चैत्र नहीं है वहाँ "चैत्रो नास्ति" यह

प्रतीति होती है अर्थात् यहाँ चैत्र नहीं है, यह "नास्ति" शब्द से बोध्य सातवां पदार्थ "अभाव" है। अन्यथा 'नास्ति' शब्द से बोध्य कौन पदार्थ होगा ?

यहाँ प्रश्न होता है कि कणाद ने पहले ही चतुर्थ सूत्र के द्वारा सातवें पदार्थ अभाव का भी उल्लेख क्यों नहीं कर दिया, इतना दृढ़ प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या थी ?

इस प्रश्न का उत्तर उनके अनुयायी लोगों ने यही दिया कि प्रशस्तपादाचार्य के कथनानुसार छः पदार्थों का अस्तित्व-अभिधेयत्व-ज्ञेयत्व ये तीन समान लक्षण किये गये हैं। उन्होंने "अस्तित्व" इस लक्षण के आधार पर इस लक्षण का लक्ष्य छः ही पदार्थों को समझा। उनका अभिप्राय यह था कि 'अभाव की तो "नास्ति" शब्द से प्रतीति है अतः अभाव नास्तित्वेन बोध्य है और 'अस्ति' शब्द से केवल छः ही पदार्थों की प्रतीति होती है,

"षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि" पदार्थधर्मसंग्रह

इसलिये छः ही पदार्थों का 'अस्तित्व' यह लक्षण सम्पन्न हो सकता है। परन्तु महर्षि कणाद का हार्दिक अभिप्राय यही है कि 'अभाव' की भी छः भाव पदार्थों के समान अस्तित्वेन अर्थात् अस्तित्व रूप से प्रतीति होती है। 'अत्र घटो-नास्ति' अर्थात् यहाँ घट नहीं है अथवा 'अत्र घटाऽभावो अस्ति' अर्थात् यहाँ घट का अभाव है, दोनों समान है। अतः अभाव की जैसे 'नास्ति' शब्द से प्रतीति होती है वैसे ही 'अस्ति' शब्द से होती है। इसलिये 'अस्तित्व' इस लक्षण के लक्ष्य जैसे छः भाव पदार्थ है वैसे ही अभाव भी है।

महर्षि कणाद ने 'अभाव' को पदार्थ नहीं माना इस आक्षेप का परिहार प्रकारान्तर से भी करते हैं। परिहार के लिये पाँच सूत्र हैं—

(१) 'क्रियागुणव्यपदेशाऽभावात् प्रागसत्'। ९–१–१

अर्थात् घट-पट आदि कार्य द्रव्य यदि अपनी उत्पत्ति के पूर्व काल में विद्यमान होते तो उनमें रहने-वाले गुण-कर्म आदि पदार्थों का अवश्य व्यवहार होता, परन्तु उत्पत्ति के पूर्व गुण और क्रिया का व्यवहार नहीं होता है इससे सिद्ध है कि उत्पत्ति के पूर्व घट आदि कार्य का अभाव है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि महर्षि ने अभाव का अङ्गीकार किया।

(२) 'सदसत्'—९–१–२

घटात्यक कार्य द्रव्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मिट्टी के रूप से रहते हुवे भी कार्यरूप से उसका अभाव ही रहता है।

(३) 'असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ।' ६–१–३

उत्पत्ति के पूर्व अविद्यमान कार्य द्रव्यों में क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से उनके 'अभाव का निश्चय किया जाता है, जो भाव पदार्थों से भिन्न है। इससे अभाव' का पदार्थत्व सिद्ध हैं।

(४) 'सच्चासत्'—६–१–४

जो कार्य द्रव्य आँखों से प्रत्यक्ष देखने में आता है उसे विनष्ट होता हुवा भी हम देखते हैं। वही विनाश उसका अभाव है।

(५) 'यच्चान्यदसतस्तदसत्'—६–१–५

पूर्वोक्त तीन प्रकार के 'अभाव' से भिन्न जो है वह अभाव ही है, उसका नाम अत्यन्ताभाव है।

इनमें पहला प्रागभाव, दूसरा ध्वंस, तीसरा अत्यन्ताभाव, चौथा अन्योन्याभाव और पाँचवा पुनः अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार अभाव को पदार्थत्व का स्वीकार महर्षि ने किया है।

दूसरी बात यह भी है कि सूत्र में जो छः भावभूत पदार्थों का परिगणन किया गया है वह एकमात्र तत्वज्ञान के उपयोगी पदार्थों का ही। अभाव पदार्थ होते हुए भी तत्वज्ञान का उपयोगी नहीं है, इसीलिये सूत्र में इसका उल्लेख नहीं है। परन्तु कणाद को द्रव्य से लेकर अभाव पर्यन्त सात पदार्थ अभीष्ट हैं। भाष्यकार प्रशस्तपाद का भी उद्देश्य था कि चराचर विश्व में जितनी भी वस्तु हैं वे सब सात पदार्थों में ही समाविष्ट हो जांय। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के अन्य आचार्य उदयनाचार्य प्रभृति का भी यही दृष्टि कोण है। उन सबों का यही कहना है कि संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो हमारे अभिमत द्रव्य आदि सात पदार्थों में अन्तर्भूत न हो।

वैसे तो पदार्थों की संख्या का कोई भी अन्त नहीं है, उनका परिगणन सर्वथा अशक्य है। उदाहरणार्थ जैसे—सर्वप्रथम पदार्थ द्रव्य है, और वह द्रव्य नौ प्रकार का है, पृथिवी-जल आदि भेद से। पृथ्वी तीन प्रकार की है शरीर इन्द्रिय-विषय भेद से। इनमें पार्थिवशरीर भी अनन्त-पार्थिव इन्द्रिय (घ्राण

इन्द्रिय) भी अनन्त-और विषय घट-पट-मठ-चट आदि भी अनन्त । इन सबकी संख्या का कोई अन्त नहीं है कोई पारावार नहीं । इसी प्रकार जलभी सामान्यतः तीन प्रकार का है शरीर-इन्द्रिय-विषय भेद से । वरुणलोक में रहने वाले प्राणियों के जलीय शरीर भी अनन्त है उनकी जलीय इन्द्रियां (रसन इन्द्रियां) भी अनन्त हैं, और जलीय विषय अर्थात् विषयरूप जल भी अनन्त हैं—जैसे गंगा का जल । गंगाओं में भी भागीरथी गंगा, हेमगंगा, वारागंगा आदि भेद से बहुत भेद हैं । इसके अतिरिक्त सरयू का जल, वरुणा का जल, यमुना का जल, तालाब का अल, कूप का जल आदि रूप से जल भी अनन्त हैं । इसी प्रकार अन्यत्र सर्वत्र पदार्थों का आनन्त्य स्वयं समझ लेना चाहिये ।

इसी प्रकार गुण-कर्म-सामान्य आदि अन्य पदार्थो का भी अवान्तर भेद प्रयुक्त आनन्त्य स्वयं जान लेना परमावश्यक है। जैसे—गुणों में रूप भी अनन्त हैं, रस भी अनन्त हैं, गन्ध भी अनन्त हैं, इत्यादि रूप से पदार्थों का आनन्त्य सुस्पष्ट है ।

परन्तु अनुकम्पा की दृष्टि से हमारे महर्षि कणाद ने उन समस्त अनन्त पदार्थों के संक्षिप्त सातरूप हमारे सामने रख दिये हैं, जिनके आधार पर हम उनके और समस्त अवान्तररूपों का परिचय प्राप्त कर सकते हैं ।

महर्षि गौतम ने १६ पदार्थों का अङ्गीकार किया है जिनका समावेश एवं अन्तर्भाव इन्हीं सात पदार्थों में हो जाता है ।

महामुनि कपिल ने पंचविंशति पदार्थ तत्वों का स्वीकार किया है उनका भी समावेश इन्हीं सात पदार्थों में अपनी बुद्धि के वैशद्य के आधार पर कर लेना चाहिये । एवं साहित्यिक लोगों ने "सादृश्य" एक अतिरिक्त पदार्थ मानकर पदार्थों की संख्या आठ मानी है । परन्तु उस सादृश्य का भी अन्तर्भाव इन्हीं सातों में विश्वनाथ पंचानन प्रभृति विद्वानों ने कर दिया है ।

इसी प्रकार प्रभाकर प्रभृति मीमांसकों ने शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ माना है और अभाव को अधिकरणस्वरूप मानकर उसके पदार्थत्व का खण्डन किया है । परन्तु कणाद मतानुयायी विद्वानों ने अभाव की अधिकरणरूपता का खण्डन करके शक्ति के अतिरिक्त पदार्थत्व का भी खण्डन कर दिया, और उन्हीं द्रव्य आदि सात पदार्थों का स्थिरीकरण कर दिया ।

भूषणकार ने कर्म को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना, उन्होंने कर्म का संयोग में अन्तर्भाव बताया है। परन्तु कणादमतानुयायी विद्वानों ने इसका भी खण्डन किया है और कर्म को गुण आदि के समान अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध किया है तथा संख्या में न्यूनाधिक्य नहीं स्वीकार किया है।

इसी प्रकार बौद्धाचार्य विद्वानों ने सामान्य विशेष समवाय इन तीन पदार्थो का अनङ्गीकार करते हुवे चार ही द्रव्य आदि पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार किया, परन्तु कणादमतानुयायी लोगों ने इसका भी खण्डन कर उन्हीं सात पदार्थों के स्वीकार की व्यवस्था की।

इसके अतिरिक्त जगदीशतर्कालङ्कार ने तो दो ही पदार्थो को संक्षेपतः स्वीकार किया।

"संक्षेपतः पदार्थो द्विविधः—भावोऽभावश्च" इत्यादि रूप से पदार्थों का द्वैविध्य ही साक्षात् स्वीकार किया है।

श्री कुमारिल भट्ट ने भी श्री जगदीशतर्कालंकार के समान साधारणतया पदार्थों की संख्या दो ही स्वीकार किया है—भाव और अभाव। जगदीश तर्कालंकार ने भावभूत पदार्थों के छः भेद स्वीकार किये है परन्तु कुमारिलभट्ट ने भाव पदार्थो के चार भेद स्वीकार किये हैं—द्रव्यः गुण, कर्म और सामान्य। 'अभाव' को भी मीमांसक मानते है अतः मीमांसकों के अनुसार पदार्थ पाँच हैं। (भाट्ट मत से)। प्रभाकर पदार्थों की संख्या आठ मानते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का स्वरूप निर्वचन तो वैशेषिकों के समान ही है परन्तु अन्य पदार्थो में मतभेद है जैसे, घटत्व, पटत्व आदि सामान्य की सत्ता वैशेषिकों ने व्यक्तियों की सत्ता से भिन्न माना है, परन्तु प्रभाकर अभिन्न मानते हैं।

श्री मुरारी मिश्र मीमांसक की धारणा कुमारिल तथा प्रभाकर दोनों से भिन्न है। उनके अनुसार समस्त विश्व में केवल ब्रह्म ही एक पारमार्थिक पदार्थ है, अन्य चार पदार्थ लौकिक व्यवहारोपपत्ति के लिये है :—

(१) धर्म विशेष (२) धर्मि विशेष

(३) आधार विशेष (४) प्रदेश विशेष

धर्म विशेष नियत आधेय वाले पदार्थ है, जैसे, घट का आधेय घटत्व होता है, यद्यपि घट के आधेयभूत पदार्थ अनेक हो सकते है परन्तु मुरारी मिश्र के अनुसार घट-घटत्व के आधाराधेय पक्ष में घटत्व ही आधेय हो सकता है।

धर्मिविशेष—नियत आधार वाले पदार्थ को कहते है, जैसे घटत्व का आश्रय या आधार घट है। आधार विशेष-अनियत आधार वाले पदार्थ को कहते है, जैसे, घट, पट आदि पदार्थों का आधार कभी यह काल है तो कभी वह काल है। 'इदानीं घटः' यह कहने से वर्तमान काल घट का आधार माना जायेगा, 'तदानीं घटः' कहने से अतीत काल ही आधार होगा। अतः यह कोई नियम नहीं कि घट का आधारभूत काल सर्वदा वर्तमान काल ही हो।

प्रदेश-विशेष—अनियत आधारभूत देश विशेष वाले पदार्थ कहलाते हैं, जैसे, 'पर्वते वन्हिः' 'महानसे वन्हिः' आदि वाक्यों से प्रतीत होता है कि वन्हि का आधार कोई एक विशेष प्रदेश नहीं है।

इस प्रकार सांख्य, वेदान्त, मीमांसा, बौद्ध, जैन, न्याय वैशेषिक आदि सभी दर्शनों में पदार्थों की संख्या को लेकर मतभेद है, परन्तु वैशेषिक दार्शनिकों ने उस मतभेद को समाप्त किया तथा सबका सात पदार्थों में ही अन्तर्भाव कर दिया। जैसे—अन्नंभट्ट ने कहा भी है—

सर्वेषामपि पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्
सप्तैव पदार्था इति सिद्धम् ॥ तर्कसंग्रह

वैशेषिकदर्शन के एक आचार्य श्री शिवादित्य भी

"प्रमितिविषयाः पदार्थाः"

इसरूप से 'पदार्थ' की परिभाषा करते हुए अपने ग्रन्थ का सप्तपदार्थी यही नाम करण ही कर दिया, जैसे एक कट्टर भगवान् शङ्कर के भक्त ने "विष्णु र्विचक्रमें" इत्यादि वेदमन्त्र में से विष्णु शब्द को काटकर वहाँ "शंभुर्विचक्र मे" ऐसा कर दिया था।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि अभाव के समावेश से वैशेषिक के पदार्थ दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते है। भाव (Being) तथा अभाव (Non-Being) यद्यपि यह द्वैविध्य विभाजन कणाद तथा प्रशस्तपाद को अभीष्ट नहीं था परन्तु वाद के वैशेषिक दार्शनिकों ने इसे स्वीकार कर लिया और तदनन्तर वैशेषिक दर्शन सप्तपदार्थी कहलाने लगा। सम्पूर्ण पदार्थों का द्वैविध्य विभाजन विवाद का विषय बन गया। वेदान्ती श्रीधराचार्य एवं चित्सुखाचार्य आदि ने इस द्वैविध्य विभाजन पर बड़े सूक्ष्म आक्षेय किये हैं तथा उन

आक्षेपों के उत्तर भी वैशेषिक दार्शनिक बड़े मार्मिक ढंग से दिये हैं। संक्षेपतः आक्षेप और उत्तर की चर्चा मैं यहाँ करूँगा।

प्रश्न यह है कि 'भाव' क्या है ? भाव को हम किसी वस्तु की 'स्वरूप-सत्ता' कह सकते है। अतः भावत्व 'स्वरूप सत्त्व' हुआ। परन्तु यह परिभाषा भ्रमात्मक है, कारण कि अभाव का भी स्वरूप सत्त्व होता है अर्थात् जैसे भाव पदार्थ का स्वरूप सत्त्व लक्षण है। वैसे अभाव पदार्थ का भी स्वरूप सत्त्व लक्षण है। इसके अतिरिक्त स्वरूप सत्त्व तो विभिन्न व्यक्तिगत पदार्थों का आत्मगत लक्षण है। यह सामान्य परिभाषा नहीं हो सकती। हमें तो 'भाव का ऐसा लक्षण करना चाहिये जिसमें छः भाव पदार्थों का समावेश हो जाय अर्थात् सभी भाव पदार्थ लक्षित हो जाय। अतः श्री हर्ष खंडन खंड खाद्य पृ. १०४३ में कहते हैं कि स्वरूप सत्त्व भाव पदार्थों का लक्षण करने में सर्वथा असमर्थ हैं।

पुनश्च भावत्व अस्तित्व रूप है अर्थात् अस्तित्वेन भावपदार्थों का बोध होता है—

अस्तीति प्रत्ययविषयत्वम्-चित्सुखी २७४ तो भी चित्सुखाचार्य के अनुसार इसमें अतिव्याप्ति दोष है क्योंकि इससे अभाव का भी बोध होगा 'इह घटा-भावोस्ति' अर्थात् यहाँ घट का अभाव है, इस वाक्य में है (अस्ति') अभाव को बतला रहा है। अतः 'अस्ति' पद से केवल भाव का ही बोध नहीं होता वरन् अभाव का भी।

पुनः श्री हर्ष ने एक और परिभाषा पर विचार किया। भाव वह है—जो किसी दूसरे का अभाव न हो अपर प्रतिषेधात्मकत्वं भावत्वम्,

खं. खं. खा. पृ. १०४६

यह भी परिभाषा दोष पूर्ण है। यह परिभाषा तो भाव तथा अभाव दोनों के लिये है। भाव वह है जो अभाव नहीं और अभाव वह है जो भाव नहीं। यहाँ भाव की परिभाषा अभाव को तथा अभाव की भाव को समाहित कर लेती है परन्तु भाव और अभाव दोनों विरोधी पद हैं।

नैयायिक इसका समाधान करते हुए करते हुए कहते हैं कि ये आक्षेप केवल वितण्डामात्र है। न्याय वैषषिक दर्शन अनुभववादी है। हमारा अनुभव ही ज्ञान का जनक तथा मापक दोनों है। नैयायिक श्री वाचस्पति मिश्र का कहना है कि

अनुभव ही वस्तु ज्ञान का मापदण्ड है—'संवित् एव हि भगवति-वस्तूपगमे नः शरणम्'

अनुभव का अपलाप नैयायिक को अभीष्ट नहीं। भाव और अभाव की समस्या को सुलझाने के लिये अनुभूति का ही वे सहारा लेते हैं। उनके मतानुसार 'अभाव' भाव का निषेध रूप से उपलब्ध होता है, परन्तु 'भाव' अभाव का निषेध (जैसा उपर आलोचना में कहा जाता है) नहीं। अतः अनुभव के अनुसार भाव तथा अभाव दोनों भिन्न है। तार्किकदृष्टि से भाव को शत प्रतिशत अभाव का निषेध कहा जा सकता है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हमें ऐसा अनुभव नहीं होता अर्थात् हम किसी भी भाव को अभाव के निषेध रूप से नहीं जानते। सभी लोग घट-पट आदि भावभूत पदार्थों को 'अयं घटः' 'अत्र घटोऽस्ति' 'अयं पटः' 'अत्र पटोऽस्ति' इत्यादि रुप से ही संवेदन का विषय कर पाते हैं, न कि 'अत्र घटाभावो नास्ति' अथवा 'अयं घटाभावस्याऽभावः' इत्यादि रूप से।

भाव तथा अभाव दोनों की तार्किक परिभाषा तथा आक्षेपों का उल्लेख हमने ऊपर किया है, इनसे स्पष्टतः प्रतीत होता कि तार्किक दृष्टि पूर्ण परिभाषा सर्वांशतः असम्भव है, यदि कहीं अंशतः सम्भव है तो नैयायिकों तथा वैशेषिकों के यहाँ हो। उन्होंने "सत्ताविशिष्टान्यत्व" रूप से अभाव की परिभाषा की है। (अभाव निरूपण आगे प्रकरण में हम इसका विशद् विवेचन करेंगे।) इसका अर्थ यह नहीं कि भाव तथा अभाव अनिर्वचनीय हैं। सर्वमान्य परिभाषा के अभाव में उनकी वास्तविक स्थिति का निषेध नहीं होता।

दोनों के अस्तित्व की पृथक २ अनुभूति होती है। हमें प्रतीत होता है कि भाव की प्रतीति अभाव से भिन्न है। हमें भाव पदार्थ का सद्यः अस्तित्व रूप में बोध होता है जैसे अमुक पदार्थ विद्यमान है। इसी प्रकार अभाव भी सद्यः अनुभूति का विषय है। हमें किसी स्थान में घट के अस्तित्व का अनुभव होता है तब हम कहते हैं यहाँ घट है; हमें घट के अस्तित्व का अभाव प्रतीत होता है तो हम कहते हैं कि 'यहाँ घट नहीं हैं। अतः भाव तथा अभाव दोनों का बोध हमें अनुभव से ही होता है। दोनों से रहित अनुभव असम्भव है अर्थात् यह सम्भव नहीं कि घट का अनुभव भाव तथा अभाव से रहित हो। अतः भाव तथा अभाव की अनिर्वचनीयता से उसकी वास्तविक अनुभूयमान स्थिति का अपलाप असम्भव है—

अनिर्वाच्यमप्यनुभूयमानमशक्यापन्हवम् न्य० वा. . ता. टी.

वैशेषिक के अनुसार पदार्थों का वर्गीकरण—

—: * :—
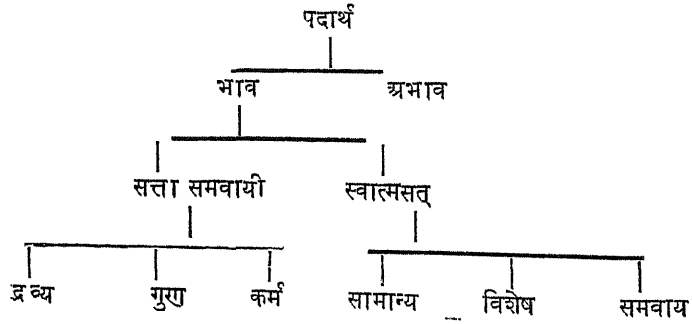
द्वितीय अध्याय

द्रव्यस्वरूप

सात पदार्थों में सर्व प्रथम पदार्थ द्रव्य को ही माना गया है। वैशेषिक दर्शन में इसी का सर्व प्राथम्य है। इसकी प्राथमिकता का कारण यह है कि अन्य सभी पदार्थों का यह आधारभूत पदार्थ है। वैसे गुण-कर्म आदि पदार्थों का भी अपना अपना अस्तित्व है, परन्तु द्रव्य सबका सामान्यतः आधारभूत है, इसीलिये महर्षि ने द्रव्य ही पर सर्व प्रथम विचार किया। द्रव्यों में भी जिन द्रव्यों की सत्ता हमें दृष्टिगोचर नहीं होती वे द्रव्य अनुमेय माने गये हैं। उन द्रव्यों में रहने वाले गुण तथा क्रिया आदि की उपलब्धि के आधार पर उनके आश्रयभूत द्रव्यों का हम अनुमान कर लेते हैं; क्योंकि द्रव्यों में कोई न कोई गुण अवश्य ही रहता है, जैसे घड़ा द्रव्य है, क्योंकि उसमें नीलरूप अथवा रक्तरूप आदि कोई न कोई रूप अवश्य रहता है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं जिसमें कोई न कोई गुण न रहता हो। कुछ दार्शनिक विद्वानों का यह भी कहना है जिसमें चलनात्मक क्रिया रहती हो वही द्रव्य है। जैसे वृक्ष आदि के अन्दर चलनात्मक क्रिया है। अतः वह द्रव्य है, परन्तु यह व्यापक द्रव्यों के अन्दर समन्वित नहीं हो पा रहा है, कारण वे सब निष्क्रिय द्रव्य हैं। पृथिवी-जल-तेज और वायु तथा मन ये पाँच द्रव्य ही सक्रिय माने गये हैं। आकाश आदि चार द्रव्य निष्क्रिय हैं।

कुछ विद्वान् दार्शनिक शक्ति एवं सादृश्य को तथा शक्ति वाले और सादृश्य वाले पदार्थों को द्रव्य मानते हैं। उसी प्रकार अन्य दार्शनिकों ने गुण एव गुण वाले पदार्थों को भी द्रव्य माना है। उनका कहना है कि जब "क्रियावद् द्रव्यम्" अर्थात् जो क्रिया वाला हो वह द्रव्य होता है ऐसा द्रव्य का लक्षण किया गया है तब वह लक्षण जैसे गुणवाले पदार्थ घट पट आदि द्रव्यों में समन्वित हो रहा है, क्योंकि गुणवाले पदार्थ घट-पट आदि द्रव्य चलनात्मक क्रिया वाले देखने में आते हैं; वैसे ही उन गुण वाले द्रव्यों के साथ २ उन द्रव्यों के अन्दर रहने वाले रूप आदि गुण भी चलते हैं अतः वे भी चलनात्मक क्रिया वाले हैं तब फिर उन्हें द्रव्य क्यों न माना जाय ? इसका उत्तर नैयायिक प्रभृति दार्शनिक देते हैं कि न केवल "क्रियावद्

द्रव्यम्" यह द्रव्य का लक्षण है अपितु "गुण क्रियोभयवद् द्रव्यम्" अथवा "गुण-वत्त्वे सति क्रियावत्त्वम्" अर्थात् जो गुण क्रिया उभयवाला हो: वही द्रव्य होता है, अथवा जो गुणवाला होता हुआ क्रियावाला भी हो उसे द्रव्य कहते हैं। इससे रूप आदि गुणों को द्रव्य नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि पूर्वोक्त तर्क एवं लौकिक व्यवहार के आधार पर उसे क्रिया वाला मान भी लिया जाय, फिर भी गुण को गुणवाला तो किसी भी आधार पर नहीं माना जा सकता है। इसके लिये विरोधी नियम भी है "गुणे गुणानङ्गीकारात्" अतः गुण को द्रव्य कहना सर्वथा भ्रम या भूल है।

दूसरी बात यह भी है कि कोई भी अभ्रान्त व्यक्ति यह कहते नहीं देखा जाता है कि घट पट आदि द्रव्य स्वयं रूप हैं अपितु वे रूपवाले हैं ऐसा अवश्य कहते देखे जाते हैं; अथवा अमुक घट का रूप लाल है इत्यादि। अतः इन सब लौकिक व्यवहारों एवं पुष्ट प्रमाणों के आधार पर गुणी को ही द्रव्य माना जा सकता है न कि गुण को भी।

इसी लिये कणाद ने द्रव्य का स्वरूप सब से विलक्षण ही किया है। उनका कहना है कि न तो केवल क्रियावाला ही द्रव्य होता है, और न केवल गुणवाला अपितु जो क्रिया और गुण वाला होता हुआ समवायिकारण हो उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे कहा भी है—

"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य लक्षणम्"

वै. सू. १।१।५।

यहाँ "वत्" शब्द का अर्थ समवाय सम्बन्ध से आश्रय, अतः फलित अर्थ यह हुआ कि गुण तथा क्रिया जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हों तथा समवायि-कारण भी हो वही द्रव्य कहलाता है।

अब यहाँ विचारणीय यह है कि द्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथमक्षण में निर्गुण तथा निष्क्रिय होता है "उत्पन्नं द्रव्यं क्षणममगुणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति"

तर्कभाषा

ऐसी परिस्थिति में पूर्वोक्त द्रव्य की यह परिभाषा प्रथमक्षण में उत्पन्न द्रव्य में संघटित न होने के नाते वहाँ अव्याप्त हो रही है, तब उसे द्रव्य कैसे कहा जाय ?

इसका उत्तर वैशेषिक दार्शनिक यही देते हैं कि प्रथमक्षण में भले ही द्रव्य

गुण तथा क्रिया वाला न हो, परन्तु दूसरे क्षण में तो गुण और क्रिया वाला रहता ही है। दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य के अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ गुण तथा कर्म वाला होता ही नहीं है। गुण एवं क्रिया वाला जब भी होगा तब द्रव्य ही। अतः—"क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम्" यह द्रव्य का लक्षण जब भी जायगा तो द्रव्य ही में।

अब यहाँ पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि द्रव्य को प्रथमक्षण में अर्थात् उसकी उत्पत्ति के क्षण में निर्गुण तथा निष्क्रिय क्यों माना जाता है? इसका उत्तर नैयायिक तथा वैशेषिकों ने दिया कि—कार्यकारणभाव की उपपत्ति के लिये। अर्थात् यदि द्रव्य की उत्पत्ति के समय में ही द्रव्य में गुण और क्रिया मान लेते हैं तो "किं कस्य कारणम्" अर्थात् किसको किसका कारण माना जाय? यह एक प्रश्न उपस्थित हो जायेगा। द्रव्य का और गुण कर्म का कार्यकारणभाव ही समाप्त हो जायगा, इसी लिये द्रव्य को गुण-कर्म का समवायिकारण माना गया है। अतः सिद्ध है कि गुण और कर्म द्रव्य के कार्य हैं। कार्य और कारण का नियम है कि—कार्य अपने कारण के उत्तरवर्त्ती होता है, और कारण हमेशा नियम से अपने कार्य के पूर्ववर्त्ती होता है। अब यदि दोनों को समानकालवर्त्ती (समानकाल में रहने वाला) मान लिया जाता है तो "सव्येतर विषाणवत्" इनका कार्यकारणभाव सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा। इसीलिये हमारे नैयायिक दार्शनिकों ने यह नियम बना दिया कि—

"उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमगुणं क्षणं निष्क्रियञ्च तिष्ठति"

अर्थात् अपने उत्पत्तिक्षण में द्रव्य निर्गुण और निष्क्रिय रहता है। तब दूसरे क्षण में वह गुण एवं क्रिया वाला हो पाता है। इससे द्रव्य गुण और क्रिया से एक क्षण पूर्ववर्त्ती होने के नाते उनका "कारण" बन जाता है, और गुण-कर्म एक क्षण द्रव्य से उत्तरवर्त्ती होने के कारण "कार्य" बन जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में उनका कार्यकारणभाव सुचारु रूप से संपन्न हो जाता है।

दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य गुण और कर्म इन तीनों की सहोत्पत्ति इस कारण से भी असंभव है कि इन सबकी कारण-सामग्री भिन्न २ है। द्रव्य की भिन्न और गुण-कर्म की भिन्न। कपाल अथवा कपालद्वय संयोग घट का कारण हो सकेगा न कि घट में रहने वाले गुण-क्रिया आदि का भी। एवं तन्तु अथवा तन्तुओं का संयोग पट का ही कारण हो सकता है न कि पट के

अन्दर रहने वाले गुण अथवा कर्म का भी, इत्यादि रूप से सर्वत्र इस प्रकार की विचार धारा संपन्न कर लेनी चाहिये।

कणाद की परिभाषा का अर्थ करते समय हमने देखा है कि "समवायिकारणं द्रव्यम्" यह भी द्रव्य का एक स्वतन्त्र लक्षण किया है। कुछ वैशेषिक दार्शनिकों ने तो समवायिकारणत्व को सभी द्रव्यों का साधर्म्य (समानधर्म) ही स्वीकार कर लिया है।

"समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्"

भाषा प०

अर्थात् समवायिकारण होना ही द्रव्य का स्वरूप है। द्रव्य से अतिरिक्त और कोई भी समवायिकारण होता ही नहीं है, और न हो ही सकता है। उदाहरणार्थ पृथिवी आदि नवद्रव्यों में पृथिवी जल तेज वायु इन चार कार्यद्रव्यों के समवायिकारण इन्हीं के अलग-२ परमाणुओं को माना गया है, एवं गुणात्मककार्य के समवायिकारण तो नवों द्रव्यों को माना है तथा कर्म रूप कार्य के समवायिकारण पृथिवी-जल-तेज-वायु एवं मन इन पाँचों सक्रिय द्रव्यों को माना है। गुण-कर्म आदि कभी भी किसी के समवायिकारण होते ही नहीं है। इस प्रकार कणाद की परिभाषा से यह स्पष्ट सिद्ध है कि गुण तथा कर्म के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।

वैशेषिकदर्शन के किसी आचार्य ने एक यह भी द्रव्य का लक्षण बतलाया कि—"गुणकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवद् द्रव्यम्"

अर्थात् गुण-कर्म से भिन्न जो सामान्य (जाति) वाला हो वही द्रव्य होता है। द्रव्य-गुण-कर्म-ये तीन ही पदार्थ जाति वाले होते हैं। गुण-तथा कर्म से भिन्न जाति वाला पदार्थ एक-मात्र द्रव्य ही होता है।

इसी को किसी दूसरे आचार्य ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है—

"द्रव्यत्वजातिमत्वं द्रव्यसामान्यलक्षणम्"

अर्थात् द्रव्यत्वजातिवाला ही द्रव्य माना गया है, जैसे ब्राह्मणत्व जाति वाला ब्राह्मण, तथा क्षत्रियत्व जाति वाला क्षत्रिय माना गया है।

द्रव्य एक स्वतंत्र पदार्थ है। श्रीधर आदि विद्वानों ने स्वतंत्रता का अर्थ यही किया है कि जो अस्तित्वनिरपेक्ष हो, अर्थात् द्रव्य का अस्तित्व किसी अन्य पदार्थ के ऊपर अवलम्बित अथवा आश्रित नहीं है। द्रव्य जैसे गुण कर्म का

आश्रय है उसी प्रकार वह द्रव्यत्व जाति का भी आश्रय है । द्रव्यों के परस्पर में भिन्न होने पर भी इन सभी द्रव्यों में अनुस्यूत एक द्रव्यत्व जाति है ।

श्री चित्सुखाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है, उनके अनुसार द्रव्यत्व जाति की सिद्धि भिन्न द्रव्यों में समान तत्त्वों के आधार पर नहीं हो सकती है । उदाहरणार्थ जैसे मृत्तिका एवं स्वर्ण ये दोनों ही द्रव्य हैं । परन्तु दोनों ही में से कोई भी समान तत्त्व नहीं है, अर्थात् इनका स्वरूप सर्वथा भिन्न २ है । जल तथा अग्नि इन दोनों में कोई समानता नहीं देखने में आती है, परन्तु द्रव्यत्व जाति इन दोनों में स्वीकार की जाती है ।

श्रीधराचार्य ने चित्सुखाचार्य का खण्डन करते हुए स्पष्ट कहा है कि द्रव्यत्व की प्रतीति हमें स्वप्राधान्य प्रतीति से ही होती है ।

"स्वप्राधान्यप्रतीतिरेव द्रव्यप्रतीतिः"

न. क. १३

अर्थात् द्रव्य की प्रतीति होने में उसे अपना अस्तित्व स्वयं अपेक्षित है, क्योंकि उसी की प्रधानता है । द्रव्य के अनाश्रित हुए गुण-कर्म की उपलब्धि सर्वथा असंभव है ।

क्रियावद् द्रव्यलक्षणविचार

द्रव्य क्रिया का भी आश्रय है । इसमें तथा क्रिया में आधाराधेयभाव होता है । इस लक्षण में भी यह आक्षेप है कि यह अव्याप्ति दोषग्रस्त है । कारण कि आकाश काल आदि सर्वव्यापी निष्क्रिय द्रव्यों में किसी भी प्रकार क्रिया संभव नहीं है, तब फिर आकाश आदि द्रव्यों को द्रव्य कैसे कहा जा सकता है । शंकरमिश्र इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यहाँ महर्षि कणाद के द्वारा लक्षण शब्द चिह्न अर्थ में प्रयुक्त है । कर्म अथवा क्रिया लक्षण के रूप में व्यवच्छेदक धर्म नहीं है । कर्म वह चिह्न है जो किसी भी पदार्थ में रहने पर यह बतलायेगा कि वह आश्रयभूतपदार्थ द्रव्य ही है न कि द्रव्यातिरिक्त । इसका अर्थ यह नहीं है कि कर्म अथवा क्रिया जिसमें न रहे वह द्रव्य ही नहीं है । अपितु कर्म जब भी रहेगा तब एकमात्र द्रव्य में ही रहेगा । इससे पूर्वोक्त अव्याप्तिदोष स्वयं निरस्त हो जाता है ।

श्री जयनारायण ने इसकी एक दूसरी भी व्याख्या उपस्थित की है । उन्होंने स्पष्ट कहा कि "क्रियावत्त्वं" यह द्रव्य का लक्षण आकाश आदि निष्क्रिय द्रव्यों में

नहीं जा रहा है अतः अव्याप्त हो रहा है इसलिये 'क्रियावत्त्वम्' का यह अर्थ समझना चाहिये कि—"क्रियावद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्"

अथवा —"कर्मवद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्"

पुनः—"क्रियावत्त्वम् स्वजन्यसंयोगवत्त्वसम्बन्धेन'

अथवा—"स्वजन्यविभागवत्त्वसम्बन्धेन बोध्यम् ।

अतः कर्म वाले पदार्थ (द्रव्य) में रहने वाली-पदार्थ का विभाजक उपाधि (द्रव्यत्व) सब द्रव्यों में रहने के नाते आकाश आदि निष्क्रिय द्रव्यों में भी संभव है एवं संयोग और विभाग ये दोनों भी आकाश काल आदि निष्क्रिय द्रव्यों में रहते ही हैं, अतः आकाश काल आदि व्यापक द्रव्य भी संयोग वाले और विभाग वाले हैं। इसलिये संयोगवत्त्व और विभागवत्त्वसम्बन्ध से वे क्रियावाले भी हैं। इससे स्पष्ट है कि यह श्री जयनारायण जी द्वारा प्रदर्शित मार्ग भी सर्वथा श्रेयस्कर है। इससे आकाश आदि व्यापक द्रव्यों को द्रव्यत्व की अनुपपत्ति बिल्कुल नहीं है।

गुणाश्रयद्रव्यलक्षणविचार

कुछ वैशेषिकदार्शनिकों ने द्रव्य का यह लक्षण बतलाया कि—

"गुणाश्रयो द्रव्यम्"

न्यायलीलावती—७५२

यहाँ पर भी श्रीहर्ष तथा चित्सुखाचार्य आदि दार्शनिकों ने पहले वाली ही आपत्ति खड़ी की कि प्रथम क्षण में उत्पन्न होने वाले द्रव्य सर्वथा निर्गुण हैं, गुण-शून्य हैं, वहाँ यह लक्षण अव्याप्त हो रहा है। इसका उत्तर भी श्री चित्सुखाचार्य की प्रदर्शितरीति के अनुसार ही दिया गया कि—

"गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणस्य द्रव्यत्ववत्"

चित्सुखी—पृ० १६—

जैसे द्रव्यत्व का अत्यन्ताभाव "द्रव्यत्वं नास्ति" इत्याकारक किसी भी द्रव्य में नहीं रह सकता है, उसी प्रकार "गुणो नास्ति" इत्याकारक गुणवत्त्व अर्थात् गुण का अत्यन्ताभाव भी द्रव्य में नहीं रह सकता है। अतः गुणत्त्व के अत्यन्ता-भाव का अनधिकरण द्रव्य हो जाता है। इसलिये गुणाश्रत्व गुणवत्त्वात्यन्ता-भावानधिकरणत्वरूप ही कहना उचित होगा। इस प्रकार का गुणाश्रयत्व द्रव्य-मात्र में है, इसकी किसी भी द्रव्य में अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति आदि कोई भी

दोष नहीं है। प्रथम क्षणावच्छिन्न अर्थात् उत्पत्तिकालीन घट में गुण न होने पर भी उसी घट में दूसरे क्षण में रूप-रस आदि गुण देखने में आते हैं अतः वहाँ गुण (गुणवत्त्व) का अत्यन्ताभाव नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात, यहाँ पर भी "क्रियावद् द्रव्यम्" इसी लक्षण वाला समझ लेना चाहिये, अर्थात् यहाँ पर भी गुणाश्रयत्व का "गुणवद्वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम्" इस अर्थ में ही तात्पर्य समझना चाहिये। गुण वाले (द्रव्य) में रहने वाली पदार्थ का विभाजक उपाधि द्रव्यत्व ही होगी, वह द्रव्यत्वरूप उपाधि सभी द्रव्यों में है, चाहे वह प्रथमक्षणावच्छिन्नद्रव्य हो, चाहे द्वितीयक्षणावच्छिन्न द्रव्य हो वह द्रव्यत्वरूप उपाधि समस्त द्रव्यों के अन्दर अनुस्यूत है। इससे भी कहीं अव्याप्ति अथवा अतिव्याप्ति नहीं हो सकेगी। यह निर्दुष्ट अर्थ है।

अथवा गुणाश्रयत्व का "गुणाभाववदवृत्तिधर्मवत्त्वम्" यह अर्थ करने से भी पूर्वोक्त सब दोष निरस्त हो जाते हैं, कारण कि गुण के अभाव वाले द्रव्य से अतिरिक्त गुण-कर्म-सामान्य-विशेष आदि पदार्थों में न रहने वाला एकमात्र द्रव्यत्व (धर्म) ही होगा, उस द्रव्यत्वधर्म वाले भी सभी द्रव्य होंगे। चाहे उत्पत्तिक्षणावच्छिन्न द्रव्य हो, चाहे उत्पत्तिक्षणातिरिक्त क्षणावच्छिन्न द्रव्य हो, कोई भी हो गुणाश्रयत्व की इस अर्थ में तात्पर्य की विवक्षा कर देने से पूर्वोक्त कोई भी दोष नहीं रह जाता है।

इन सब दोषों के परिहारार्थ बल्लभाचार्य ने भी द्रव्य की बहुत ही सुन्दर परिभाषा की है—

"गुणाश्रयो द्रव्यम्। तत्र यद्यपि सम्बन्धो न सनातनः। तथापि इहात्यन्तायोगव्यवच्छेदो लक्षणार्थः"

न्यायलीलावती पृ. ७५३

अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति के प्रथमक्षण में द्रव्य में भले ही गुण का अयोग हो परन्तु अत्यन्त अयोग नहीं है, अतः अत्यन्त अयोग वाले गुण-कर्म-सामान्य आदि पदार्थों का व्यवच्छेद (भेद) द्रव्य ही में रहेगा, अन्यत्र नहीं। इससे भी पूर्वोक्त सभी दोष निरस्त हो जाते हैं। वस्तुतः अत्यन्तायोगव्यवच्छेद का भी गुणवत्त्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वरूप अर्थ में ही तात्पर्य है, ऐसा पौर्वापर्यक्रम के आधार पर मालूम होता है।

द्रव्य ही समवायिकारण होता है

समवायी और समवायिकारण ये दो न्याय तथा वैशेषिकों के पारिभाषिक शब्द हैं। ये दोनों शब्द न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में ही पायेंगे। अन्यत्र दर्शनों में भी जहाँ इनकी उपलब्धि होती है वहाँ पर भी वह देन न्याय तथा वैशेषिक की ही है।

'समवायी' शब्द के दो अर्थ हैं समवायप्रतियोगी तथा समवायानुयोगी। समवायप्रतियोगी शब्द का अर्थ है जो स्वयं अपने किसी आधार में समवाय सम्बन्ध से रहे, अर्थात् समवायसम्बन्ध से रहने वाली आधेयभूत वस्तु ही समवायप्रतियोगी हुई और उस समवायप्रतियोगी को ही समवायी समझना चाहिये। इसी प्रकार समवायानुयोगी को भी समवायी समझना चाहिये। समवायानुयोगी शब्द का अर्थ है जिसमें समवायसम्बन्ध से कोई रहे, अर्थात् समवायसम्बन्ध से जिस आधारभूत वस्तु में कोई रहे वह आधारभूत वस्तु समवायानुयोगी कहलाती है। जैसे—"समवायेन घटवत् कपालम्" यहाँ पर घट समवायसम्बन्ध से रहने के नाते समवायप्रतियोगी रूप समवायी है और कपाल समवायानुयोगीरूप समवायी है।

"समवायानुयोगित्वम् समवायित्वम्"

न्यायकोश—

समवायिकारण का अर्थ तो स्वयं अन्नंभट्ट ने ही किया है कि जिसमें समवायसम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायिकारण होता है, जैसे तन्तु पट के समवायिकारण होते हैं, और पट अपने रूप रस आदि के। कहा भी है—

यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्।
यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः।

तर्क सग्रह—

और भी—"यस्मिन् समवायेन संबद्धं यत् कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्।"

न्यायबोधिनी—

और भी—"समवायिकारणत्वञ्च समवायसम्बन्धेन कार्याधिकरणत्वम्"

श्रुतमात्र—

दूसरे दार्शनिकों ने इसी समवायिकारण को उपादानकारण के रूप में

स्वीकार किया है। जो कुछ भी हो समवायिकारण हमेशा द्रव्य ही होता है। द्रव्य के अतिरिक्त और कोई भी समवायिकारण होता ही नहीं है। गुणकर्म असमवायिकारण ही होते हैं। इसी से द्रव्य का साधर्म्य समवायिकारणत्व माना गया है और गुण कर्म का असमवायिकारणत्व साधर्म्य स्वीकार किया गया है। कहा भी है—

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयं अथाप्यसमवायिहेतुत्वम्।

भाषा परिच्छेद

नवों द्रव्यों में से कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं जो किसी का समवायिकारण न हो अथवा न होता हो, जैसे पृथिवी गन्ध आदि का समवायिकारण होती है। जल शीत स्पर्श आदि का, तेज उष्ण स्पर्श, आदि का, वायु अनुष्णाशीत स्पर्श आदि का, आकाश शब्द आदि का, काल परत्व-आदि का, दिशा भी उन्हीं का तथा संयोग आदि का, आत्मा भी ज्ञान इच्छा आदि का, एवं मन भी क्रिया संयोग आदि का समवायिकारण होता है। इससे स्पष्ट है कि सभी द्रव्य समवायिकारण होते हैं।

द्रव्य के विवषय में संयुक्तविचार

इसके पूर्व हम द्रव्य के समवायिकारणत्व पर विचार कर चुके हैं। अब हम अवयव अवयवी, गुण तथा गुणी पर विचार करते हैं।

इस विषय में बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि गुणी गुण से अभिन्न है, अवयवी अवयवों से भिन्न सत्ता वाला नहीं है। उनके सिद्धान्तानुसार अवयवी अथवा गुणी की की कोई सत्ता अथवा अस्तित्व नहीं है। अवयवी द्रव्य की धारणा एकमात्र असंगत अनावश्यक, निराधार एवं कल्पना प्रसूत है।

बौद्धदार्शनिकों का कहना है कि हमें गुणों से अतिरिक्त गुणी (द्रव्य) की उपलब्धि नहीं होती है। एवं अवयवों से अतिरिक्त अवयवी द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती है। अतः गुणों के आश्रय के रूप में द्रव्य की धारणा एवं अवयवों से अतिरिक्त के रूप में द्रव्य की कल्पना सर्वथा भ्रान्त और निर्मूल है। बौद्ध दार्शनिकों का कहना है कि अवयवों से अतिरिक्त अवयवी स्वतन्त्र सत्ता वाला कोई वस्तु ही नहीं हैं। हम यदि पट के अन्दर से समस्त तन्तुओं को निकाल कर अलग २ रखदें तो क्या फिर पट नाम की वहाँ कोई चीज रह जायगी ? इसलिये

परमाणुपुञ्ज ही घट-पट आदि सब अवयवीभूत द्रव्य हैं। पुञ्ज (समुदाय) से अतिरिक्त अवयवी नाम की कोई वस्तु है हीं नहीं।

अब ऐसी परिस्थिति में एक यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब प्रत्येक परमाणु (अवयव प्रत्यक्ष नहीं होता है तब उसके पुञ्जभूत घट-पट आदि का प्रत्यक्ष कैसे होगा ? क्योंकि यह नियम है कि—

"प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायावृत्तित्वनियमः"

जगदीशतर्कालङ्कार—

अर्थात् प्रत्येक में जो धर्म नहीं रहता है समुदाय में भी वह धर्म नहीं रहता है। जब कि प्रत्येक परमाणु में प्रत्यक्ष विषयता नहीं है तब पुञ्जभूत घट में कैसे प्रत्यक्ष-विषयता आ सकती है, तथा आयी तो कहाँ से आयी ? इससे मानना होगा कि जब परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता तब परमाणु के पुञ्ज घट का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ?

बौद्ध दार्शनिकों ने इसका यही उत्तर दिया कि जैसे दूर में रखे हुए एक केश का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु केशसमूह का प्रत्यक्ष हो जाता है, अर्थात् एककेश में प्रत्यक्ष की विषयता न रहते हुए भी केशपुञ्ज में प्रत्यक्ष विषयता अनुभवसिद्ध है। इसलिये पूर्वोक्त नियम तथा तर्क सब गलत है।

इस पर नैयायिक कहते हैं कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में बहुत ही वैषम्य है, कारण कि एक केश का दूर में भले ही प्रत्यक्ष न हो किन्तु पास में तो प्रत्यक्ष होता है, वह परमाणु की तरह अतीन्द्रिय नहीं है, परमाणु तो सर्वथा अतीन्द्रिय वस्तु है। इसलिये पूर्वोक्त नियम तथा तर्क सर्वथा ठीक हैं। अतः अवयवी को पुञ्ज से पृथक् सत्तावाला ही मानना उचित होगा।

बौद्धों का कहना है कि अदृश्य परमाणु पुञ्ज से दृश्य परमाणुपुञ्ज की उत्पत्ति होती है उत्पादक परमाणुपुञ्ज अदृश्य होने से सर्वथा प्रत्यक्ष के अयोग्य हैं। और उत्पन्न हुआ परमाणुपुञ्ज जिसे अवयवी (घट-पट आदि) के नाम से पुकारते हैं वह दृश्य होने के नाते सर्वथा प्रत्यक्ष योग्य है।

नैयायिक एवं वैशेषिक प्रभृति दार्शनिकों ने इसका बड़ा ही सुन्दर उत्तर यह दिया कि पुञ्ज से पुञ्ज की उत्पत्ति मानने की अपेक्षा एक स्वतन्त्र अवयवी को ही स्वीकार करलेना कहीं अच्छा है। कारण कि पुञ्ज से पुञ्ज की उत्पत्ति का अर्थ है कि

लाखों अथवा करोड़ों या अरबों अदृश्य परमाणुओं के संयोग से एक दृश्य पुञ्ज की उत्पत्ति स्वीकार करना। एक परमाणु का दूसरे से, दूसरे का तीसरे से, तीसरे का चौथे से इस प्रकार की परम्परा से करोड़ों ही संयोग स्वीकार करने पड़ जायेंगे। इससे तो यही अच्छा कि एक स्वतन्त्र अवयवीरूपद्रव्य का ही अस्तित्व मान लिया जाय।

इसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र सत्तावाले अवयवी रूप द्रव्य को स्वीकार करने में सबसे वड़ा बलवान प्रमाण यह भी है कि किसी भी घट-पट आदि द्रव्य को देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह कहता है कि यह अकेला ही घड़ा इतना महान् अर्थात् बड़ा मालूम पड़ता है कि जैसे दो चार के बराबर हो। प्रत्येक परमाणु में जब कि महत्त्व अथवा स्थौल्य नहीं तो पुञ्ज में कहाँ से आगाया, क्यों कि हम पहले ही कह चुके हैं—

"प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायावृत्तित्वनियमात्"

और अनेक परमाणुओं में एकत्व भी बाधित है। अनेक परमाणुरूप पुञ्ज को एक नहीं कहा जा सकता है और स्वतन्त्र सत्तावाले घट को सभी एक और महान् कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि वे लोग भ्रमवश ऐसा कहते हैं तो यह कहना भी उनका सर्वथा गलते है कारण कि एक भ्रान्त हो सकता है, दो हो सकते हैं, तीन हो सकते हैं, क्या सारा संसार ही भ्रान्त हो गया, अतः एक स्वतन्त्र अवयवी को ही स्वींकार कर लेला सबसे अच्छा है ? बौद्धों का यह अनर्गल प्रलाप सर्वथा अनुपादेय हैं। अनेकता में एकता की प्रतीति का एकमात्र कारण एक स्वतन्त्र अवयवी रूप द्रव्य को स्वीकार करना ही है।

गुणी द्रव्य का अतिरिक्तत्व

इसी प्रकार बौद्ध दार्शनिक गुणी द्रव्य को अवयवों के समान गुणों का पुञ्ज मानते हैं। भिन्न भिन्न गुणों के भिन्न भिन्न कारण हैं। रूप का कारण भिन्न एवं गन्ध आदि गुणों का कारण भी उससे सर्वथा भिन्न ही मानना होगा।

अब प्रश्न यह है कि इन विभिन्न गुणों के समुदाय का कारण कौन ? यदि तीनों के समुदाय का कारण उनका एक आश्रयभूत द्रव्य है तो उसी को तो नैयायिक तथा वैशेषिक प्रभृति दार्शनिक 'द्रव्य' कहकर पुकारते हैं, फिर एक स्वतंत्र पुञ्ज से अतिरिक्त द्रव्य का अस्वीकार क्यों ?

और फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि गुणों का समुदाय ही गुणी

(द्रव्य) हैं तब फिर इसकी प्रतीति कैसे होती है ? क्योंकि गुणों में परस्पर भेद है। जिसे हम देखते वह रूप हैं, जिस गुण का हम त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करते हैं वह स्पर्श है। इन पृथक् पृथक् स्वभाववाले विभिन्न गुणों की उपलब्धि एकत्र कैसे हो सकती है ? क्योंकि सह अस्तित्व सहोपलम्भ का कारण नहीं हो सकता है। यदि एक गर्दभ तथा एक उष्ट्र एक साथ रहें तो किसी समुदाय का भान नहीं होगा, इसलिये गुणों के समुदाय का कारण गुणों से भिन्न द्रव्य अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

बौद्ध दार्शनिक लोगों की उपलब्धि के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र विचारधारा है। उनका कहना है कि गुणी और गुण (द्रव्य और गुण) की उपलब्धि (ज्ञान) हमें एक ही समय में होती हैं, अतः द्रव्य की सत्ता गुण से कोई पृथक् वस्तु नहीं प्रतीत होती है। कहा भी है—

"गुणी गुणाभिन्नः सहोपलम्भनियमात्"

शङ्कर मिश्र टीका आ० त० वि०

परन्तु सहोपलम्भ तादात्म्य का सूचक नहीं है। कारण कि हमें "पीतः शङ्खः" की भ्रमात्मक प्रतीति होती है, इससे स्पष्ट सिद्ध हैं कि गुणी और गुण की उपलब्धि एक साथ नहीं होती है। शंख का गुण है श्वेत न कि पीत, परन्तु हमारी प्रतीति श्वैत्य विहीन होती है। इस लिये गुण और गुणी का एकीकरण नहीं हो सकता है, ऐसी परिस्थिति में कहना होगा कि जैसे जाति जातिमान् से सर्वथा पृथक् है ऐसे ही गुणी भी गुणगण से भिन्न है। कहा भी है—

जातिर्जातिमतो भिन्ना गुणी गुणगणात् पृथक्।
तथैव तत्प्रतीतेश्च कल्पनोक्ति रबाधिका॥

न्या० मं० पृ० ६०

बौद्धदार्शनिक लोग द्रव्य की प्रत्यक्षोपलब्धि में एक इस प्रकार की आपत्ति खड़ी करते हैं कि द्रव्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कल्पना प्रसूत है! वे निर्विकल्पक को ही एक यथार्थ प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मानते हैं, कारण कि वह अभ्रान्त तथा कल्पना रहित है। सविकल्पक तो नाम जाति आदि की योजना सहित ही होता है। उनके अनुसार "स्वलक्षण" ही यथार्थ प्रत्यय का विषय होता है सामान्य नहीं।

द्रव्य प्रथम क्षण में निर्गुण रहता है तथा द्वितीयक्षण में वह गुणवाला होता है, यही कारण है कि हमें सगुण द्रव्य का भान द्वितीय क्षण में ही होता

है। परन्तु वह सविकल्पक का विषय है। अतः उसे भ्रान्तिरहित प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं माना जा सकता है; कारण कि वह नामजाति आदि के सहित है तथा नामजाति आदि कल्पनाप्रसूत है।

जरन्नैयायिक श्री जयन्तभट्ट ने इसका परिहार किया है। खण्डन करते हुए उन्होंने नैयायिकों के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है और कहा है कि निर्विकल्पक तथा सविकल्पक ये दोनों ही यथार्थ प्रत्यक्ष है, दोनों ही में एक ही वस्तु रहती है, केवल निर्विकल्पक शब्दोल्लेख रहित होता है तथा साविकल्पक शाब्दज होता है। कहा भी है—

तस्माद् य एव वस्त्वात्मा साविकल्पस्य गोचरः।
स एव निर्विकल्पस्य शब्दोल्लेखविवर्जितः॥

न्यायमञ्जरी–पृ० ९२

इसलिये कहना होगा कि सविकल्पक में भी विषय वही हैं जो निर्विकल्पक में, एकमात्र प्रकार का भेद है!

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी हैं कि बौद्धदार्शनिकों ने इन्द्रिय और अर्थ (विषय) के सन्निकर्ष पर अधिक जोर दिया है, इसी से केवल स्वलक्षणज्ञान ही होता है। सन्निकर्ष अधिक काल तक नहीं रह पाता है कारण कि बौद्धों ने क्षणभंग का स्वीकार किया है। उनके यहाँ प्रत्येक वस्तु अपने उत्पत्ति क्षण के अव्यवहित उत्तरक्षण में नष्ट होकर अपने ही सजातीय दूसरी वस्तु को उत्पन्न कर देती है। इस तरह उनके यहाँ सभी वस्तुएं क्षणिक हैं। उनके यहाँ यही क्षणिकत्व भी है कि—

स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वम्

विलासिनी आत्मनिरूपण पृ०१९७२

इसी लिये उन्होंने सविकल्पकज्ञान को काल्पनिक माना है। परन्तु बौद्धदार्शनिकों की यह युक्ति भी ठीक नहीं है, कारण कि सन्निकर्ष के अभाव में तो प्रत्यक्ष होगा ही नहीं। यदि हम इन्द्रिय और सन्निकर्ष के पश्चात् आँखें बन्द करलें तो नाम आदि के स्मरण से भी सविकल्पक भान नहीं होगा। कहा भी है—

"नहि वाचकस्मरणानन्तर मक्षिणी निमील्य विकल्पयति"

न्यायमञ्जरी

अतः इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष विहीन सविकल्पक

प्रत्यक्षात्मकज्ञान नहीं होता है। परन्तु सविकल्पकज्ञान का विषय कल्पना नहीं है। हम काल्पनिकज्ञान तथा प्रयक्षात्मकज्ञान में भेद पाते हैं। जैसे—मैं यहाँ एक घट की कल्पना कर रहूं हूँ, तथा मैं यहाँ एक घट को देख रहा हूँ, इन दोनों वाक्यों में भेद है। प्रथम वाक्य की सत्यता में तो केवल हमारा विश्वास ही हो सकता है परंतु द्वितीय वाक्य तो विल्कुल सत्य ही है, कारण कि द्वितीय वाक्य में हमें साक्षात् प्रतीति इन्द्रिय और अर्थ सन्निकर्ष से जन्य हो रही है तब मानना होगा किसविकल्पक भी इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष सर्वथा अपेक्षित है, इसलिये सविकल्पक ज्ञानको काल्पनिक ज्ञान से भिन्न ही कहना होगा।

मनोराज्यविकल्पानां काममस्त्वप्रमाणता।
यथावस्तुप्रवृत्तानां नत्वसावक्षजन्मनाम्॥

न्यायमंजरी—पृ० ६०

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक लोग-गुणी और गुण-गण के अभेद का निराकरण करते हुए स्वतन्त्र द्रव्य की सिद्धि करते हैं। उनके मतानुसार इन दोनों का आश्रयाश्रयीभाव है न कि अभेद, अर्थात् गुणी आश्रय है और गुण द्रव्य के आश्रित है। इन दोनों का जैसे अभेद बाधित है उसी प्रकार संयोग भी बाधित है। न्याय-वैशेषिक लोगों ने इन दोनों का एक विशेष ही सम्बन्ध स्वीकार किया है जिसे समवाय कहते हैं।

यह समवाय सम्बन्ध गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति और विशेष तथा नित्यद्रव्यों में ही पाया जाता है। कहा भी है—

"अवयवाऽवयविनोर्जातिव्यक्त्योर्गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्नित्यद्रव्यविशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः"

न्यायसिद्धान्तमु० पृ० ६५—समवाय प्रकरण

जैसे "जातिमान् घटः" "क्रियावान् घटः" इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर जाति और घट-पट आदि व्यक्तियों का, एवं क्रिया और क्रियावान् का समवाय सम्बंध होता है उसी प्रकार "घटवत् कपालम्" "रूपवाम् घटः" "स्पर्शवान् घटः" इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर अवयव और अवयवी का, एवं गुण और गुणी का भी समवाय सम्बंध होता है न कि अभेद। इसलिये बौद्ध दार्शनिकों का—

"गुणी गुणाभिन्नः सहोपलम्भनियमात्"

यह अनुमान बाधित हैं। अर्थात् बाधदोष से दुष्ट है।

कार्यकारणभाव—का खण्डन तथा मण्डन—

परन्तु यह सम्बंध सभी द्रव्यों के लिये आवश्यक नहीं है, नित्यद्रव्य स्वतंत्र हैं अर्थात् उनका अस्तित्व विना-गुण तथा क्रिया के भी विद्यमान है। वे किसी के समवायिकारण भी नहीं होते हैं, ऐसा भी कुछ दार्शनिक विद्वानों का कहना है। उनका वास्तविक कथन तो यह है कि कोई भी नई वस्तु घट-पट आदि उत्पन्न ही नहीं होती है। नई वस्तु का, जब कि उत्पादन ही कोई नहीं है तब किसे किसका कारण माना जाय? तब समवायिकारण की तो कथा ही क्या है। नैयायिक तथा वैशेषिक जिसे कारण या किसी घट-पट आदि वस्तु का उत्पादक कहते हैं उसे वे अभिव्यञ्जक कहते हैं और जिसे नैयायिक आदि उत्पन्न हुआ कहते हैं वे उसे अभिव्यङ्ग्य कहते हैं। अर्थात् पूर्वकाल से विद्यमान विषय अथवा वस्तु का जो प्रकाश करे या ज्ञान करावे उसे वे अभिव्यञ्जक कहते हैं और उत्पत्ति-शील वस्तु को अभिव्यङ्ग्य कहते हैं। दण्ड-चक्र-चीवर-कुलाल आदि घट के अभिव्यञ्जक हैं न कि उत्पादक। कारण कि घट मृत्तिका के अन्दर, एवं पट तन्तु अथवा रुई के अन्दर पूर्वकाल से ही विद्यमान है कारण सामग्री उसको अभिव्यक्ति मात्र कर देती है, इसलिये घट पट आदि अभिव्यङ्ग्य हैं। असत् की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है और सत् का विनाश कभी सम्भव नहीं है। अतः अभिव्यक्ति मात्र ही माननी होगी।

परन्तु यह मत भी ठीक नहीं है कारण कि यदि उनके इसी कथन को स्वीकार किया जाय कि कारण के अन्दर कार्य अप्रकाशरूप में पहले ही से विद्यमान रहता है तब तो खरबूजे के एक ही बीज के अन्दर अनेक खरबूजों की स्थिति माननी होगी। ऐसे ही तरबूज आदि की स्थिति को जान लेना चाहिये। इसी प्रकार मकई बाजरा आदि के एक छोटे से बीज के अन्दर अनेकों मकई-बाजरा एवं खरबूजे आदि की संस्थिति माननी होगी, कारण कि एक बीज से मकई का पेड़ पैदा होकर वह पुनः स्वयं अपने से सैकड़ों हजारों एवं लाखों बीजों को उत्पन्न करता है। फिर उनसे सैकड़ों एवं हजारों की संख्या में और वृक्ष उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् फिर उनसे अनंत बीज पैदा होते हैं। इस प्रकार आदि तथा अंतविहीन चराचर इस विश्व के अन्दर इसके पश्चात् काल में होने वाले जितने मकई एवं बाजरे आदि के वृक्ष हैं उन सबकी अव्यक्तरूप से स्थिति मूलभूत बीज में स्वीकार करनी होगी। किंतु क्या इतने उनके परमाणु उस बीज में समाविष्ट हो सकते हैं? यदि नहीं हो सकते हैं तब तो यह सब

कहना सुनना ही बच्चों की बातों के समान सर्वथा अप्रामाणिक है। विधि पक्ष सर्वथा हेय एवं अस्वीकार्य है। इसलिये यही स्वीकार उचित तथा युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पहले पहले प्रत्येक बीज के अन्दर उत्तरोत्तर काल में उत्पन्न होने वाले प्रत्येक वृक्ष की उत्पादनात्मिका कारणता विद्यमान है जिसके पश्चात् फिर से वृक्ष उत्पन्न होने लगते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये। इसलिये कार्यकारण भाव का स्वीकार सर्वथा आवश्यक है।

—: * :—

तृतीय अध्याय

द्रव्य के भेद

द्रव्य नौ प्रकार का है—

(१) पृथिवी,
(२) जल,
(३) तेज,
(४) वायु,
(५) आकाश,
(६) काल,
(७) दिक्,
(८) आत्मा,
(९) मन,

इन नव प्रकार के द्रव्यों को नैयायिक दार्शनिकों ने दो भागों में विभाजित किया है, नित्य और अनित्य रूप से। पृथिवी-जल-तेज- वायु इन चार द्रव्यों के चार परमाणु नित्य हैं तथा आकाश-काल-दिक्-आत्मा और मन पाँच ये नित्य द्रव्य हैं इस प्रकार नौ द्रव्य नित्य द्रव्य हैं। और पृथिवी-जल-तेज-वायु ये चार अनित्य द्रव्य हैं।

पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश ये पाँच भूतपदार्थ कहे जाते हैं, और पृथिवी-जल-तेज-वायु-और मन ये पाँच मूर्त्तपदार्थ माने गये हैं। इनमें पृथिवी-जल-तेज वायु और मन में गुण और क्रिया दोनो है और आकाश-काल-दिक्-आत्मा इन चार में केवल गुण ही रहते हैं, क्रिया नहीं रहती, ये सर्वथा निष्क्रिय हैं। अनित्य द्रव्य अपने अवयवों में समवेत होते हैं और नित्य द्रव्य सर्वथा असमवेत होते हैं।

"विशेषगुणवत्त्वं भूतत्वम्" इस परिभाषा के अनुसार विशेष गुणवाला होना यह भूतद्रव्यों का स्वरूप बतलाया है।

और "क्रियावत्त्वं-परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं मूर्त्तत्वम्" इस परिभाषा के

आधार पर क्रियावाला होना, अथवा छोटे परिमाणवाला होना यह मूर्त्त द्रव्यों का स्वरूप बतलाया है।

"बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः।

अदृष्टभावनाः शब्दाः अमी वैशेषिका गुणाः" भाषापरिच्छेद

अर्थात् बुद्धि[१] सुख[२] दुख[३] इच्छा[४] द्वेष[५] प्रयत्न[६], स्पर्शान्त अर्थात् रूप[७] रस[८] गन्ध[९] स्पर्श,[१०] स्नेह[११], सांसिद्धिक[१२] द्रवत्व, अदृष्ट (धर्म[१३] अधर्म[१४]) भावना[१५] नामक संस्कार, और शब्द[१६] ये सोलह १६ विशेषगुण हैं।

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम्।

द्रवत्वस्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी ॥ मूर्त्तादिगुणनिरूपण-भाषापरिच्छेद

रूप[१] रस[२] स्पर्श[३] गन्ध[४] परत्व[५] अपरत्व[६] द्रवत्व[७] स्नेह[८] और वेग[९] ये नौ गुण मूर्त्तद्रव्यों के हैं, अर्थात् अमूर्त्तद्रव्यों में ये गुण नहीं रहते हैं।

व्यापक द्रव्यों में सिर्फ आकाश और आत्मा इन दो ही द्रव्यों में विशेष गुण रहते हैं। व्यापक दो द्रव्यों में रहने वाले विशेषगुण बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म भावना और शब्द ये ही हैं, ये विशेषगुण "अकारण गुणोत्पन्न" कहलाते हैं। "अकारणगुणोत्पन्न" की परिभाषा विश्वनाथ पञ्चानन ने इस प्रकार की है कि "कारणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यन्ते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते, बुद्ध्यादयस्तु न तादृशाः, आत्मादेः कारणाभावात्"। अर्थात् कारण के द्वारा कार्य में जो गुण उत्पन्न होते हैं वे गुण कारण गुण पूर्वक कहे जाते हैं, जैसे रूप आदि गुण कारण गुणपूर्वक हैं, क्योंकि पट के कारण तन्तु में जो रूप होगा पट में भी वही रूप होगा। परन्तु बुद्धि सुख दुःख आदि, एवं शब्द ये सब कारण गुण पूर्वक नहीं है। आत्मा का कोई कारण नहीं है और आकाश का कोई कारण नहीं है, अतः इन दोनों अर्थात् आकाश और आत्मा के विशेषगुण अकारण गुणपूर्वक हैं।

मतमतान्तर से द्रव्यों की गणना

वैशेषिक दर्शनिकों ने द्रव्यों की संख्या नव मानी पृथिवी जल इत्यादि पूर्वोक्त गणना के आधार पर। इसी लिये अन्नं भट्ट ने कहा कि—

"पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव"

"नवैव" इस 'एव' कार से अधिकसंख्या की तथा न्यूनसंख्या की व्यावृत्ति

की गयी है, अर्थात् नौ से न तो अधिक ही द्रव्य हैं, अथवा न कम ही है, ठीक नव ही द्रव्य हैं। परन्तु यहाँ पर कुछ लोगों का कहना है कि एक ही व्यापक द्रव्य को मानकर उसी व्यापक द्रव्य में उससे अतिरिक्त व्यापक द्रव्यों का अन्तर्भाव कर दिया जाय। चार व्यापक द्रव्यों में से एक ही व्यापक द्रव्य आत्मा रह जाता है, और चार पृथिवी-जल-तेज वायु हैं, मनका परमाणु में अन्तर्भाव कर दिया जाय, इस प्रकार पृथिवी से लेकर आत्मा तक पाँच ही द्रव्य होते हैं, अर्थात् पृथिवी जल-तेज-वायु और एक आत्मा इन पाँच ही द्रव्यों का अङ्गीकार कुछ विद्वानों ने किया है। नैयायिक सार्वभौम श्री दीधितिकार ने भी

"दिव-कालौ नेश्वरादतिरिच्येते"

ऐसा कहा, कि दिशा और काल ईश्वर में अर्थात् आत्मा में अन्तर्भूत हैं, स्वतंत्र कोई द्रव्य नही हैं। आकाश भी ईश्वर में ही अन्तर्भूत है।

दीधितिकार ने सात ही द्रव्यों का स्वीकार किया है, वे शब्दाश्रय के रूप में अर्थात् "शब्दवद् गगनम्" इस प्रतीति के आधार पर आकाश को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। मन आत्मा से संयुक्त होने पर ही ज्ञान इच्छा सुख दुःख आदि का उत्पादक होता है, अतः मनका अस्तित्व तो निराबाध ही है और चार द्रव्य पृथिवी आदि प्रत्यक्ष के ही विषय है, अतः उनका स्वीकार भी सर्वथा परमावश्यक है। केवल दिशा और काल इन दो द्रव्यों का ही स्वीकार इस मत में नही है। इस दृष्टि से सात ही द्रव्यों का स्वीकार इस मत में किया गया है।

कुछ नवीन विद्वान् लोगों का कहना है कि मन का असमवेत द्रव्य परमाणुओं में अन्तर्भाव है, इस दृष्टिकोण के आधार पर आठ ही द्रव्य मानना उचित हैं।

"मनसश्चाऽसमवेतभूतेऽन्तर्भावादित्याहुर्नवीनाः" .दिनकारी-द्रव्यनिरूपण

कतिपय विद्वानों का ऐसा भी कहना है कि मन का तो असमवेतभूत द्रव्यों में ही अन्तर्भाव है। काल दिशा का ईश्वर में अन्तर्भाव है। अतः छः ही द्रव्यों का स्वीकार उचित प्रतीत होता है।

कतिपय वेदान्ति प्रभृति दार्शनिको का भी कहना है कि तम (अन्धकार) जब कि दशम द्रव्य विद्यमान है तो उसका भी स्वीकार परमावश्यक है, इस दृष्टि से दस द्रव्यों का स्वीकार होना चाहिए। तम भी "नीलं तमश्चलति" इस प्रतीति के आधार पर गुणों का आश्रय एवं क्रिया का आश्रय होने के नाते उन्हीं आधेय-

भूत गुण और क्रिया आदि का समवायिकारण भी है। अतः द्रव्य का लक्षण जबकि तम में ही समन्वित हो रहा है तो उसे भी द्रव्य मानना सर्वथा उचित है।

तमः खलु चलं नीलं परापरविभागवत् ।
प्रसिद्धद्रव्यवैधर्म्यान्नवभ्यो भेत्तुमर्हति ।। दीपिका-तर्क संग्रह

और भी—":तमालश्यामलज्ञाने निर्बाधे जाग्रति स्फुटे ।
द्रव्यान्तरं तमः कस्मादकस्मादपलप्यते" ।। चित्सुखी

"अस्ति हि तमस्तमालश्यामलमिति प्रतीतिः" । चित्सुखी—तमोनिरूपण

इस प्रकार पृथिवी-जल आदि नव द्रव्यों से उसका वैधर्म्य होने से उन द्रव्यों में तम का अन्तर्भाव भी नहीं हो सकता है। इसलिये तम अतिरिक्त द्रव्य सिद्ध हुआ। परन्तु नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों का कहना है कि तम भावभूतद्रव्य ही नहीं है वह तो तेजोऽभावरूप होने से अभावभूत है। कहा भी है—

"तमो हि न रूपिद्रव्यम् आलोकाऽसहकृत चक्षुर्ग्राह्यत्वात् आलोकाभाववत्"
चित्सुखी

अर्थात् तम रूपवाला द्रव्य नहीं आलोक से निरपेक्ष चक्षु से ग्राह्य होने से आलोकाभाव की तरह-रूपिद्रव्य चाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणवत्—चित्सुखी

रूपवाले द्रव्यों के चाक्षुषप्रत्यक्षात्मक प्रमाज्ञान के प्रति आलोक (प्रकाश) कारण होता है। अन्यथा अन्धकार में भी रूपवाले घट-पट आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होगा, अतः महत्त्वावच्छिन्न उद्भूतरूपावच्छिन्न आलोक संयोगाावच्छिन्न चक्षुः संयोग ही रूप अथवा रूपवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण होता है। अतः आलोक सहकृत चक्षु ही रूपवाले द्रव्य का ग्राहक हुआ। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि तमरूपकी प्रतीति, चलनात्मक क्रिया की प्रतीति सर्वथा भ्रमपूर्ण है।

"तस्मात् प्रौढ़ प्रकाशकतेजः सामान्याभावस्तमः ।"
तत्र नीलं तमश्चलतीति प्रत्ययो भ्रमः" दीपिका-तर्क संग्रह

द्रव्य के विषय में वैद्यलोगों का कहना है कि रस-गुण-तथा वीर्य-विपाक और शक्ति इन पाँच का समाहार ही 'द्रव्य है। जैसे—

भिषजस्तु—रसो गुणस्तथावीर्यं विपाकः शक्तिरेव च ।
पञ्चानां यः समाहारस्तद्द्रव्यमिति कीर्त्यते ।। सुश्रुत—

यत्राश्रिताः कर्मगुणाः कारणं समवायि यत् । तद्द्रव्यम्—
(१ चरक-सूत्र-में द्रव्य लक्षण)

क्रियागुणवत् समवायिकारणं द्रव्यम् । (सुश्रुत-सूत्र-४०)
रसादीनां पञ्चानां भूतानां यदाश्रयभूतं तत् द्रव्यम् । (भावप्रकाश)

आयुर्वेद के विद्वानों ने द्रव्य का वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणों के आधार पर किया है। कार्य और कारण के भेद से द्रव्य दो प्रकार का है, अर्थात् कारण द्रव्य और कार्य द्रव्य। कारण द्रव्य वे हैं—जिनसे संसार के सभी कार्य द्रव्य उत्पन्न होते हैं, जैसे—पृथिवी आदि पंचमहाभूत-मन-आत्मा-काल और दिशा। इनसे उत्पन्न होनेवाले घट-पट-गोधूम-गुडूची आदि ये सब कार्य द्रव्य हैं।

एवं चेतन अचेतन भेद से फिर वे दो प्रकार के हैं। चेतन द्रव्य वे होते हैं, जिनमें चेतना शक्ति (आत्मा) का सम्बन्ध होता है, जैसे—जीवजन्तु एवं वृक्ष आदि। इसके विपरीत अचेतन (जड़) द्रव्य वह है जो चेतना शक्ति से सर्वथा शून्य हो, जैसे—घट-पट आदि। तच्चेतनावदचेतनञ्च। चरक सूत्र–२६

चेतन द्रव्य को फिर दो भागों में विभाजित किया गया है—अन्तश्चेतन वहिरन्तश्चेन। अन्तश्चेतन वह दव्य है जो चेतनाशक्ति की पूर्णरूप से अभिव्यक्ति न रखता हो, तथा जीवन की संवेदनाएं अस्पष्ट एवंप्रच्छन्न रूप से ही क्रियान्वित होती हों, जैसे—औद्भिद अथवा स्थावरद्रव्य। वहिरन्तश्चेतन उस द्रव्य को कहते हैं जिसके अन्दर चेतना शक्ति की वाह्य अभिव्यक्ति पूर्णरूप से स्पष्ट देखने में आती हो, जैसे—जङ्गम द्रव्य। उदाहरण के लिये सूर्य के उदय होते ही तदनुसार "सूर्यमुखी" पुष्प घूमने लगता है। गीदड़ आदि आरण्यक प्राणियों की चर्बी में गन्ध होने लगती है, एवं मद्य के परिषेक से आम में फल की निष्पत्ति देखने में आती है। किसी लज्जाशील अथवा सङ्कोचशाली व्यक्ति का यदि परस्त्री आदि से अज्ञानवश स्पर्श हो जाता है तो उसे बहुत ही लज्जा अथवा सङ्कोच होने लगता है, इत्यादि समस्त उदाहरण बहिरन्तश्चेतन द्रव्य के हैं। कहा भी है—

वृक्षगुल्मं बहुविधं तथैव तृणजातयः,
तमसाऽधर्मरूपेणाच्छादिताः कर्महेतुना ॥

अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुख-दुःख समन्विताः ॥ (मनुस्मृति अध्या. १)

मीमांसकों के यहाँ पदार्थों की संख्या विलक्षण ही है। उन्होंने पाँच ही

पदार्थों को स्वीकार किया है, उन पाँच पदार्थों में से कुमारिल भट्ट ने एवं उनके अनुयायी लोगों ने अन्धकार तथा शब्द इन दो को और अतिरिक्त द्रव्य स्वीकार किया है।

पृथिवी सलिलं तेजः पवमानस्तमस्तथा।
व्योमकालदिगात्मानो मनः शब्द इति क्रमात् ।।मानमेयोदय–द्रव्य प्रकरणे–पृ. १५१

इस प्रकार उन्होंने वैशेषिकमत सिद्ध नव द्रव्यों का स्वीकार करते हुए ग्यारह द्रव्यों का स्वीकार किया है। भाट्ट लोगों का कहना है कि जिस प्रकार किसी व्यक्ति की आवाज आने पर दूसरे व्यक्ति में चलनात्मक क्रिया का प्रारंभ हो जाता है, इसी प्रकार लालटैन आदि प्रकाश के आजाने पर अन्धकार में भी "नीलं तमश्चलति" "नीलं तमो व्रजति" इत्यादि प्रतीतियां होने लगती हैं। इन अबाधित प्रतीतियों के आधार पर तम के अन्दर नीलरूपात्मकगुण एवं चलनात्मक क्रिया का अस्तित्व अनुभव सिद्ध है। इससे अन्धकार को द्रव्य अवश्य ही मानना होगा। कुमारिल भट्ट मतानुयायी लोगों का कथन है जैसे—पृथ्वी—जल आदि स्वतंत्र द्रव्य हैं, अन्धकार द्रव्य है ऐसे शब्द भी द्रव्य है। —"मन्दः शब्दः" "महान् शब्दः" इस प्रकार की अबाधित प्रतीतियों के आधार पर गुणाश्रय शब्द में सिद्ध है। क्रियाश्रयत्व तो शब्द में स्पष्ट ही है कि यूरोप तक का शब्द यहाँ (भारत में) और भारत का शब्द यूरोप में आता जाता है, तो इससे शब्द को द्रव्यत्व सुतरां सिद्ध है। उसका द्रव्यत्व सर्वथा निराबाध है।

पृथिवी निरूपण

गन्धवत्त्वम्, गन्ध समवायिकारणत्वम्, पृथ्वित्वजातिमत्त्वम्, नानारूपवत्त्वम्, नाना रसवत्वम् इत्यादि पृथ्वी के लक्षण हैं। गन्ध पृथिवी का गुण है, और पृथिवी गुणी है। इन दोनों का समवाय सम्बन्ध है। अतः समवाय सम्बन्ध से गन्धवाला होना ही पृथिवी का लक्षण है। पाषाण को नैयायिक और वैशेषिकों ने पृथिवी माना है परन्तु गन्धवत्त्व आदि पृथिवी के लक्षण पृथिवी में समन्वित नहीं हो पा रहे हैं। अतः पृथिवी में इन लक्षणों की अव्याप्ति हो रही है। इस शङ्का का नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने यही उत्तर दिया कि पाषाण में भी अवश्य गन्ध है परन्तु वह उतनी उत्कट न होने के नाते स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। कहा भी है—

"अनुपलब्धिस्त्वनुत्कर्ष्वेनाप्युपपद्यते" न्यायसि. मु.

अन्यथा पाषाण (पत्थर) की भस्म (चूने) में कैसे गन्ध का स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष होता है ? पाषाण और पाषाणभष्म दोनों का कारण तो एक ही है, जो परमाणु है। साथ ही यह भी नियम है "यद् द्रव्यं यद् द्रव्यध्वंसजन्यं तत् तदुपादानोपादेयम्" अर्थात् जो द्रव्य जिस द्रव्य के ध्वंस से जन्य होता है वह द्रव्य उस द्रव्य के समवायिकारण से आरब्ध होता है, कारण कि जो परमाणुभूत अवयव पाषाण के आरंभक होते हैं, वे ही तो पाषाण भस्म के भी आरंभक होते हैं। इसलिए उन परमाणु स्वरूप अवयवों से आरब्ध पाषाण भस्म में जब गन्ध है तो उन्हीं अवयवों से आरब्ध पाषाण में भी अवश्य ही गन्ध है। उसमें गन्ध का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ? पाषाण में उत्कट गन्ध नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष नहीं होता है।

शुक्ल-नील-पीत आदि सातो प्रकार के रूप इसी पृथिवी के अन्दर रहते हैं। मधुर आम्ल-लवण आदि छः प्रकार के रस भी इसी पृथिवी के अन्दर रहते हैं तथा सौरभ असौरभ भेदवाली दो प्रकार की गन्ध भी इसी पृथिवी में रहती है। विशेषता इतनी है कि पृथिवी के रूप-रस-गंध स्पर्श ये चारो पाकज होते हैं। उदाहरण रूप में एक आम को ले। भगवान् भास्कर का संयोग होते २ उस आम के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श ये चारो बदल जाते हैं। इसलिए वे चारो पाकज हैं। "पाकाज्जायते" इति पाकजः। पाक नाम तेजः संयोग का है।

पृथिवी दो प्रकार की है—अवयवरूपा पृथिवी तथा अवयविरूपा पृथिवी। अवयवरूपापृथिवी की समाप्ति पार्थिवपरमाणु पर की गयी है और अवयविरूपा पृथिवी की समाप्ति महापृथिवी पर की गयी है। इसीलिये नैयायिक लोगों ने यह स्पष्ट घोषणा कर दी है कि शब्दकोशों के आधार जो पृथिवी शब्द से अचल अनन्ता धरित्री धरणी आदि अर्थों का बोध होता है परमाणु से लेकर महा-पृथिवी पर्यन्त रूप अर्थ से जानना चाहिये।

अवयवीरूपा पृथिवी

नैयायिक दर्शनिकों ने जन्य पृथिवी को दो भागों में विभाजित किया है— एक उपभोग्यरूपा पृथिवी दूसरी उपभोगसाधनभूता पृथिवी। उपभोग्य पृथिवी वह है जिसके सम्बन्ध के आधार पर प्राणी सुख या दुःख का उपभोग करते हैं। अर्थात् "अहं सुखी" "अहं दुखी" इस रूप से अनुभव सुषुप्तिकालातिरिक्त काल मात्र में नितान्त निरविच्छिन्न रूप से अनुभव करते रहते हैं। इस प्रकार

प्राणी उपभोग्य पृथिवी के सम्बन्ध के आधार पर सुख-दुख का अनुभव करता रहता है और वह उपभोग्यात्मिका पृथिवी अनन्त है असंख्य है। उपभोग का साधनीभूत पृथिवी दो प्रकार की है, शरीर और इन्द्रियाँ। शरीर और इन्द्रियों के आधार पर ही आत्मा (जीव) सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। परमाणुरूपा नित्य पृथिवी न उपभोग्य पृथिवी है और न उपभोग का साधन ही है। ये सब जन्य पृथिवी के ही स्वरूप हैं। जन्य पृथिवी अवयवीस्वरूपा पृथिवी मानी गयी है। नैयायिक तथा वैशेषिकों ने इसी को अवयवी माना है। किन्तु बौद्धदार्शनिकों का कहना है कि सभी घट-पट आदि जन्य पृथिवी परमाणुपुञ्ज, हैं पुञ्ज से अतिरिक्त स्वतंत्र अवयवी कोई वस्तु नहीं है। पुञ्ज पक्ष में जबकि परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता तो पुञ्जस्वरूप घट-पट आदि पृथिवी का भी प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, क्योंकि जब परमाणु स्वभाव से ही प्रत्यक्ष के अयोग्य है तब परमाणु पुञ्ज स्वरूप घट कैसे प्रत्यक्ष के योग्य हो सकता है ? बौद्धों ने कहा कि एक परमाणु प्रत्यक्ष के अयोग्य हो परन्तु परमाणु पुञ्ज का प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है। जैसे एक केश दूरसे प्रत्यक्ष नहीं होता है परन्तु केशसमूह का प्रत्यक्ष हो जाता है। नैयायिक का कहना है कि "एको महान् घटः यह प्रतीतिपुञ्ज पक्ष में कैसे उपपन्न हो सकेगी, परमाणु पुञ्ज यदि घट है तो पुञ्ज नाम समूह का है, अर्थात् घट परमाणु समूहरूप है, इसके परमाणु सूक्ष्म हैं, तो पुनः समूहात्मक घट में एकत्व और महत्त्व की "एको महान् घटः" यह प्रतीति कैसे हो सकेगी ? बौद्ध ने इसका उत्तर यही दिया कि सेना और वन के समान यह प्रतीति हो सकती है। अनेक सैनिकों को देखकर "महतीय मेकासेना" यह प्रतीति होती है। इसी प्रकार अनेक वृक्षों को देखकर "महदेक मिदं वनम्" यह प्रतीति होती है। इससे परमाणु समूहात्मक ही घट-पटआदि पदार्थ हैं न कि इससे अतिरिक्त स्वतंत्र अवयवीभूत हैं। नैयायिक के अनुसार "अयं घटः" "अयं पटः" इत्यादि व्यवहार योग्य घट-पट आदि पदार्थ प्रत्यक्षविषय होने के नाते पुञ्ज से अतिरिक्त स्वतन्त्र अवयवी रूप हैं न कि वे पुञ्जरूप हैं। अतीन्द्रिय होने के नाते प्रत्येक परमाणु में जबकि प्रत्यक्षविषयता नहीं है तब फिर परमाणुओं के पुञ्जभूतघट में प्रत्यक्षविषयता कहां से आगयी ? यह नियम है—

"प्रत्येकावृत्तिधर्मस्य समुदायावृत्तित्वनियमात्" सिद्धान्तलक्षण जागदीशी

अर्थात् जो धर्म प्रत्येक के अन्दर नहीं रहता है वह समुदाय के अन्दर भी

कैसे रह सकेगा ? दूरस्थकेश दृष्टान्त का प्रश्न तो विषम दृष्टान्त है। वह परमाणु के समान अतीन्द्रिय नहीं है, पास में उसका प्रत्यक्ष होता है। वह तो दूरत्व दोष के कारण अथवा कारणान्तर के नाते प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो पा रहा है। सेना वनके समान एकत्वप्रतीति भी पुञ्ज ये सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि वहाँ सेना वनस्थल में सेना एवं वन के अवयवभूत सैनिक तथा वृक्षों का पार्थक्य स्पष्ट रूप से गृहीत होता है, पुञ्जस्थल में वह बात नहीं है। इसलिये घट-पट आदि पदार्थों को पुञ्जरूप समझना सर्वथा व्यर्थ है, इससे पुञ्जातिरिक्त एक स्वतंत्र अवयवी नितान्त आवश्यक है।

परमाणु स्वरूप विवेचन

साधारणतया पृथिवी दो प्रकार की है नित्य और अनित्य, जन्य और अजन्य, सावयव और निरवयव। वह नित्य एवं निरवयव तथा अजन्य पृथिवी ही परमाणुरूपा पृथिवी कहलाती है। नैयायिक तथा वैशेषिकों ने उस परमाणुरूपा पृथिवी को नित्य इसलिये स्वीकार किया है कि वह ध्वंस का प्रतियोगी न होने से अविनाशी है, और प्रागभाव का प्रतियोगी न होने के नाते अनुत्पत्तिशील है, नित्य है— "प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम्"

परमाणु शब्द का वाच्य अर्थ है सबसे छोटा अणु, अर्थात् जिससे छोटा और कोई दूसरा पदार्थ न हो, अथात् जिसका कथमपि विभाजन न किया जा सके। जिसके अवयवों का किसी भी प्रकार विश्लेषण न किया जा सके वही परमाणु है।

आजकल के विज्ञानवादी लोग जिसे परमाणु कहते हैं वास्तविक में वह परमाणु हो नहीं है बल्कि उसे भाक्त अथवा पारिभाषिक परमाणु कह सकते हैं। यदि वैज्ञानिकों के परमाणु को वस्तुतः परमाणु शब्द से कहा जाय तो उसे फिर सावयव ही मानना होगा। इसी प्रकार उसके अवयव भी सावयव ही मानने होंगे। इस प्रकार अवयवावयवधारा का प्रारंभ हो जायेगा जिससे सुमेरु पर्वत एवं सर्षप के परिमाण में समान परिमाण की आपत्ति लग जायेगी। सरसों के अन्दर जितने परमाणु विद्यमान हैं पर्वत के अन्दर उससे कहीं अधिक लाखों परमाणु विद्यमान होंगे अतः दोनों समान परिमाणवाले कैसे हो सकते हैं ? यह नियम है कि अवयवों के न्यूनाधिक्य प्रयुक्त ही परिमाण में वैषम्य देखा जाता है। इसलिए अवयवावयवधारा की अनन्तता स्वीकार कर लेने पर परिमाण के तारतम्य में वैषम्य ही नही रह जायगा। यही साम्यपदार्थ है।

साम्यं च परिमाण तारतम्याभाव:" न्या. सि. मु. की विलासिनी टीका।

महत् परिमाण के तारतम्य की समाप्ति जिस प्रकार गगन आदि में कर दी जाती है कि गगन आदि से बड़ा परिमाण किसी का नहीं हैं इसी प्रकार सबसे छोटे अर्थात् अणुपरिमाण के तारतम्य की भी कहीं तो समाप्ति करनी ही होगी अर्थात् इस प्रकार की भी कोई चीज अवश्य होगी जिससे छोटी चीज और कोई न हो। जो वस्तु सबसे छोटी होगी वही वस्तु परम अणु होने के नाते परमाणु कहलाती है। और इस छोटे हिस्से का भी यदि विभाजन हो सकता हो अर्थात् इस छोटे हिस्से से भी अधिक छोटा कोई और हिस्सा अवश्य है, इस प्रकार छोटे से छोटे हिस्सों के भी यदि हिस्से होते चले जायेगें तो अनवस्था दोष हो जायेगा।

"अप्रामाणिकअनन्तपदार्थकल्पना अविश्रान्ति:" गुरुमुख से श्रुत—

अर्थात् अप्रामाणिक रूप से अनन्त पदार्थों की कल्पना करते चले जाना तथा कहीं विश्रान्ति अर्थात् समाप्ति ही नहीं, यही तो अनवस्था दोष कहलाता है। जैसे महत् परिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति गगन आदि में करनी पड़ती है। और जहाँ भी अणुपरिमाण के तारतम्य की विश्रान्ति करेगें वही परम अणु परिमाणवाला परमाणु है, वह नित्य तथा निरवयव है। परमाणु सर्वथा अविभाज्य है अर्थात् इसका विभाजन कथमपि नहीं हो सकता है। यह सबसे छोटे से छोटा हिस्सा है। यदि इसका भी विभाजन हो तो इसका मतलब है कि इससे भी कोई छोटा हिस्सा और अवश्य है। वह परमाणु अतीन्द्रिय होने के नाते प्रत्यक्ष के अयोग्य है।

"महत्त्वावच्छिन्न-उद्भूतरूपावच्छिन्न-आलोक संयोगावच्छिन्व-चक्षु: संयोग" चाक्षुष प्रत्यक्ष के प्रतिकारण सामग्री के रूप में स्वीकार किया गया है। परमाणु के अन्दर महत्त्व नहीं है इसीलिये परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है।

परमाणु की नित्यता

जो द्रव्य निरवयव होगा वह नित्य अवश्य ही होगा, जैसे—आकाश काल आदि, जैसे वेदान्त में एकमात्र ब्रह्म, सांख्य के यहाँ प्रकृति और पुरुष इत्यादि।

इसी प्रकार नैयायिक तथा वैशेषिकों के यहाँ परमाणु भी एक निरवयव द्रव्य माना गया है। निरवयव होने के नाते वह सर्वथा अविभाज्य है। और परमाणु

की अविभाज्यता ही उसके नित्यत्व का साधक है। जो निरवयव होगा वही अविभाज्य होगा, और वही नित्य भी होगा ऐसी प्रक्रिया है।

संसार के अन्दर जितने भी विभाज्य पदार्थों को हम देखते हैं वे सब सावयव तथा अनित्य हैं, और वे सब अपने अपने अवयवों के संयोग के द्वारा बने हुए है। घट-पट-मठ आदि समस्त अवयवीभूत द्रव्य अपने अपने मिट्टी एवं तन्तुओं आदि अवयवों के समुदाय विशेष से बने हुए हैं। घट क्या वस्तु हैं? ऐसा पूछने पर यही उत्तर मिलता है कि मिट्टी के अवयवों के समुदाय विशेष से विनिर्मित एक अन्तिम अवयवीभूत पार्थिव पदार्थ ही "घट" है। सूत के तन्तुओं के समुदाय विशेष के आधार पर बना हुआ एक अन्तिम अवयवीभूत पार्थिव पदार्थ "पट" है, जो आतान–वितात भावापन्न होकर शरीराच्छादन आदि कार्यों को संपन्न करता है। इस प्रकार संसार के अन्दर जितने भी पदार्थ दृष्टिगोचर होते है वे दर्शन विषयीभूत समस्त पदार्थ सावयव एवं अनित्य है तथा विभाज्य हैं। उनके अवयवों का परस्पर में विभाजन हो सकता है। हम घट को फोड़कर पट को फाड़कर उनके अवयवों को अच्छी प्रकार अलग-अलग कर सकते हैं। उन-उन अवयवों का अलग-अलग कर देना सी उन-उन अवयवों के अवयवी का विनाश कहलाता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि समस्त सावयव द्रव्यों का विनाश उनके अवयवों के पारस्परिक विभाजन के आधार पर ही अवलम्बित है। परमाणु स्वयं निरवयव हैं, इसलिये उनके अवयवों के आधार पर पारस्परिक विभाजन सर्वथा असंभव है। यही कारण है कि सब से सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ की संज्ञा नैयायिक तथा वैशेषिकों ने "परमाणु' निर्धारित की है। "परमाणु" शब्द का अर्थ है—परम अणु, अर्थात् अत्यन्त ही छोटा, जिससे छोटी और कोई चीज न हो। महर्षिवात्स्यायन ने इसी बात को इन शब्दों में कहा है—

"निरवयवत्वं खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रा-वस्थानात्। लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति। स चायमल्पतरप्रसङ्गो यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोऽल्पस्तत्र निवर्तते। यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महे" वात्स्यायन भाष्य—४—२—१६

पृष्ट—३९९—सुदर्शनाचार्य वाला

महर्षि गौतम ने भी परमाणु की परिभाषा की है—

"परं वा त्रुटेः" न्या. सू. ४–२–१७

अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण जिसे तोड़ा न जा सके, सर्वथा अविभाज्य एवं अविच्छेद्य हो वही परमाणु है।

परमत्वविशिष्टो ह्यणुः परमाणुः, यतः क्षोदीयो नापरम् अस्तीति यावत्। तस्मादपि चेत् क्षोदीयोऽन्यदस्ति, नैप परमत्वविशिष्टोऽणुरित्यर्थः—

न्या. वा. ता. टी.

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परमाणु निरवयव तथा नित्य है। और भी—

"अस्ति तावदयं परिमाणभेदः, तस्मादणुपरिमाणं क्वचिन्निरतिशयमिति सिद्धो नित्यः परमाणुः। सचैको नारम्भकः। न्या. कं. पृ. ७९

अर्थात् अणुपरिमाण के न्यूनाधिक्यभाव की कहीं तो अवश्य ही समाप्ति माननी होगी, जहां समाप्ति होगी वहीं परमाणु है। वह नित्य है। वह सबसे छोटा परिमाण किसी दूसरे परिमाण का आरंभ नहीं होता है।

अणुपरिमाण के कारणत्व का खण्डन

अणु परिमाण को विश्वनाथ पञ्चानन ने "पारिमाण्डल्य" शब्द से कहा है। वह अणुपरिमाण किसी का भी कारण नहीं होता है। नैयायिक तथा वैशेषिकों ने तीन वस्तुओं के परिमाण को अणुपरिमाण माना है, परमाणु के परिमाण को, द्वयणुक के परिमाण को, और मन के परिमाण को।

"पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्" भाषा परिच्छेद—

अणुपरिमाण के कारण न होने में उत्तर यही दिया गया कि अणुपरिमाण यदि कारण होगा भी तो अपने आश्रयीभूत द्रव्य से आरब्ध जो द्रव्य उसके परिमाण का आरंभक हो सकता है। प्रकृत में अणुपरिमाण के आश्रयीभूत द्रव्य दो हैं, परमाणु और द्वयणुक। परमाणु से आरब्ध द्रव्य द्वयणुक होता है, और द्वयणुक से आरब्ध द्रव्य त्र्यणुक (त्रसरेणु) होता है। परमाणु-परिमाण द्वयणुक के परिमाण त्र्यणुकपरिमाण का आरंभक हो सकता है। और द्वयणुक परिमाण त्रयणुक परिमाण का आरम्भक हो सकता है। परन्तु यह कदापि संभव नहीं है। परिमाण मात्र के विषय में ऐसा नियम है कि वह अपने समानजातीय तथा अपने से उत्कृष्ट अर्थात् बड़े परिमाण का कारण होता है। परिमाण की उत्कृष्टता तरप्-तमप् प्रत्यय प्रयुक्त ही मानी गयी है। ऐसा देखने में आता है कि कपाल का परिमाण अपने समान जातीय एवं

अपने से उत्कृष्ट घट के परिमाण का कारण होता है। कपालिका का परिमाण भी अपने समानजातीय तथा अपने से उत्कृष्ट कपाल के परिमाण का जनक होता है, अर्थात् कपालिका का परिमाण यदि महान् है तो उसके द्वारा बना हुआ कपालका परिमाण महत्तर हो जायगा और फिर कपाल के परिमाण से जब घट का परिमाण बनेगा तो घट का परिमाण उससे भी उत्कृष्ट अर्थात् महत्तम हो जायगा। इसी प्रकार परमाणु का अणुपरिमाण जब द्वयणुक के परिमाण को उत्पन्न करेगा तो द्वयणुक का परिमाण भी होगा, और उत्कृष्ट होने के नाते 'तरप्' प्रत्यय प्रयुक्त अणुतर हो जायगा, एवं द्वयणुक का अणुपरिमाण त्र्यणुक के परिमाण का कारण बनेगा तो वह त्र्यणुक परिमाण द्वयणुक के अणुपरिमाण के समानजातीय तथा उससे से भी उत्कृष्ट होगा, द्वयणुक का अणुपरिमाण यदि अणुतर है तो वह अणुतम हो जायगा। इस प्रकार त्रसरेणु का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, कारण कि त्रसरेणु का अणुतम परिमाण है और प्रत्यक्ष में महत्त्व को कारणता है। "अणुपरिमाणं तु न कस्यापि कारणम्। तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणारंभकं भवेत्। तच्च न संभवति, परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट परिमाणजनकत्वनियमात्, महदारब्धस्य महत्तरत्ववदणुजन्यस्याऽणुतरत्वप्रसङ्गात्" सि. मु.

इसी प्रकार परममहत् परिमाण-अतीन्द्रिय सामान्य और विशेष ये भी किसी के कारण नहीं होते हैं।

परमाणु की नित्यता के साधक प्रमाण

परमाणु की नित्यता के साधक बहुत से प्रमाणों का उल्लेख तो हम पहले कर चुके हैं। परन्तु यहाँ पर हम परमाणु की नित्यता के साधक विशेष प्रमाण का उल्लेख करते हैं। नैयायिक तथा वैशेषिकों ने अन्तिम तथा अविभाज्य अर्थात् सर्वथा विभाजन के अयोग्य अवयव को नित्य माना है। किन्तु परमाणु की नित्यता का साधक एतावन्मात्र प्रमाण ही पर्याप्त नहीं है, इसके अतिरिक्त भी नैयायिकों ने कहा कि अणुपरिमाण की समाप्ति जहाँ भी की जायगी उसे नित्य ही मानना होगा। अन्यथा उसे यदि अनित्य स्वीकार करेंगे तो असमवेत भावकार्य की उत्पत्ति का प्रसंग लग जायगा। अभिप्राय यह है कि जितने भी घट-पट आदि भावकार्य हैं वे सब अपने-अपने अवयवों में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। जैसे—घट

भावकार्य है वह अपने अवयव कपाल में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता हैं, पट भी भावकार्य है वह अपने अवयव तन्तुओं में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी का नाम है—समवेत भावकार्योत्पत्ति। यह उत्पत्ति तो अनुभव-सिद्ध है कि भावकार्य मात्र ही अपने अवयव में समवेत होकर उत्पन्न होता है, ऐसा घट-पट आदि भाव कार्य के विषय में देखने में आता है।

इस प्रकार जहाँ भी अवयव धारा की समाप्ति होगी वह अन्तिम अवयव होने के नाते असमवेत ही होगा, कारण कि उसका भी यदि कोई अवयव होता तो उसमें वह समवेत होता, परन्तु वह तो स्वयं अन्तिम अवयव है, अतः उसका तो कोई अवयव है नहीं। अब यदि उसे अनित्य मानेंगे तो वह भी अनित्य होने के नाते घट-पट आदि के समान भावकार्य ही होगा। उधर तो अन्तिम अवयव होने के नाते असवेत हुआ, और इधर यदि उसे अनित्य मान लिया जाता है तो इस नाते वह कार्य हुआ, इस प्रकार असमवेत भावकार्य की उत्पति सर्वथा असंभव है। अतः "यत्रतु विश्रामस्तस्यानित्यत्वेऽसमवेतभावकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः"

सि. मु.

इसलिये जहाँ भी अवयव धारा की समाप्ति करेगें उस अन्तिम अवयव को नित्य ही स्वीकार करना होगा, और वही परमाणु है,

उस परमाणु का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हैं—

जालांतर्गते भानौ सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमौ भागः परमाणुः प्रकीर्त्ततः।

इससे यह सिद्ध हो रहा है कि छः परमाणुओं से त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है परंतु कतिपय विद्वानों का कहना है कि छः परमाणुओं से ही त्रसरेणु की उत्पत्ति मानना उचित नहीं है।

परमाणु के सद्भाव में प्रमाण

अन्य समस्त दार्शनिकों के समान नैयायिक तथा वैशेषिकों ने भी सूक्ष्म से स्थूल की उत्पत्ति मानी है। "पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि" इस ईश्वरकृष्ण के वाक्य से स्पष्ट है कि पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमभूतों की उत्पत्ति है। इसी प्रकार वेदान्ति प्रभृति दार्शनिकों के यहाँ भी है। जिस प्रकार सांख्य प्रभृति दार्शनिकों के यहाँ पंचतन्मात्राप्रभृति सूक्ष्म पदार्थों से स्थूलजगत् की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार

नैयायिक तथा वैशेषिकों के यहाँ भी परमाणुओं से ही स्थूल जगत् की उत्पत्ति होती है। परमाणु सूक्ष्माति सूक्ष्म होता है।

"दूर सूक्ष्मादि दृष्टौ स्यात्" इत्यादि प्रमाण के आधार पर योगी लोगों के प्रत्यक्ष के विषय परमाणु आदि अतीन्द्रिय पदार्थ माने गये हैं, इससे परमाणु आदि में प्रत्यक्ष प्रमाणगम्यत्व सुस्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त परमाणु को अनुमानप्रमाणगम्य भी माना है—"त्रसरेणुः सावयवःचाक्षुपद्रव्य-त्वात् घटवत्" इस अनुमान से द्व्यणुक की सिद्धि करके, फिर—

"त्रसरेणोरवयवाः सावयवाः महदारम्यकत्वात् कपालवत्" इस अनुमान से परमाणु की सिद्धि स्पष्ट है।

जगदीशतर्कालंकार ने तो परमाणु और द्व्यणुक दोनों के सद्भाव को एक ही अनुमानप्रमाण के आधार पर सिद्ध किया है—"त्रसरेणुः सावयवद्रव्यारब्धः बहिरिन्द्रियवेद्यद्रव्यत्वात्" "बहिरिन्द्रियवेद्यद्रव्यं यत् तत् सावयवद्रव्यारब्धं यथा घटः" तर्कामृत—एवं "जालसूर्यमरीचिस्थं यद् रजः उपलभ्यते तत् सावयवम् चाक्षुषद्रव्यत्वात् पटवत्" "अणुकावयवोऽपि सावयवः महदारम्भकत्वात् तंतुवत् यो द्व्यणुकावयवः सएव परमाणुः" त. दी. इस प्रकार बहुत से मत-मतांतर सिद्ध अनुमान प्रमाणों के आधार पर परमाणु का सद्भाव सिद्ध हो रहा है। उस परमाणु को नित्य ही मानना उचित है, कार्य रूप मानने से अनवस्था दोष का प्रसङ्ग हो जायगा। इसके अतिरिक्त असमवेत भावकार्योत्पत्ति प्रसङ्ग, मेरु और सर्षप में तुल्यत्व प्रसङ्ग आदि बहुत से दोष संभावित हैं।

परमाणु में पाक होता है

पृथिवी के परमाणु में रहने वाले रूप-रस-गंध-स्पर्श ये चारों अग्निसंयोग से परिवर्त्तनशील माने गये हैं, अर्थात् पार्थिवपरमाणु के साथ अग्निसंयोग होने पर पहले के रूप-रस-गंध-स्पर्श ये चारों नष्ट हो जाते हैं और फिर से दूसरे रूप-रस-गंध-स्पर्श उत्पन्न होते हैं। दृष्टांत के लिए आम को ले! यह पाक पृथिवी में ही होता है अन्यत्र नहीं। जलको सैंकड़ों बार तपाने पर भी उसके रूप-रस आदि में किसी भी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं देखते हैं, एकमात्र पृथिवी में ही परिवर्त्तन होता हुआ देखा जाता हैं, यह एक दूसरी बात है कि पृथिवी में भी कोई परमाणु

में पाक मानते हैं, और कोई अवयवी रूप पृथिवी में अर्थात् घटादिरूप पृथिवी में ही पाक का स्वीकार करते हैं। जल में उष्णता का तथा सुगंध का अनुभव कभी २ होता है वह सर्वथा औपाधिक है ऐसा अन्वय व्यतिरेक के आधार पर निश्चय किया जाता है, अर्थात् जल के साथ तेज: संयोग होने पर ही उसमें उष्णता का अनुभव होता है, एवं किसी सुगन्धित पदार्थ का जल के साथ संयोग होने पर जल के अंदर (सौरभ) अनुभव होता है। जिस काल में जल के साथ पृथिवी एवं तेज का संयोग नहीं है उसकाल में जल में न तो उष्णता का ही अनुभव होता है और न सुगंध का ही। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक के द्वारा जल में उष्णता और सुगन्ध ये दोनों औपाधिक होते हैं, ऐसा निश्चय किया जाता है। इसलिये जल के अन्दर रहने वाले रूप रस गंध स्पर्श ये चारो पाकज नहीं है। इस विषय में अनुमान भी प्रमाण है—

"जले उपलभ्यमानसौरभादिकं जलासमवेतं पृथिवव्याद्युपाधिसम्बधसत्ताकालीन-सत्तावत्वे सति तादृशोपाधिसम्बंधसत्ताशून्यकालीनसत्ताशून्यत्वात्"

विलासिनी टीका न्या० सि० मु० ज्वाला प्रसाद कृत

अर्थात् जल के अंदर उपलभ्यमान सौरभ तथा उष्णता आदि जल में समवेत नहीं हैं, क्योंकि पृथिवी ऐवं तेज का औपाधिक सम्बंध जिसकाल में जल के साथ है उसकाल में जल में उष्णता और सुगंध का अनुभव होता है। जिसकाल में औपाधिक सम्बंध नहीं है उस काल में जल में औषराय और सौरभ का अनुभव नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक से औपाधिक हो गंध स्पर्श आदि भास-मान होते हैं।

परमाणु के विषय में विशेषविवेचन

मन से भिन्न मूर्त्त होता हुआ जो निरवयव हो उसी का नाम परमाणु है। वह परमाणु जन्यद्रव्यावयव है, क्रियावान्-गुणवान्-नित्य तथा निरवयव एवं अतीन्द्रिय है। इस विषय में नवीन तथा प्राचीन (वैशेषिक) इन दोनों सिद्धांत का ऐक्य है। परमाणुओं का विस्तार ही जगत है। संयुक्त परमाणुओं से जगत् की रचना एवं निर्माण तथा विस्तार होता है। विभक्त हुए ही परमाणु जगत की रचना एवं विस्तार को समाप्त कर प्रलयाऽऽरंभ कर देते हैं।

जगत की रचना एवं प्रलयारंभ के प्रति ईश्वर की चिकीर्षाप्रयुक्त परमाणुओं का प्रवृत्तिप्रकार ही एकमात्र कारण है। परमाणु जड़ होने के नाते किसी चेतन की इच्छा से ही किसी भी कार्यारंभ के लिये प्रवृत्तिशील होते हैं। इन

परमाणुओं को ही जगत का मूलभूत उपादान कारण नैयायिक तथा वैशेषिकों ने स्वीकार किया है, सावयव मानने पर उनका मूलत्व ही नष्ट हो जाता है, इसलिये उन्हें निरवयव मानकर हो जगत का कारण अङ्गीकार करना श्रेयस्कार होगा। बौद्धदार्शनिकों ने "पुद्गल" को ही परमाणु शब्द से कहा है। वह "पुद्तल" किसी भी द्रव्यात्मक वस्तु का सबसे छोटा हिस्सा है, वह अविभाज्य तथा निरवयव है। क्षणभङ्गी होने के नाते बौद्धों ने उसे भी अन्यपदार्थो के समान उत्पादविनाशशाली माना है। यहाँ सभी पदार्थ क्षणिक हैं अतः पुद्गल परमाणु भी क्षणिक हैं। समस्त पदार्थों को एक क्षण स्थायी माना है, इसलिए उनका दूसरे क्षण में ध्वंस हो जाता है, इससे उनके यहाँ स्वाव्यवहितोत्तरक्षण-वृत्तिध्वंस प्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्व फलित होता है।

बौद्धों का कहना है कि यह समस्त दृश्य जगत एकमात्र पुद्गल का ही विस्तार है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि नाना पुद्गलों से मिलकर जिस स्कंध का निर्माण होता है उसे संयुक्तद्रव्य अर्थात् अनेक द्रव्य अर्थात् पुञ्ज कहते हैं। घट-पट आदि समस्त संयुक्त द्रव्य इनके यहाँ पुञ्ज रूप ही हैं। इनके यहाँ अवयव से अतिरिक्त अवयवी का स्वीकार नहीं है, किंतु अवयवों के समुदाय अर्थात् पुञ्ज को ही अवयवी माना है। इन्होंने पुद्गल के स्कंध-स्कंधदेश-स्कंधप्रदेश-एवं परमाणु ये चार प्रकार के विभाजन माने हैं।। इसका प्रमाण है—

खंधाय खंधदेसा खंधप्रदेशा य होंति परमाणू।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥ पञ्चास्तिकाय-गाथा—७४—७५

सर्वास्तिवादी लोगों ने जो परमाणुवादका अङ्गीकार किया है, वह अङ्गीकार संघात परमाणु से मिलता-जुलता है। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवादियों ने चौदह प्रकार के परमाणु माने हैं। पाँच ज्ञानेंद्रिय-पाँच उनके विषय और चार महाभूत। ये ही संघात परमाणु कहलाते हैं।

वसुवंधु ने तो स्पष्ट कहा है कि हमारे यहाँ परमाणु शब्द से द्रव्य परमाणु विवक्षित नहीं बल्कि संघातपरमाणु ही विवक्षित है। वैसे द्रव्य परमाणु का भी वसुबंधु ने प्रकारांतर से स्वीकार किया है, सर्वथा द्रव्यपरमाणु का भी उन्होंने अनङ्गीकार नहीं किया है। इन संघात परमाणुओं से सूक्ष्मवस्तु कोई नहीं है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर परमाणुओं को इन्होंने भी अविभाज्य एवं निर-वयव माना है। सौत्रान्तिकों ने परमाणु को रूप-रस-गंध-स्पर्श इन चार .प्रकार

के द्रव्यों से विनिर्मित माना है। उनके यहाँ इन्हें भी द्रव्य माना गया है। द्रव्यत्व उनके यहाँ पारिभाषिक है। नैयायिक अथवा वैशेषिकों वाला द्रव्यत्व इनके यहाँ नहीं है।

तुलना

वैशेषिकों ने परमाणु को नित्य अर्थात् विनाशाप्रतियोगी ऐवं प्रागभावाप्रतियोगी, सत्, भावस्वरूप, अकारणवत्, अतीन्द्रिय तथा परमसूक्ष्म निरवयव, एवं अविभाज्य एक तत्त्व माना हैं। यही कार्यभूत अवयवी द्रव्यों का मूलकारण है। ये ही परमाणु द्व्यणुक आदि के क्रम से महापृथिवी अर्थात् स्थूलपृथिवी, महाजल, महातेज, और महावायु इन चार प्रकार के भूतपदार्थों को उत्पन्न करते हैं, जिनसे फिर इस चराचर विश्व की उत्पत्ति होती है। परन्तु फिर भी कहना यही पड़ेगा कि इस दृश्य जगत का मूल कारण परमाणु ही हैं। वैशेषिकों ने परमाणु को त्रसरेणु का छठा हिस्सा माना है।

परन्तु वैभाषिकों के यहाँ इसकी प्रक्रिया बिल्कुल भिन्न है। उन्होंने सात परमाणुओं का एक अणु माना है, और सात अणुओं का एक लोहरज, सात लोहरज का एक अब्रज, तथा सात अब्रज का एक शशरज, एवं सात शशरज का एक अविरज, सात अविरज का एक गोरज, सात गोरज का एक छिद्ररज, यही छिद्ररज वैशेषिकों का त्रसरेणु है। बौद्धवैभाषिकों के यहाँ यह बिल्कुल एक विलक्षण प्रक्रिया है, जो कि किन्हीं भी भारतीय दार्शनिकों के यहाँ देखने में नहीं आती है, केवल बौद्धों के यहाँ यह प्रक्रिया देखने में आती है, बौद्धों में भी वैभाषिकों के यहाँ ही केवल है।

जैनमतसिद्ध परमाणु

जैनमतसिद्ध परमाणु पुद्गलद्रव्यस्वरूप है। जैनदार्शनिकों ने रूप[1]-रस-गन्ध-स्पर्शवाले "पुद्गलद्रव्य" को ही परमाणु शब्द से कहा है। जिस द्रव्य के विषय में ऐसा देखने में आता है कि स्कन्धावस्था में अन्य परमाणुओं के साथ संयुक्त अथवा विभक्त होने पर वृद्धि अथवा ह्रास को प्राप्त होता रहे उसी को जैनदार्शनिकों ने पुद्गल माना है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् इसी पुद्गलद्रव्य का विस्तार तथा प्रसार है। अनेक परमाणुओं के अथवा परमाणुसमुदाय के आधार पर स्कन्ध का निर्माण होता है उसे संयुक्तद्रव्य अथवा अनेकद्रव्य कहते हैं।

1. "स्पर्श रस गन्ध वर्णवन्तः" पुद्गलाः तत्त्वार्थ सूत्र ५।२२।

पुद्गल अर्थात् परमाणु जबतक अपनी संयोगात्मिका शक्ति के आधार पर एक दूसरे से बद्ध रहते हैं तब तक उन्हें स्कन्ध कहते हैं, इसीलिये स्कन्धों का उत्पाद और विनाश परमाणुओं की संयोगात्मिका तथा विभागात्मिका शक्ति के आधार पर ही निर्धारित है।

जैनदार्शनिकों का कथन है कि हरएक परमाणु के अन्दर एक रूप-एक रस-एक ही गन्ध और दो स्पर्श स्वाभाविकरूप से होते हैं। शुक्ल-नील-पीत रक्त-और कृष्ण इन पांच प्रकार के रूपों में से कोई भी एक रूप अवश्य ही परमाणुओं में होता है जो परिवर्तनशील-पाकज और अनित्य है। मधुर-आम्ल-कटु-कषाय और तिक्त इन पांच प्रकार के रसों में से कोई एक रस भी अवश्य ही होता है, वह पाकज होने के नाते परिवर्तनशील एवं अनित्य है। इसी प्रकार उन परमाणुओं के अन्दर सुरभि तथा असुरभि अर्थात् सुगन्ध और दुर्गन्ध इनमें से एक गन्ध भी अवश्य ही रहती है, एवं शीत तथा उष्ण, स्निग्ध एवं रूक्ष इनमें में एक एक स्पर्श भी अवश्य ही रहते हैं।

जैनदार्शनिकों ने भी उस पुद्गल द्रव्य स्वरूप परमाणु को अत्यन्त सूक्ष्म-अविभाज्य-एवं उत्पाद विनाशशाली माना है। बौद्धों के समान ही इन्होंने भी पुद्गलद्रव्य को भी स्कन्ध-स्कन्धदेश स्कन्ध प्रदेश-एवं परमाणु इन चार भागों में विभाजित किया है। शरीर-मन-इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियग्राह्य विषय आदि समस्त पदार्थों को पुद्गल द्रव्य स्वरूप परमाणुओं का ही परिणाम[1] माना है, इसीलिये वे अनित्य है। इन परमाणुओं के पारस्परिक संयोग के आधार पर ही स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। दो परमाणुओं से एक द्वयणुक उत्पन्न होता है और तीन परमाणु से एक त्र्यणुक, एवं चार से चतुरणुक तथा पाँच से पञ्चाणु और छः से षष्ठक स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। फिर इनसे महास्कन्ध उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्तक्रम से ये परमाणु ही सृष्टिक्रम के आरंभक हैं।

वैशेषिकों ने तथा नैयायिकों ने जिन्हें और दूसरी वस्तुओं का धर्म माना है तथा पदार्थान्तर के रूप में स्वीकार किया है जैनदार्शनिकों ने उन्हें परमाणु का ही पर्यायवाची माना है। जैसे—

"शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाय, तपो, द्योतवन्तः च"

अर्थात्—शब्द–बन्ध–सूक्ष्मता–स्थूलता–संस्थान–भेद–तम–छाया–आतप और उद्योग ये सब परमाणु के पर्यायवाची हैं।

---

१. "शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम्" तत्त्व। सू० ५।१९।

नैयायिक तथा वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, परन्तु इन्होंने उनके विपरीत परमाणुका पर्यायवाची माना है।

वैशेषिक मत में विशेषातिशयित्व

जितने भी परमाणुवाद को स्वीकार करनेवाले दार्शनिक हैं उन सभी में वैशेषिकों के मत में विशेष अतिशयित्व देखने में आता है। पाकज प्रक्रिया का निरुपण एवं निर्वचन कहीं भी अन्यत्र दर्शनों में नहीं पाया जाता है। यह एकमात्र न्याय तथा वैशेषिक दर्शन में ही विशेषातिशयित्व उपलब्ध है।

इन्होंने रूप-रस-गन्ध-स्पर्श इन चारों की पाकजता को पृथिवी में ही अङ्गीकार किया है। जिस पाकज प्रक्रिया की प्रतीति-अनुभव एवं उपलब्धि अन्यत्र किसी भी दर्शन में देखने में नहीं आती है, उस पाकज प्रक्रिया को विवेचन न्याय तथा वैशेषिक में क्षणप्रक्रिया के प्रदर्शन के आधार पर इतना सुन्दर किया गया है कि जिसका महत्त्व सर्वथा शब्दातीत है। परमाणु का अङ्गीकार किसी न किसी रूप में किया तो सभी दार्शनिकों ने है, और उसे उन्होंने अविभाज्य भी माना है, निरवयव भी माना है, केवल नित्य न मानकर अनित्य मान लिया है। प्रलय के पश्चात्सृष्टि का क्रम न्याय-तथा वैशेषिक दर्शन को छोड़कर किसी भी दर्शन में उचित तथा सुचारु रूप से संपन्न नहीं हो पा रहा है। प्रलयकाल में सांख्य-वेदांती-मीमांसक एवं बौद्ध प्रभृति दार्शनिकों के यहाँ कोई ऐसी वस्तु ही नहीं रह जाती है जो सृष्टि को उत्पन्न करे। सांख्यलोग प्रकृति को ही जगत् का कर्त्ता मानते हैं परन्तु वह स्वयं जड़ होने के नाते कैसे कर्त्ता हो सकती है? कर्त्ता चेतन ही हो सकता है। क्योंकि कर्तृत्व और चैतन्य की सामानाधिकरण्येन प्रतीति होती है। दूसरी बात यह भी है कि कर्त्ता जब भी होगा तो द्रव्य ही होगा। हाँ इतनी बात अवश्य है कि द्रव्यातिरिक्त पदार्थ गुण-कर्म आदि कारण अवश्य हो सकते हैं।

तीसरी बात यह भी है कि प्रकृति और पुरुष का संयोग हुआ कैसे? यह भी तो सांख्यदार्शनिकों ने नहीं बतलाया। केवल "पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगः—ततकृतः सर्गः" इतना ही तो उन्होंने कहा है, अर्थात् लंगड़े और अन्धे की तरह इन दोनों प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है। उस संयोग से इस सृष्टि का निर्माण होता है। परन्तु प्रकृति और पुरुष इन दोनों का संयोग हुआ कैसे? जैसे-घट और भूतल का संयोग घट प्रतियोगिक तथा भूतलानुयोगिक

कहलाता है, उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का यह संयोग क्या प्रकृति प्रति-योगिक पुरुषानुयोगिक है ? अथवा पुरुष प्रतियोगिक प्रकृत्यनुयोगिक है ?

यद्यपि द्विष्ठ होने के नाते अथवा विशिष्ट बुद्धि का नियामक होने के नाते या द्वित्वविशिष्ट होने के नाते सम्बन्ध मात्र ही प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों में रहने वाला है, जैसे—घट का संयोग घट में भी रहता है। परन्तु फिर भी वह संयोग घट प्रतियोगिक तथा भूतलानुयोगिक ही कहलाता है, कारण कि संयोग सम्बन्ध से घट भूतल में रहता है, ऐसी प्रतीति होती है न कि भूतल संयोग सम्बन्ध से घट में रहता है यह प्रतीति होती है। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष का संयोग यदि प्रकृतिप्रतियोगिक और पुरुषानुयोगिक होता है तो इसका अर्थ हुआ प्रकृति संयोग सम्बन्ध से पुरुष में रहती है। यदि वह संयोग पुरुषप्रतियोगिक प्रकृत्यनुयोगिक है तब इसका अर्थ हुआ कि पुरुष संयोग सम्बन्ध से प्रकृति में रहता है।

पाकजप्रक्रिया के आधर न्याय का महत्त्व

नैयायिक तथा वैशेषिकों ने विभागज विभाग संयोगज संयोग एवं पाकज प्रक्रिया आदि का इतना सुन्दर विशेष विवेचन किया है कि जो अन्यत्र सर्वथा अनुपलब्ध है। इसमें भी इन लोगों ने पाकजप्रक्रिया का निरूपण द्वणकूट के आधार पर जो किया वह अत्यन्त ही महत्त्वप्रद है।

इस विषय में वैशेषिकों का कहना है कि रूप-रस-गन्ध स्पर्श इन चारों का अग्निसंयोग के आधर पर पृथिवी ही में पाक होता है, और पृथिवी में भी परमाणु रूपा पृथिवी में ही पाक होता है ऐसा वैशेषिकों का कहना है, अर्थात् अवयव में ही पाक होता है ऐसा उनका कथन है। वैशेषिकका वास्तविक अभिप्राय यह है कि अवयव अवयवी से ढक जाते हैं अतः अवयवों में पाक होना सर्वथा असंभव है। अग्नि के स्थान (आवे) के अन्दर जब हम घट को रख देते हैं उस समय अग्नि क वेगातिशययुक्त संयोग से उस अवयवी रूप घट के समस्त अवयवभूत परमाणु अलग-२ हो जाते हैं और पूर्व (श्याम) घट नष्ट हो जाता है। और फिर अग्निसंयोग से प्रत्येक अलग २ हुए परमाणुओं में पाक होता है। उसके बाद उन पक्व परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से द्वयणुक त्र्यणुक आदि के क्रम से फिर महावयीपर्यन्त घट आदि द्रव्य उत्पन्न हो जाते हैं। अग्निरूप तेज के अत्यन्त वेगातिशय के कारण झटिति पूर्वव्यूह (श्यामघट) का नाश होकर व्यूहांतर (रक्तघट) की उत्पत्ति हो जाती है।

इस प्रकार वैशेषिकों के यहाँ पार्थिवपरमाणुओं में क्रिया-विभाग पूर्व संयोग नाश आदि वक्ष्यमाण (आगे कही जाने वाली) रीति से घट आदि अवयवियों के विनाश हो जाने पर स्वतंत्र परमाणुओं में पाक होता है। इसके बाद फिर उन पक्वपरमाणुओं के संयोग से दूसरा अवयवी रक्तघट उत्पन्न होता है, और उस रक्तघट में कारणगुणों के क्रम से रूप-रस आदि गुणों की उत्पत्ति होती है। इसी लिए वैशेषिकों को पीलुपाकवादी कहा गया है। पीलु नाम है अवयवों का अर्थात् जो अवयवों (परमाणुओं) में पाक मानता है उसे पीलुपाकवादी कहते हैं।

यहाँ पर पीलुपाकवादी वैशेषिकों के यहाँ यह एक विचारणीय विषय उपस्थित हो जाता है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होकर फिर क्रिया से विभाग, और विभाग से पूर्व संयोग के नाश आदि क्रम से पूर्वद्व्यणुक (श्यामद्व्यणुक) का नाश हो जाता है तब फिर वह अपने विनाशकाल से लेकर फिर कालाँतर में उत्पन्न हुआ द्व्यणुक कितने क्षणों में रक्तरूप वाला होता है ? इसी प्रकार फिर त्र्यणुक आदि की भी व्यवस्था विचारणीय है। ऐसी परिस्थिति में वैशेषिक दार्शनिकों ने तथा उनके अनुयायी अवांतर दार्शनिकों ने पाँच क्षण से लेकर एकादश ११ क्षण पर्यन्त क्षणात्मक काल का उल्लेख किया है। इन क्षणों का परिगणन अत्यंत विस्तृत एवं गंभीर है अतः इसका विशद विवेचन फिर यथासमय किया जायगा।

इस विषय में नवीननैयायिकों का कहना है कि कुम्भकार जब घटों को पकाने के लिये किसी पाकविशेषस्थान (आवे) आदि में रखता है उस समय वह कभी २ किसी घट विशेष को चिह्नित बना देता है। पकने के पश्चात् उस उस स्थान विशेष से उसे निकालने पर "सोऽयं घट" यह वही घट है इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा देखने में आती है। यह प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान घटात्मक अवयवी में पाक मानने पर ही निर्भर है, कारण कि अवयवों (परमाणुओं) में पाक मानने पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वह चिह्न उसमें अवश्य ही मिलेगा, तथा उसी रूप में उसी स्थान पर मिलेगा इत्यादि।

इसके अतिरिक्त श्यामद्व्यणुक के विनाश के लिए विभक्त हुए परमाणु क्या पहले की तरह से ही फिर संयुक्त हो जायेंगे ? यदि नहीं तो नवीन नैयायिकों का कथन और सिद्धांत ही मान्य और श्रेयस्कर जान पड़ता है ? अर्थात् अवयवी में ही पाक मानना सर्वथा उचित है।

अब इस पक्ष में विचारणीय विषय एक यह उपस्थित हो जाता है कि घट के वाह्य प्रदेश में चारों तरफ से अग्नि का संयोग विद्यमान है अतः घट के वाह्य प्रदेश के परिपक्व होने में कोई भी सन्देह अथवा विवाद नहीं है। परन्तु घट के अन्तः प्रदेश में पाक कैसे होगा ? कारण कि घट के अन्दर के हिस्से के साथ अग्नि का संयोग ही नहीं है। इसका उत्तर नैयायिकों ने यही दिया कि पृथिवी के परमाणुओं से जल के परमाणु सूक्ष्म होते हैं, और उनसे तेज के परमाणु सूक्ष्म होते हैं। इधर घट भी सच्छिद्र होता है, यह भी अनुभव सिद्ध है। इसलिये परमसूक्ष्म अग्निरूप तेज के परमाणु घट के छिद्रों द्वारा घट के अन्दर प्रविष्ट होकर घट के अन्दर के भाग को भी परिपक्व बना देते हैं। घट के वाह्यप्रदेश के साथ तो अग्नि का संयोग निर्विवाद है ही, उसमें तो किसी भी प्रकार का सन्देह ही नहीं है।

परमाणु वाद की समालोचना

नैयायिक तथा वैशेपिकों ने परमाणुओं को इस चराचर विश्व का कारण माना है। उन लोगों का कहना है कि सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद फिर सृष्टि, यह क्रम अनादि प्रवाह के रूप में हमेशा ही चलता रहता है। इस क्रम का प्रधान कारण परमाणुओं को ही माना गया है, क्योंकि महापृथिवी महातेज और महावायु इन चारों अवयवी भूत द्रव्यों की उत्पत्ति इनके परमाणुओं से ही नैयायिक तथा वैशेपिकों ने मानी है।

नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि घट-पट आदि समस्त सावयव जगत आदि और अन्त वाला है। परमाणु ही उस सावयव जगत के आदि और अन्त का भी कारण हैं। परमाणुओं का संयोग आदिकारण और परमाणुपर्यन्त विभाग अन्त का कारण है। जीवों के अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। वह क्रिया अपने आश्रयीभूत परमाणुओं में पारस्परिक संयोग को उत्पन्न करती है, फिर द्वयणुक आदि क्रम से उन परमाणुओं के संयोग से पृथिवी-जल-तेज-वायु ये चार प्रकार के भूतद्रव्य उत्पन्न होते हैं। आकाश काल दिशा आत्मा और मन ये पाँच द्रव्य नित्य होने के नाते पहले ही से विद्यमान हैं। इन सबों की सहायता से इन्द्रियों सहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह समस्त विश्व पूर्वोक्तपरमाणुओं से उत्पन्न माना गया है।

अब यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि इस समस्त जगत के कारणीभूत संयोग का कारण जो क्रिया है उसका कारण कौन ? क्योंकि उस अनित्य क्रिया का कोई कारण तो अवश्य ही मानना होगा। जीवों के अदृष्ट से युक्त जो आत्मा उस आत्मा के साथ होने वाले मन के संयोग को यदि उस क्रिया का कारण मानते हैं तो यह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि यह एक नियम है कि—"ययोरेव सामानाधिकरण्यं तयोरेव कार्यकारणभावः" अर्थात् जिन दो पदार्थों का सामानाधिकरण्य (समान एक अधिकरण में रहना) होता हैं उन्हीं का कार्यकारण भाव होता है और वे दोनों पदार्थ भी अन्वय व्यतिरेक सहचार से युक्त अव्यवहित पूर्वापरिभाव से संपन्न होते हैं।

अब ऐसी परिस्थिति में परमाणुओं के आश्रित उस क्रिया का कारण वह संयोग कैसे हो सकता है ? क्योंकि क्रिया परमाणुओं में है और संयोग आत्मा और मन में है। भिन्न २ अधिकरणों में रहने के नाते उन दोनों का वैयधिकरण्य है।

अदृष्ट युक्त आत्ममनः संयोग को उस क्रिया का कारण यदि मानते हैं तो फिर वहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह संयोग तो शरीरावच्छिन्न आत्मा के साथ ही संभव हो सकता है। प्रलयावस्था में शरीर ही नहीं तब फिर संयोग कैसे हो सकता है ? ऐसी परिस्थिति में सृष्टि का उत्पादक जो परमाणुद्वय संयोग उसकी कारणीभूत क्रिया का भी होना सर्वथा असंभव ही है, क्योंकि उस क्रिया का कारण जो शरीरावच्छिन्न आत्मा के साथ मन का संयोग, वह है ही नहीं। कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना भी स्वाभाविक है।

दूसरी बात यह भी है कि जिस क्रिया से सृष्टि का उत्पादक परमाणुद्वय संयोग उत्पन्न होता है वह संयोग व्याप्यवृत्ति अर्थात् सर्वात्मना है, अथवा अव्याप्यवृत्ति अर्थात् एक देश में रहने वाला है ? यदि व्याप्यवृत्ति है अर्थात् सर्वात्मना है तो एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वतोभावेन वह संयोग तभी संभव हो सकता है जब कि एक परमाणु को दूसरे परमाणु के अन्दर पूर्णरूप से डाल दिया जाय। यह संयोग तो सर्वथा असंभव है, कारण कि तब तो उनकी परमाणुरूपता ही नहीं रह जायगी, परिमाण के तारतम्य में भी वैषम्य आ जायगा। अन्दर वाला परमाणु अर्थात् आधेयभूत परमाणु वास्तविक अपने परमाणुपरिमाणवाला हो सकता है, परन्तु आधारभूत परमाणु उससे अधिक परिमाणवाला माना जायगा। उसे परमाणु कहना नैयायिक तथा वैशेषिकमत

से सर्वथा सिद्धान्तभंग माना जायगा। यदि उस संयोग को अव्याप्यवृत्ति अर्थात् एक देश में रहने वाला माना जाता है तब परमाणु को सावयवत्व की आपत्ति लग जायगी, क्योंकि देश प्रदेश वाले द्रव्यों को सावयव माना गया है।

कुछ नैयायिकों ने जैसे अन्नंभट्ट प्रभृति विद्वानों ने "ईश्वरीयचिकीर्षावशात् परमाणौ क्रिया" ऐसा कहा है, अर्थात् ईश्वर को प्रलय के बाद जब फिर सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब उस ईश्वर की चिकीर्षावश परमाणुओं में क्रिया होती है। परन्तु यहाँ पर भी वही शङ्का उत्पन्न होती है कि चिकीर्षा ईश्वर में और क्रिया परमाणुओं में। विभिन्न अधिकरण वाले होने से सामानाधिकरण्य ही नहीं बन रहा है। अतः यह पक्ष भी ठीक नहीं है।

सृष्टि-संहार विधिनिरूपण

नैयायिक तथा वैशेषिकों ने पृथिवी-जल-तेज-वायु इन चार द्रव्यों के परमाणुओं को प्रलयकाल में भी स्थिर माना है क्योंकि ये नित्य हैं, और आकाश-काल-दिशा-आत्मा तथा मन ये पाँच द्रव्य तो नित्य हैं ही, इसलिये ये भी प्रलयकाल में हमेशा ही रहते हैं। फलित अर्थ यह हुआ कि प्रलय में इनके मतानुसार पृथिवी और नौ द्रव्य विद्यमान हैं। आकाश काल आदि तो अपने पूर्णरूप से वहाँ हैं और पृथिवी आदि चार जन्य द्रव्य अपने सूक्ष्मरूप परमाणु के रूप में वर्तमान हैं, इसलिये इनके यहाँ प्रलय के बाद सृष्टि होने में किसी भी प्रकार की अड़चन नहीं हो सकती है। हम सर्वप्रथम विश्व के संहार का विवेचन करते हैं, इसके पश्चात् फिर जगत की एवं जागतिक पदार्थों की सृष्टि का विवेचन करेंगे।

विश्व अनादि और अनन्त है

ब्रह्मा के मान के अनुसार जिस समय वर्तमान ब्रह्मा का सौ वर्ष बीत जाता है उस समय उनको अपने मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है कि मुझे इन सब प्रपञ्चों से दूर हो जाना चाहिये इत्यादि। यह विश्व सम्बन्धी सृष्टि एवं संहार ये दोनों इसी प्रकार धारावाहिक रूप से बराबर ही चलते रहते हैं। इन दोनों के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता है कि सृष्टि पहले या संहार पहले। अतः यह विश्व अनादि और अनन्त है। इस चराचर विश्व की न जाने कितनी बार रचना और कितनी बार संहार हो चुके हैं। यह बराबर इसी प्रवाहात्मकरूप से चलता रहता है।

ब्राह्ममान का विवेचन

हम लोगों के १५ निमेषों की एक काष्ठा मानी गयी है, और ३० काष्ठाओं की एक कला, १५ कलाओं की एक नाड़िका मानी गयी है। ३० कलाओं का मुहूर्त्त होता है। ३० मुहूर्त्तों का एक दिन और एक रात होती है। १५ अहोरात्र का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक मास होता है, और दो मासों की एक ऋतु, तथा छः ऋतुओं एवं बारहमासों का एक वर्ष होता है। साथ ही यह भी नियम है कि मकरराशि के अन्दर जिस समय सूर्य आता है उस समय से लेकर मिथुनराशि पर्यन्त काल को शिशिर कहते हैं। इस प्रकार शिशिर और वसन्त तथा ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं से एक उत्तरायण निष्पन्न होता है। इसी प्रकार कर्कराशि के ऊपर जब सूर्य आते हैं उस समय से लेकर धनुराशि में जबतक सूर्य रहते हैं तावत्पर्यन्तकाल को वर्षाकाल अथवा वर्षा ऋतु माना गया है। इस प्रकार वर्षा-शरद् और हेमन्त इन तीन ऋतुओं को दक्षिणायन माना गया है। उत्तरायण को देवताओं का एक दिन माना गया है और दक्षिणायन को रात्रि। ३६० अहोरात्री का देवताओं का एक वर्ष होता है। इसी वर्ष के मान से बारह हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है, और एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है, और उतने ही परिमाण की एक रात्रि होती है। इन्हीं दिन और रात्रि के मान के आधार पर ३६० दिनों का एकवर्ष और इसी वर्ष के मान से सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु मानी गयी है। संहार क्रम—इसी ब्राह्ममान से ब्रह्मा के जब सौ वर्ष बीत जाते हैं और उस समय संसार के प्रपञ्चों को देखते हुए उससे छुटकारा प्राप्त करने की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है उस समय ब्रह्मा के अपवर्गकाल में सकल भुवनपति महेश्वर को प्राणियों के जन्म-मरण जन्य दुःख को कुछ समय के लिये दूर करने के लिये तथा उन्हें विश्राम प्रदान करने के लिये विश्व के संहार की इच्छा होती है, अर्थात् प्राणी लोग जब कि अपने अपने कर्मों का फल भोगते भोगते बहुत ही खिन्न हो जाते हैं, भिन्न भिन्न देशों और विदेशों में, ग्रामों और शहरों में, जाति और योनियों में एवं पशु पक्षी आदि विभिन्न शरीरों में जनन-मरण जन्य दुःख का अनुभव करते करते बहुत ही अधिक थक जाते हैं, उस समय सकल भुवनपति भूत भावन भूतात्मा महेश्वर को संजिहीर्षा अर्थात् विनाश की इच्छा होती है। इसके बाद शरीर इन्द्रियाँ तथा समस्त महाभूतों को उत्पन्न करने वाले आत्माओं के सभी अदृष्टों की वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

अदृष्ट के अन्दर जो समस्त कार्यों के उत्पन्न करने की शक्ति है वह कुण्ठित (नष्ट) हो जाती है। इसके पश्चात् महेश्वर की इच्छा तथा जीवात्मा और परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होने वाले कर्मों के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों के कारणीभूत परमाणुओं में परस्पर विभाग उत्पन्न हो जाता है। विभाग से फिर द्वयणुक का आरंभक जो परमाणुद्वय का संयोग है उसका नाश हो जाता है। इस प्रकार कार्यद्रव्यों का परमाणुपर्यन्त विनाश हो जाता है। संयोगनाशाधीन शरीर और इन्द्रिय का भी आपरमाण्वन्त विनाश हो जाता है। इस प्रकार शरीर आदि के विनाश की यह प्रक्रिया द्वयणुक नाशपर्यन्त चलती रहती है।

जीवों के इस प्रकार के अकारण विनाश को देखकर बहुत से लोग महेश्वर को अकरुणा एवं स्वेच्छाचारिता का दोष लगाते हैं कि वह अपने मनमानी जो चाहता है वही कर बैठता है, उसमें न किसी जीव के प्रति करुणा है और न दया ही है। उन लोगों के इस प्रकार के अज्ञान के निराकरण के लिये भगवान् भाष्यकार स्वयं कहते हैं कि—

"संसारखिन्नानां सर्वप्राणिनांनिशि विश्रामार्थम्"

इस प्रकार प्राणियों के अदृष्टों की वृत्तियों (व्यापारों) के निरोध हो जाने पर संयोग निवृत्ति से जिस प्रकार शरीर आदि कार्य द्रव्यों का द्वयणुक आदि विनाश क्रम से विनाश हो जाता है और उन शरीर आदि के परमाणु मात्र अवशिष्ट रह जाते हैं, उसी प्रकार पृथिवी-जल-तेज एवं वायु इन चार प्रकार के महाभूतों का भी विनाश हो जाता है। इसके पश्चात् उतने ही कालपर्यन्त अर्थात् ब्रह्मा के सौ वर्ष पर्यन्त परस्पर में असम्बद्ध हुए परमाणु तथा उन जीवों के धर्म-अधर्म एवं संस्कार (भावना) ही अवशिष्ट रह जाते हैं।

इसके बाद फिर उस समय के उन जीवों का प्राण के साथ सम्बंध न होने पर भी प्राणसम्बंध की योग्यता के आधारपर फिर से उन जीवों का कर्म निबंधन अपने २ भोगों को भुगाने के लिए अर्थात् उन २ जीवों को सुख-दु:ख अन्यतर (दोनों में से एक) का साक्षात्कार हो, अर्थात् ये जीव अपने २ सुख-दु:ख रूप फल का अनुभव करें, इस दृष्टि से महेश्वर को फिर से सिसृक्षा (सृष्टि करने की इच्छा) उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् उन समस्त जीवों के सभी अदृष्टों में कार्योत्पादिका शक्ति आजाती है। यद्यपिउस महेश्वर की इच्छा नित्य तथा एक है, और वह

एक के समस्त असंख्य कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता रखती है, कारण कि वह क्रियाशक्ति रूप है। इसलिए वह स्वयं कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् सर्वसामर्थ्य संपन्न है, तथापि जिस कालविशेष में सृष्टि और संहार (प्रलय) होता है उस २ कालविशेष को भी सृष्टि और संहार का कारण माना है। इसलिए सृष्टि और संहार सहकारी कारणीभूत जो तत्कालविशेष-उस काल विशेष से सहकृत होकर ही उस परमेश्वर की इच्छा कभी संजिहीर्षा का रूप धारण करती है और कभी सिसृक्षा का। जिस समय वह सृष्टि का कारण बनती है उस समय उन सभी जीवों के अदृष्ट कार्य क्षम हो जाते हैं, और अपन २ कार्यों के करने में सव्यापार हो जाते हैं। जिस समय महेश्वर की इच्छा संहार का कारण बनती है उस समय उन सभी जीवों के अदृष्टों के कार्य कर्तृत्वशक्ति संपन्न समस्त व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं।

यदा संहारार्था तदा तदनुरोधात् अदृष्टानां वृत्तिनिरोध औदासीन्यलक्षणो जायते। यदा त्वसौ सृष्टयर्था भवेत्तदा वृत्तिलाभः स्वकार्यजननं प्रति व्यापारो भवति" न्यायकंदली पृष्ठ १२८ गंगानाथझा ग्रंथमाला।

महेश्वर की इस सिसृक्षा के (सृष्टि करने की इच्छा) पश्चात् समस्त उन विश्रामप्राप्त जीवों के अदृष्टों की वे कुण्ठितशक्तियाँ फिर से अपने २ कार्यों के उत्पादन में उन्मुख हो जाती हैं। कार्य में उन्मुख हुए अदृष्ट आत्मा एवं परमाणु के संयोग से वायु के परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् उस क्रिया से वायवीय परमाणुओं का संयोग उत्पन्न होता है। उस संयोग से द्वयणुक आदि के क्रम से महावायु उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् इसी क्रम से जलीय परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से द्वयणुक आदि के क्रम से महान् जलनिधि उत्पन्न होता है। इसी प्रकार महान् तेजोराशि, महापृथिवी उत्पन्न हो जाती है।

इस प्रकार इस चार प्रकार के महाभूतों की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् एकमात्र महेश्वर के अभिध्यान (संकल्प) मात्र से पार्थिवपरमाणुओं की सहायता प्राप्त तैजस परमाणुओं से एक महान् अण्ड के समान एक पिण्ड की उत्पत्ति होती है। इस पिण्ड से पृथिवी के परमाणुओं का विशेष सम्बंध है। फिर इसी पिण्ड में कमल के समान चार मुखवाले सर्वलोकों के पितामह उस आदिपुरुष ब्रह्मा को समस्त चतुर्दश भुवनों के साथ २ उत्पन्न करके प्रजा की सृष्टि करने में नियुक्त कर दिया। महेश्वर के द्वारा सृष्टि कार्य के लिए नियुक्त वह ब्रह्मा सर्वातिशय अर्थात् सर्वोत्तम ज्ञान-वैराग्य एवं ऐश्वर्य से संपन्न

होकर उस अपने सर्वातिशायी ज्ञान के बल से समस्त प्राणियों के कर्मकलाप को जानकर, उत्कत वैराग्य के प्रभाव से निष्पक्षपात होकर, अपने उत्कट ऐश्वर्य के प्रभाव से उन समस्त प्राणियों के कर्मानुसार भोग को सम्पन्न करते हैं।

इसके पश्चात् कर्मों के अनुसार ही ज्ञान, भोग और आयु से संपन्न दक्षप्रजापति आदि पुत्रों को, मानसपुत्र के रूप में मनुओं, देवताओं और ऋषियों एवं पितृगण प्रभृति को उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार फिर मुख बाहू उरु (जंघा) और पैर से युक्त चारों वर्णों को अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र को उत्पन्न करते है। इसी प्रकार और भी छोटे बड़े जीवों की सृष्टि करते हैं, और उनके अदृष्टानुसार ही उन्हें धर्म ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्य से उन जीवों को अन्वित कर देते हैं। जिस जीव के जैसे कर्म और अदृष्ट वे जानते है वे उसी के अनुसार ठीक उन्हें धर्म-ज्ञान वैराग्य एवं ऐश्वर्य से युक्त कर देते हैं। इसमें लेशामात्र भी अंतर नहीं होने देते।

"तस्मिंश्चतुर्वदनकमलं सर्वलोक पितामहं ब्रह्माणं सकलभुवनसहित मुत्पाद्य प्रजासर्गे विनियुङ्क्ते। सच महेश्वरेण विनियुक्तो ब्रह्मा अतिशय ज्ञान वैराग्यैश्वर्य संपन्नः प्राणिनां कर्म विपाकं विदित्वा कर्मानुरूप ज्ञान भोगायुषः सुतान् प्रजापतीन् मानसान् मनुदेवर्षिपितृगणान् मुखबाहूरूपादतश्चतुरो वर्णानन्यानि चउच्चावचानि भूतानि च सृष्ट्वाऽऽशयानुरूपैर्धर्म ज्ञान वैराग्यैश्वर्यैः संयोजयतीति।"

वैशेषिकदर्शनभाष्य पृ० १३०—गंगानाथझा ग्रंथ माला—

ग्रीक तथा वैशेषिक परमाणुवाद में तुलना

पाश्चात्य दर्शन के प्रारम्भिक काल अर्थात् ग्रीक काल में परमाणुवाद का सिद्धांत उपलब्ध होता है। परमाणुवाद के संस्थापक ल्युसिपिअस तथा डिमोक्रिटस थे। इनके अनुसार भी न्यायवैशेषिक के समान विश्व की सृष्टि परमाणुओं से ही होती है। ये परमाणु किसी वस्तु के अविभाज्य, न्यूनतमकेन्द्र बिंदु हैं। परंतु ये परमाणु गणित के बिंदु नहीं, न तो शक्ति के केंद्र ही है, जैसा कि आज के वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं। ये परमाणु विस्तारमय है क्योंकि ये चारों और विश्व में फैले रहते हैं। ये गणित शास्त्र के अविभाज्य केंद्र बिंदु नहीं वरन् भौतिक अविभाज्य न्यूनतम भाग हैं जिनका आगे विभाग नहीं हो सकता। इन परमाणुओं में गुणात्मक भेद नहीं। ये पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु भी नहीं। ये केवल अत्यंत सूक्ष्म भौतिक भाग हैं जिनमें परिमाणात्मक, आकृतिगत, स्थानात्मक आदि भेद है। परमाणु अविनाशी हैं तथा अपरिणामी हैं, शाश्वत है[1]

[1]. हिस्ट्री आफ फिलासफी-फ्रैंक थिली पृ० ४८

ये परमाणु विश्व के सभी वस्तुओं के निर्मायक तत्व है, आधर-शिला है जैसे एक ही वर्णमाला से सभी सुखांत तथा दुखांत साहित्य का सर्जन होता है[२]। वर्णों में कोई भेद नहीं भेद तो वर्णों की व्यवस्था में है। इसी प्रकार परमाणुओं के विभिन्न संयोग से विभिन्न शरीर उत्पन्न होता है। एक शरीर दूसरे से भिन्न है क्योंकि उनके निमायक परमाणु ही भिन्न हैं। परमाणुओं का संयोग सृष्टि एवं परमाणुओं का वियोग ही बिनाश हैं। इस संयोग एवं वियोग का कारण परमाणुओं की अंतर्भूत गति है। यह गति यांत्रिक नियमों से शासित होती है। परंतु इस गति का कर्त्ता कोई नहीं, अर्थात् परमाणुओं के समान ये अकारण हैं। ग्रीक दार्शनिक ल्यूसिपिअस एवं डिमोक्रिटस तथा वैशेषिक में परमाणुओं की परिभाषा में प्रायः साम्य है। दोनों ही दर्शन में परमाणु अविभाज्य अंतिम भाग को स्वीकार किया गया है जो भौतिक जगत के कारण है। अर्थात् जगत के उपादन कारण के रुप में दोनों दर्शनों ने परमाणु को स्वीकार किया हैं। परन्तु इस साम्य से अधिक वैशम्य है।

उपर हमने देखा है कि ल्यूसिपिअस तथा डिमीक्रिटस परिमाणात्मक भेद मानते हें परंतु गुणात्मक नहीं किंतु वैशेषिक दर्शन में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों भेद स्वीकार किए गये हैं। वैषिक के अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि के परमाणुओं में गुण की दृष्ठि से भेद है। ग्रीक दर्शन में परमाणु स्वभावतः सक्रिय है क्योंकि गति उनकी आभ्यांतरिक शक्ति है, परंतु वैशेषिक में परमाणु स्वतः गतिहीन हैं, परमाणुओं में अदृष्ट (धर्मा धर्म) के कारण गति उत्पन्न होता है। ग्रीक दर्शन में आत्मा आदि आध्यात्मिक वस्तु की सृष्ठि भी परमाणु से स्वीकार किया जाता है। परंतु वैषेषिक में आत्मा तथा परमाणु दोनों स्वतंत्र हैं। ग्रीक दर्शन में परमाणुओं का संयोग वियोग यंत्रवद् होता है परंतु वैशेषिक दर्शन में परमाणु समवायिकारण, परमाणुद्वय का संयोग असमवायिकारण, तथा ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त कारण है। इच्छा चेतन में ही उत्पन्न हो सकती है। परमाणु जैसे अचेतन पदार्थ में नहीं। महेश्वर के संकल्प से ही सृष्टि होती है परंतु ग्रीक मत में निमित्त कारण ईश्वर नही स्वीकार किया गया है। डिमोक्रिटस का ईश्वर भी परमाणु निर्मित ही हैं।

—: * :—

२. वही,

चतुर्थ अध्याय

गुण विचार

प्रायशः सभी आस्तिक भारतीय दार्शनिक गुणों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। गुण-विचार का प्राचुर्य ही गुण-सिद्धांत की महत्ता का द्योतक है। गुण के सम्बंध में मत-मतांतर का अंत नहीं। सांख्य दर्शन में सत्त्व-रज तम इन तीन गुणों का अंगीकार किया गया है। गीता में भी—

'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः'—गीता।

योगियों के अनुसार—शम-दम-तितिक्षा आदि ही गुण होतें है।

'शम-दम-तितिक्षादयो गुणा इति योगिनः। वेदांती दर्शनिकों के अनुसार ज्ञान-आनंदादि ही गुण है। 'ज्ञानमानंदादया गुणा इति वेदांतिनः' वैयाकरण प्रभृति विद्वानों का कहना है कि वस्तु का धर्म ही गुण है। आलंकारिक लोगों के कथनानुसार माधुर्य-ओज-प्रसाद ये तीन गुण है।

न्यायदर्शन में प्रत्यक्ष प्रमिति स्थल में विशेषण वाले विशेष्य के साथ होने वाले सन्निकर्ष को ही गुण बतलाया गया है। अनुमिति में परामर्श को गुण माना गया है। उपमिति में सादृश्य ज्ञान ही गुण है और शाब्द बोध में योग्यता-ज्ञान अथवा तात्पर्य ज्ञान ही गुण स्वीकार किया गया है।

वैशेषिक दर्शन में चौबीस[1] प्रकार के गुणों का परिगणन किया गया है—रूप-रस-गंध-स्पर्श-संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-शब्द-बुद्धि-सुख-दुख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-अदृष्ट और संस्कार।

किरणावली-व्योमवती।

महर्षि कणाद ने केवल १७ गुणों का उल्लेख किया—
रूप[1] रस[2] गंध[3] स्पर्शाः[4] संख्याः[5] परिमाण[6] पृथक्त्वं[7] संयोग-[8] विभागौ[9] परत्वा[10] परत्वे[11] बुद्धयः[12] सुखे[13]–दुखे[14] इच्छा[15]–द्वेषौ[16] प्रयत्नाश्च[17] गुणाः (१।१।६)

भाष्यकार श्री प्रशस्तपादाचार्य 'च' शब्द से और भी ७ गुण ले लेते हे—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, धर्म, अधर्म, शब्द और संस्कार।

१. गुणों के अन्दर चौबीस संख्या का व्यवहार औपचारिक है।

गुण की परिभाषा

महर्षि कणाद के अनुसार—

'द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष

इति गुणलक्षणम्'—वै० सू० १ । १ । १६

अर्थात् द्रव्याश्रितत्व, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व ही गुण के लक्षण हैं। भाष्यकार श्री प्रशस्तपादाचार्य भी गुण के इन्हीं तीनों लक्षणों को स्वीकार करते है—

"रूपादीनां गुणानां सर्वेषां गुणत्वाभिसम्बंधो द्रव्याश्रितत्वं निगुर्णत्वं निष्क्रियत्वम्'

पशस्तपाद भाष्य

श्री विश्वनाथ पचांनन ने भी इन्हीं तीनों लक्षणों को गुण लक्षण माना है–
'अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणाः निष्क्रियाः गुणाः' भाषा परिच्छेद,
इस प्रकार उपर्युक्त तीनों लक्षणों को ही गुण की परिभाषा मानते हैं।

गुणस्वरूप विचार

'द्रव्य एवं कर्म से भिन्न जो सामान्य (जाति) वाला पदार्थ होता है उसे गुण कहते हैं। द्रव्य, गुण एवं कर्म इन तीन ही पदार्थों में जाति को स्वीकार किया गया है। अतः द्रव्य तथा कर्म से भिन्न पदार्थ गुण ही रह जाता है। गुण वह पदार्थ है जो द्रव्यत्व व्यापकता का अवच्छेदक तथा सत्ताभिन्न जातिवाला होता है। "द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक सत्ताभिन्नजातिमान् गुणः"गुरुमुख से श्रुत—

इस प्रकार की द्रव्यत्वजाति की व्यापकता का अवच्छेदक तथा सत्ताजाति से भिन्न जो गुणत्वजाति उस जातिवाला गुण ही होता है। गुणत्वजाति द्रव्यत्व का व्यापकतावच्छेदक भी है और सत्ता से भिन्न भी है, इस गुणत्वजाति वाला पदार्थ अथवा वस्तु गुण ही होता है। इस प्रकार गुण में रहने वाली गुणत्वजाति वाले पदार्थ को ही गुण कहते हैं। "गुणत्वजातिमान् गुणः गुरू मुख से श्रुत

इस प्रकार की गुणत्व जाति वाला गुण द्रव्य को छोड़कर और कहीं भी नहीं रहता है, जैसे—माधुर्य एकमात्र द्रव्य ही में रहता है न कि गुण अथवा कर्म आदि पदार्थों में, ऐसे ही समस्त गुणों का आधार द्रव्य ही है न कि गुण आदि। श्री शिवादित्य ने गुणस्वरूप पर विचार करते हुए बताया कि जाति विशिष्ट, अचलात्मक और समवायिकारणत्वरहित पदार्थ ही गुण है— 'गुणस्तु गुणत्व-

जातियोगी जातिमत्वेसति अचलनात्मकत्वे सति समवायि कारणत्व रहितश्चेति'–
सप्त पदार्थी

गुण सभी द्रव्यों में रहते हैं। कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता है। चोबीस प्रकार के गुणों में से इन नौ द्रव्यों में कोई न कोई गुण अवश्य ही रहता है।

> वायोर्नवैकादश तेजसो गुणाः
> जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
> दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे
> मवेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ॥ —विलासिनी टीका—

वायु में नौ गुण रहते हैं, तेज में इग्यारह गुण रहते हैं, जल-पृथिवी और जीवात्मा इनके अन्दर चौदह गुण रहते हैं। दिशा और काल में पाँच गुण रहते हैं, आकाश में छः गुण रहते हैं, ईश्वर में आठ और मन में भी आठ ही गुण रहते हैं। इस प्रकार कोई भी द्रव्य निर्गुण नहीं है। इस प्रकार ये चौबीसों गुण द्रव्य ही में रहते हैं।

इन चौबीस प्रकार के गुणों की एक अनुगतप्रतीति के लिये उनमें एक "गुणत्व" जाति का अङ्गीकार किया गया है। प्रत्येक रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि गुणों के अन्दर रूपत्व-रसत्व-गन्धत्व-स्पर्शत्व आदि जातियों का स्वीकार किया गया है, वह भी अवान्तर रूपादि गुणों की अनुगत प्रतीति के लिये ही। वह "गुणत्व" जाति रूपत्व आदि जातियों की अपेक्षा पर जाति मानी गयी है, और रूपत्व आदि जातियाँ गुणत्व की अपेक्षा अपर मानी गयी हैं। इन सब जातियों की सिद्धि एकमात्र अनुमान के आधार पर ही हो सकती हैं। इस प्रकार इन चौबीस गुणों के अन्दर चौबीस जातियाँ धर्मत्व-अधर्मत्व को लेकर ही सम्पन्न होती हैं, अर्थात् गुणों की चौबीस संख्या जैसे धर्म तथा अधर्म को लेकर पूरी की जाती है उसी प्रकार उनमें रहने वाली जातियों की संख्या भी धर्मत्व अधर्मत्व को लेकर ही पूरी करनी पड़ेगी।

गुणों की आश्रयता का विचार

इन न्याय-वैशेषिकाभिमत चौबीस गुणों में कुछ गुण विशेषगुण कहलाते हैं, और कुछ सामान्यगुण। बुद्धि-सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-स्नेह और सांसिद्धिकद्रवत्व-अदृष्ट (धर्म-अधर्म) भावना एवं शब्द ये १५ या १६ गुण

विशेषगुण माने गये हैं। इनमें से आरम्भ के छः, तथा अदृष्ट-भावना ये ८ या ९ विशेषगुण आत्मा में रहते हैं। आत्मा में सब मिलाकर १४ गुण रहते हैं, बुद्धिआदि छः, संख्यादि पांच, भावना, धर्म और अधर्म ये १४ गुण रहते हैं।

संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्व-अपरत्व-नैमित्तिकद्रवत्व और गुरुत्व ये ९ सामान्य गुण हैं। इनके भी विभिन्न आश्रय हैं।

संयोग-विभाग-द्वित्वादि संख्या-द्विपृथक्त्व आदि गुणों के अनेक आश्रय होते हैं। रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-परत्व और अपरत्व-द्रवत्व स्नेह तथा वेगाख्य संस्कार ये ८ भूतद्रव्यों के गुण हैं। पृथिवी-जल-तेज-वायु और मन ये पांच मूर्त्तद्रव्य हैं।

धर्म-अधर्म-भावना-शब्द-बुद्धि आदि छः ये अमूर्तद्रव्यों में रहने वाले गुण हैं।

संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग ये पांच गुण मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के द्रव्यों में रहते हैं। इन गुणों में बहुत से गुण पाकज होते हैं, बहुत से अपाकज होते हैं, एवं बहुत से कारणगुणोत्पन्न होते हैं, बहुत से अकारण-गुणोत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार बहुत से बाहर की एक एक इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं, बहुत से दो दो इन्द्रियों से अर्थात् चक्षु और त्वचारूप इन्द्रियों से ग्राह्य होते हैं। कुछ गुण अतीन्द्रिय होते हैं। कुछ कर्मजन्य, कुछ संयोगजन्य, कुछ विभागजन्य भी होते हैं। कुछ व्याप्यवृत्ति तथा कुछ अव्याप्यवृत्ति भी होते हैं।

गुणस्वातन्त्र्यवाद तथा खण्डन

न्याय-वैशेषिक दार्शनिकों ने गुण को जैसे एक स्वतन्त्र्यपदार्थ माना है वैसे ही कुछ आस्तिक तथा नास्तिकदार्शनिकों ने गुण को स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार न कर उसे गुणी से सर्वथा अभिन्न माना है। उनका कहना है कि जिन दो पदार्थों में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् जिन आधार एवं अधेयभूत दो वस्तुओं को परस्पर में पृथक् किया जा सकता है, जैसे "घटवद्भूतलम्" यहाँ पर घट आधेय हैं और भूतल आधार है, इन दोनों में पार्थक्य स्पष्ट है। घट को हाथ में उठा लेने से वह भूतल (जमीन) से पृथक् हो जाता है, अतः इस प्रकार दोनों में पार्थक्य स्पष्ट देखने में आता है। इससे उन्हें भिन्न २ मानना सर्वथा उचित है। परन्तु घट और घट के रूप को परस्पर में भिन्न क्यों माना जाय? उन दोनों में पार्थक्य देखने में नहीं आता है। इसलिये इन दोनों को सर्वथा अभिन्न ही स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। रूप गुण है और घट गुणी है, गुण गुणी का अभेद स्वीकार करना अथवा रूपात्मकगुण को गुणी (घट) स्वरूप मान लेना ही उचित प्रतीत होता है।

परन्तु यह पक्ष इसलिये उचित नहीं मालूम होता है कि "रूपवान् घटः" रूपवाला घट है, अथवा "घटीयं रूपम्" अर्थात् यह घट का रूप है, ऐसी-प्रतीति तो देखने अथवा सुनने में आती है, किन्तु "घटो रूपम्" अथवा "रूपं घटः" अर्थात् घट रूप है, अथवा रूप घट है ऐसी प्रतीति कहीं देखने अथवा सुनने में नहीं आती है। इससे रूप और घट का तादात्म्य (अभेद) सर्वथा बाधित है। इससे घट और उसके रूप का आधार-आधेय भाव अथवा आश्रयाश्रयीभाव ही मान्य है न कि अभेद। अपने बिस्तरे के ऊपर बैठा अथवा लेटा मनुष्य बिस्तर-स्वरूप ही हो जायेगा अर्थात् बिस्तर और मनुष्य में किसी प्रकार का अन्तर ही नहीं रह जायगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसलिये कहना होगा कि गुण और गुणी इन दोनों में परस्पर में भेदावभासन अनुभव सिद्ध है।

कुछ दार्शनिकों का ऐसा भी कहना है कि गुण न तो अपने आधारभूत गुणी से अत्यन्त भिन्न ही है और न अभिन्न, किंतु किसी एक अंश को लेकर अभेद है, और किसी एक अंश को लेकर भेद। इसलिये गुण और गुणी इन दोनों का भेदाभेद मानना ही उचित प्रतीत होता है। इन दोनों को परस्पर में अत्यन्त अभिन्न तो इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि "रूपवान घटः" अथवा "घटीयं रूपम्" यह लोक में प्रतीति होती है, न कि "घटो रूपम्" अथवा "रूपं घटः" इत्यादि और अत्यन्त भिन्न इसलिये नहीं कह सकते हैं कि उन दोनों अर्थात् गुण और गुणी आदि का पार्थक्य कभी भी नहीं देखने में आता है। अतः उन दोनों का भेदाभेद पक्ष ही श्रेयस्कर है। परंतु यह पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि दो पदार्थ परस्पर संयुक्त अर्थात् सम्बद्ध होने पर भी एक कभी नहीं हो सकते हैं, कारण कि उक्ति मात्र से ही विरोध हो रहा है। इधर तो उन्हें गुण और गुणी के रूप में दो कहा जा रहा है और उधर उन दो को कहते हैं कि वे एक हैं, यह कैसे हो सकता है। उदयनाचार्य स्वयं कहते हैं कि—"नैकतापि विरुद्धानायुक्तिमात्रविरोधतः"

अर्थात् दो विरोधी पदार्थों को एक नहीं माना जा सकना है कारण कि उक्ति मात्र से ही विरोध स्पष्ट आ रहा है।

दूसरी बात यह भी है कि धर्मभेद प्रयुक्त धर्मी का भेद होता है। अतः गुण में गुणत्व धर्म रहता है और गुणी में अर्थात् द्रव्य में द्रव्यत्व अथवा घट-पटात्मक गुणी में घटत्व-पटत्व आदि धर्म रहते हैं। गुणत्व धर्म गुणी में नहीं, और

द्रव्यत्व आदि गुणी में रहने वाले धर्म गुण में नहीं, अतः गुण गुणी में अभेद सर्वथा बाधित है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि भेदत्वप्रकारक प्रतीति का विषय भेद होता है, और अभेद अभेदत्वप्रकारक प्रतीति का विषय होता है। भेदत्वप्रकारक प्रतीति का विषय अभेद नहीं हो सकता, और अभेदत्वप्रकारक प्रतीति का विषय भेद नहीं हो सकता है, कारण कि विषयता भिन्न-भिन्न है।

तीसरी बात यह भी है कि भेद में रहने वाली विषयता का अवच्छेदक भेदत्व ही होगा, क्योंकि अन्यून और अनतिरिक्तवृत्तिधर्म ही अवच्छेदक होता है। इसलिये भेद में रहने वाली विषयता भेदत्वावच्छिन्ना होगी, और अभेद में रहने वाली विषयता इसी नियमानुसार अभेदत्वावच्छिन्ना होगी। अवच्छेदक के भेद से अवच्छेद्य जो विषयता है उसका भेद मानना सर्वथा आवश्यक है।

इस प्रकार गुण और गुणी के भेदाभेद पक्ष को अंगीकार करने में बहुत सी आपत्तियाँ उपस्थित हो रही हैं।

रूप विचार

इन परिगणित चौबीस प्रकार के गुणों में प्रथम रूप है।
रूप का लक्षण है—

"रूपत्वजातिमत् रूपम्" सप्तपदार्थी—

"चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्" तर्कसं०

एवम्—"त्वगग्राह्य चक्षुर्ग्राह्य गुण विभाजकोपाधिमद् रूपम्" गुरूमुखसे-श्रुत—

अर्थात् जो गुण त्वगिन्द्रिय से तो सर्वथा अग्राह्य हो और चक्षु इंद्रिय से ग्राह्य हो उस गुण की विभाजक जो उपाधि उस उपाधिवाले पदार्थ को ही रूप कहते हैं। इस प्रकार की गुणविभाजक उपाधि रूपत्व ही हो सकती है।

यद्यपि गुणविभाजक उपाधि रसत्व-गंधत्व स्पर्शत्व आदि भी हैं परंतु वे चक्षु से ग्राह्य नहीं हैं। यद्यपि संयोग चक्षु से ग्राह्य है क्योंकि संयोग का ज्ञान भी चक्षु से होता है तथापि यह कहना पड़ेगा कि संयोग चक्षु से ग्राह्य होने पर भी त्वचा से भी ग्राह्य है, कारण कि दो द्रव्यों का संयोग त्वगिन्द्रिय से भी ज्ञात होता है।

"रूप" एक ऐसा विशेषगुण है कि वह जिस द्रव्य में भी रहेगा उस द्रव्य का प्रत्यक्ष अवश्य हो करायेगा। द्रव्य का प्रत्यक्ष तीन इंद्रियों से होता है, चक्षु से त्वचा से तथा मन से जिसमें मन तो एकमात्र आत्मा रूप द्रव्य का ही प्रत्यक्ष करता है।

बाह्य द्रव्यों का प्रत्यक्ष करने की शक्ति एकमात्र चक्षु और त्वचा में ही है न कि मन में। रूप में एक विशेषता यह भी है कि वह जैसे चक्षु से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण है उसी प्रकार रूप त्वचा इंद्रिय से होने वाले द्रव्य के त्वाच प्रत्यक्ष में भी कारण है। स्पर्श चक्षु इंद्रिय से होनेवाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। रूप का क्षेत्र स्पर्श आदि की अपेक्षा व्यापक है। यही कारण है कि वायु का त्वगिद्रिय से प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, किंतु उसके स्पर्श का ही प्रत्यक्ष त्वगिद्रिय से होता हैं।

विश्वनाथ पञ्चानन ने कहा भी हैं— "रूपमत्रापि कारणं द्रव्याध्यक्षे"

अर्थात् त्वगिन्द्रिय से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्ष में भी रूप कारण होता है। चक्षु इंद्रिय से होने वाले द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष के प्रति तो रूप कारण हैं ही।

जिस द्रव्य में समवाय सम्बंध से उद्भूत रूप रहता है वह उसी द्रव्य का चाक्षुष प्रत्यक्ष करता है। रूप तीन प्रकार का होता है उद्भूत अनुद्भूत तथा अभिभूत द्रव्य के चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्ष में जो रूप को कारण बतलाया है वह एक मात्र उद्भूत को ही कारण समझना चाहिए। अनुद्भूतरूप किसी भी प्रत्यक्ष में कारण नहीं होता है। घ्राण इन्द्रिय का रूप, चक्षु इन्द्रिय का रूप, पिशाच आदि का रूप, भर्जनकपाल के अंदर स्थित अग्नि का रूप, एवं उस अग्नि की ऊष्मा का रूप ये सब रूप अनुद्भूत माने गये हैं। इसी लिए अनुद्भूतरूप वाले द्रव्यों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। अभिभूत रूप वह होता है जैसे, सुवर्णात्मक तेज का भास्वर शुक्ल रूप उसमें मिश्रितपार्थिव भाग से अभिभूत है।

मानसप्रत्यक्ष के विषय सर्वथा इसके विपरीत हैं। जिस द्रव्य के अंदर रूप नहीं होता है मानसप्रत्यक्ष उसका भी होता है। "अहं जानामि" "अहम् इच्छामि" इत्यादि रूप से होने वाले "अहम्" पद वाच्य आत्मा के मानस प्रत्यक्ष के लिए रूप की कोई आवश्यकता नहीं है। आत्मा के अंदर रूप न होने पर भी आत्मा का मानसप्रत्यक्ष होता ही है।

कतिपय दार्शनिक विद्वानों का कहना ऐसा भी है कि द्रव्य के चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिये ही रूप की आवश्यकता है, स्पार्शनप्रत्यक्ष के लिये नहीं। स्पार्शनप्रत्यक्ष के प्रति एकमात्र स्पर्श ही कारण होता है। ये लोग स्पर्श के आधार पर वायु का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष मानते हैं। परंतु प्राच्यपदार्थशास्त्री लोगों का यहीं कहना है कि वायु अनुमेय है न कि प्रत्यक्षगम्य है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। कहा भी है "एवञ्च वायोश्चाक्षुषसाक्षात्कारवत् स्पर्शेनापि न साक्षात्कार इति प्राचीन सिद्धांत:" विलासिनी

अर्थात् जिस प्रकार वायु का चाक्षुप्रत्यक्ष नहीं होता है उसी प्रकार स्पर्श के आधार पर उसका स्पार्शनप्रत्यक्ष भी नहीं होता है।

कतिपय दार्शनिक विद्वानों का यह भी कहना है कि जैसे "सुरभि चंदनम्" यहाँ पर सौरभ का ज्ञान ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति सनिकर्ष के आधार पर होता है, उसी प्रकार "वायुंस्पृशामि" यहाँ पर भी वायु का अलौकिक प्रत्यक्ष ही क्यों न स्वीकार कर लिया जाय ? कारण कि यहाँ भी सौरभ के समान वायु का ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा ही ज्ञान मान लिया जाय।

रूप के भेद

रूप सात प्रकार का है—शुक्ल—नील—पीत—रक्त—हरित—कपिश[1]—चित्र। इनमें से एक शुक्लरूप को छोड़कर अन्य छहों रूप पृथिवी में रहते हैं। छहों रूप एक ही पृथिवी में भले ही न रहें, परन्तु वे अलग अलग तो पृथिवी में रहते ही हैं। कुछ विद्वानों का यह भी कथन है कि पृथिवी में सातों प्रकार के रूप रहते हैं, अर्थात् शुक्लरूप भी पृथिवी में रहता है। शुक्ल में भी अभास्वर शुक्लरूप रहता है, जैसे पट आदि पृथिवी में। "तत्र पृथिव्यांसप्तविधम्" तर्क सं. शुक्ल रूप भी दो प्रकार का है भास्वर शुक्ल और अभास्वर शुक्ल। भास्वर शुक्लरूप तेज में रहता हैं और अभास्वर शुक्ल जल में। भास्वर शुक्ल वह रूप है जिससे वस्तुओं का प्रकाश होता है। अभास्वरशुक्लरूप अप्रकाशकरूप माना गया है। वह प्रकाशक नहीं अपितु स्वयं प्रकाश्य है, दूसरे के द्वारा उसका प्रकाश होता है। रूप केवल पृथिवी-जल और तेज इन तीन ही द्रव्यों में रहता है और वायु से लेकर मन पर्यन्त सभी द्रव्य नीरूप अर्थात्रूपरहित माने गये हैं।

कुछ लोग भ्रान्तिवश कहते हैं कि "नीलमाकाशम्" "नीलं नभस्तलम्" इत्यादि। यह प्रतीति उसी प्रकार भ्रान्तियुक्त है जैसे "नीलंतमश्चलति" यह प्रतीति। अभिप्राय यह है कि तम तेज का अभाव है और अभाव में कोई भी रूप नहीं रहता है। इसी प्रकार आकाश नाम है रिक्तस्थान का और खाली जगह में ही अपने कारणरूपी आधार पर शब्द भी होता है, पूर्ण में नहीं। इसीलिये आकाश का लक्षण "शब्दगुणकम्" यह किया गया है। इसलिये आकाश में कोई भी रूप नहीं है, वह सर्वथा नीरूप है। उसमें जो नीलिमा देखने में आती है उसके विषय में यही कहना होगा कि जहाँपर अर्थात् जिस प्रदेश

---

१. मटमैला (जैसा बन्दर का रूप)

में आँखें नहीं पहुँच पाती हैं वहाँ आँखें अपनी पुतलियों के स्वरूप को ही देखने लगती हैं। पुतलियाँ काली हैं अतः "नीलमाकाशम्" "नीलं नभस्तलम्" ये सब प्रतीतियाँ होने लगती हैं। ये सब औपाधिक प्रतीतियाँ हैं, उनमें उपाधि का ही प्राधान्य रहता है। यमुना का जल काला और गेरुवा तालाब का जल लाल मालूम पड़ता है, वह सब उपाधि प्रयुक्त भासमान होने के नाते औपाधिक है। उपाधि स्थल में वस्तुस्थिति छिप जाती है।

चित्ररूप के विषय में विचार

कुछ विद्वानों का कहना है कि रुप सात नहीं हैं किन्तु छः ही हैं। उन्होंने चित्ररुप का अनङ्गीकार किया है। वे कहते हैं कि जिस अवयवी के अवयव भिन्न भिन्न रुपवाले हैं उन अवयवों से बने हुए अपयवी में कौनसा रुप माना जाय ? नीरुप सर्वथा उसे कहा नहीं जा सकता है क्योंकि तब उस अवयवी का प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा। यह नियम है कि जिस द्रव्य में रुप नहीं होता है उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता है।

द्रव्य का प्रत्यक्ष वाह्य इन्द्रियों में से दो ही इन्दियाँ कर पाती हैं चक्षु और त्वचा। परन्तु रुप दोनों इन्द्रियों से होने वाले प्रत्यक्ष में कारण माना गया है। ऐसी परिस्थिति में यही स्वीकार किया जाय कि उन विभिन्न रुप वाले अवयवों से उत्पन्न हुए अवयवी के अन्दर एक कोई भी रुप नहीं है, अपितु उस अवयवी के अन्दर अलग २ विजातीय तत्तत् रुप हैं, अर्थात् कहीं नील तो कहीं पीत, कहीं लाल तो कहीं हरा इत्यादि। परन्तु यह स्वीकार सर्वथा गलत है, कारण कि चित्ररुप को मानने में कई आपत्तियाँ आरही हैं। सर्वप्रथम आपत्ति यह है कि शुक्ल-नील आदि रूपों से भिन्न एक सातवां रूप चित्ररूप मानता पड़ता है। दूसरी आपत्ति यह भी है कि विभिन्नरूप वाले अवयवों के द्वारा निर्माण किए जाने वाले अवयवी में कौनसा रूप माना जायगा ? क्या एक ही रूप माना जायगा ? अथवा अव्याप्यवृत्ति नानारूप माने जायेंगे ? यदि नानारूप माने जायेंगे तब उनके परस्पर के प्रतिबध्य प्रतिबंधक भाव की कल्पना करनी होगी जिस में गौरव दृष्टिगोचर होता है। अतः वहाँ चित्र रूप ही मानना होगा और चित्ररूप के प्रागभाव की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार नाना प्रकार की कल्पना की आपत्तिरूप गौरव दोष के भय से चित्र रूप का सर्वथा अनङ्गीकार ही श्रेयस्कर होगा। अब प्रश्न यह है कि चित्ररूप के अनङ्गीकार पक्ष में नाना प्रकार के रूपवाले अवयवों से विनिर्मित अवयवी के अंदर कौन रूप

है ? इसका उत्तर यही कि उस पट में कोई भी रूप नहीं। नीरूप पट का फिर प्रत्यक्ष कैसे होगा ? "अन्यदीयरूपेणापि धर्मिणो ग्रहसंभवात्। शंखस्येव पित्तपीतिम्ना" न्या० सि० मु०

दूसरे के रूप से भी दूसरे धर्मी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार पित्त दोष दूषित नेत्रों वाले पुरुष को शंख का शुक्लरूप पित्त के पीले रूप से दब जाने के कारण नेत्रों से भासमान नहीं होता है, इसलिए वहाँ शंख का प्रत्यक्ष पित्त के पीले रूप से ही करना होता है। इसी प्रकार यहाँ भी अवयवों के रूप के आधार पर ही अववयी रूप द्रव्य का प्रत्यक्ष मान लिया जाय।

चित्ररूप के विषय में नवीनमत

चित्ररूप के विषय में नवीन नैयायिकों का कहना है कि नानारूप वाले विभिन्न अवयवों से अवयवी में जो अव्याप्यवृत्ति अर्थात् सर्वांश में व्याप्त न होकर पीत-रक्त-नील आदि नानारूप उत्पन्न होते हैं, उन नानारूपों को ही "चित्ररूप" कहते हैं। श्यामरूप वाले दो कपालों से श्यामवर्णवाला घट उत्पन्न होता है और रक्तरूप वाले दो कपालों से रक्तघट उत्पन्न होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि विभिन्न रूपवाले दो कपालों से उत्पन्न घट में कौनरूप, विभिन्नरूपवाले तन्तुओं से बने हुए पट में कौन रूप है ? इस प्रकार के बने हुए घट को सर्वथा नीरूप ही ही स्वीकार करना होगा, अथवा उसे चित्ररूपवाला घट मानना होगा ? प्रथम नीरूप पक्ष कदापि नहीं मान्य हो सकता है, क्योंकि अप्रत्यक्ष की आपत्ति हो जायगी। इष्टापत्ति करने में अनुभव विरोध हो रहा है। जब हम उस घट को आखों से देख रहे हैं तब कैसे अप्रत्यक्ष माना जासकता है ? इसलिए द्वितीयपक्ष ही श्रेयस्कर होगा, अर्थात् उसे चित्ररूपवाला घट ही मानना होगा, क्योंकि इस प्रकार के बने हुए घट को नील भी सर्वथा नहीं कहा जा सकता है, कारण कि उसमें रक्तरूप भी विद्यमान है, अतः उस घट के रक्त देश में वह रक्तरूप नील का प्रतिबन्धक हो जायगा। इस प्रकार नील-पीत आदि अवयवों के गुणों के प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव के स्वीकार करने में गौरव दोष भी स्पष्ट ही है। इस लिए चित्र रूप का अङ्गीकार करना ही उचित प्रतीत होता है। इसी लिए "चित्रं घट महं पश्यामि "यह अनुव्यवसाय भी होता है। साथ ही यह भी नियम है कि वह चित्ररूप अवयवी के अंदर ही उत्पन्न होता है। उसकी उत्पत्ति का समवायिकारण तो चित्ररूप विशिष्ट अवयवी को ही माना गया है, कारण कि

रूप अवयवी द्रव्य में ही रहता है। जिन २ अवयवों से अवयवी का निर्माण होता उन २ अवयवों के रूप आदि गुण अवयवी के रूप आदि गुणों के प्रति असमवायि कारण होते हैं

',कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते'' गुरुमुख से श्रुत

अर्थात् कारण के गुण कार्य के गुणों को उत्पन्न करते हैं। कपाल का रूप घट के रूप को उत्पन्न करता है। तन्तुओं का रूप पट के रूप को उत्पन्न करता है। उत्पादक होने के नाते ही उसे कारण माना गया है। कारणों में भी उसे असमवायि कारण ही माना गया है, क्योंकि गुण और कर्म हमेशा असमवायिकारण ही होते हैं। न्यायकन्दलीकार ने भी स्पष्ट कहा है "यथा अवभवैरवयवी आरब्धस्तथा अवयवरुपैः अवयविनि रूपमारब्धव्यम्, अवयवेषु च न शुक्लमेव रूपमस्ति नापि श्याम मेव, किंतु श्यामशुक्लहरितादीनि" अर्थात् जैसे अवयवों से अवयवी की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अवयव के गुणों से अवयवी के गुण उत्पन्न होते हैं। अवयवी में उत्पन्न हुए जितने भी गुण हैं वे सब अवयवगुणों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। रूप और रूपवाले द्रव्य का प्रत्यक्ष जैसे चक्षु इन्द्रिय से होता है उसी प्रकार रूपत्व जाति एवं रूप के अभाव का प्रत्यक्ष भी चक्षु इन्द्रिय से ही होता है। "यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते" न्या० बो० तर्क सं०

रस विचार

जिस गुण का प्रत्यक्ष रसना से होता है उसे रस कहते हैं। यद्यपि रस में रहने वाली रसत्व जातिका एवं रस के अभाव का भी प्रत्यक्ष भी रसना इन्द्रिय से ही होता है तथापि वे दोनों गुण नही हैं। ऐसा रसना इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाला गुण रस ही होगा दूसरा नहीं। रस से अतिरिक्त जो भी रसना इन्द्रिय से ग्राह्य हैं रसत्व आदि वे गुण नहीं हैं। रस से अतिरिक्त जो रूप-गन्ध आदि गुण हैं वे रसना इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं हैं। इस रसना इन्द्रिय से ग्राह्य होता हुआ जो गुण है वही रस है। रस केवल दो द्रव्यों में रहता है पृथिवी और जल में।

"गुरुणी द्वे रसवती" भाषा प०

अर्थात् गुरुत्व और रस ये दो गुण एकमात्र पृथिवी और जल में ही रहते हैं अन्यत्र नहीं। तेज में एवं वायु आदि द्रव्यों में किसी भी प्रकार का रस नहीं रहता है। रस छः प्रकार का होता है मधुर (मीठा) आम्ल (खट्टा) लवण

(नमकीन) कटु-कषाय (कसियाया) एवं तिक्त (तीता)। इन छहों रसो की उत्पत्ति, उपलब्धि एवं आश्रयता एकमात्र पृथिवी में ही पायी जाती है। जल में केवल मधुर रस की ही उपलब्धि एवं उत्पत्ति देखने में आती है, जो हरीत की (हरड़) आदि पदार्थों के भक्षण से होती है अन्यथा नहीं। कुछ लोगों ने उसे जल और ऊष्मा के संयोग से उत्पन्न होने के नाते रसान्तर ही मान लिया है।

कुछ विद्वानों ने "रसो वै ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म को ही रस शब्द से कहा है। वहाँ ब्रह्म करके द्रव्य है, न कि द्रव्य गत गुण। साधारण-तया इन मधुर आदि रसों को रूप के समान तीन प्रकार का कहा जा सकता है, उद्भूत-अनुद्भूत और अभिभूत। इस प्रकार ये मधुर आदि रस १८ अट्ठारह प्रकार के हो जाते हैं—छः उद्भूत छः अनुद्भूत और छः ही अभिभूत। प्रत्यक्ष योग्य रस को उद्भूत रस कहते हैं, जैसे हरीतकी आदि के खा लेने के पश्चात् पिये जानेवाले जल का मधुर रस। स्वयं रसना इन्द्रिय का रस जो कि रस ग्राहक है, अनुद्भूत माना गया है एवं जल मिश्रित कटु औषधियों में जो रस है वह 'अभिभूत' रस माना गया है। वह जलका 'मधुर' रस औषध के रस से अभिभूत् है, और औषध पृथिवी है। रसना इन्द्रिय उद्भूत रस का ही प्रत्यक्ष करने में समर्थ है न कि अनुद्भूत तथा अभिभूत रस का भी। साथ ही उस रस में रहने वाली रसत्व जाति तथा रसाभाव इनका प्रत्यक्ष भी रसना इन्द्रिय से ही होता है।

गुण का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उस गुण में रहने वाली जाति तथा उस गुण के अभाव का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है।

जल की नीरसता का विचार तथा खण्डन

इस रस के विषय में कुछ विद्वानों का कहना है कि जल में कोई भी रस नहीं रहता है, वह सर्वथा नीरस द्रव्य है। आश्रय का स्वरूप ही जल का स्वरूप है, अर्थात् जल आश्रय के स्वरूप से हीं स्वरूपवाला है, स्वयं वह निःस्वरूप है। निःस्वरूप तथा निराकार वस्तु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें अमुकरूप तथा रस रहता है। "छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा" अर्थात् जिसका कोई मूल ही नहीं है उसके विषय में पत्ते और शाखा आदि का विचार क्या करना ? जल में जो रस प्रतीत है वह रस नहीं अपितु रसाभास मात्र है, कारण कि जल में स्वयं अपना कोई रस ही नहीं है, वह तो जिस रसवाले दूसरे द्रव्य से संयुक्त होता है उसी द्रव्यांतर के रस से रसवाला कहलाने लगता है।

परन्तु यह कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। जल पंच महाभूत द्रव्यों में परिगणित है। इनसे विनिर्मित यह पाँचभौतिक शरीर जैसे पृथिवी तत्त्व की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार जलतत्त्व की भी अपेक्षा इसे हमेशा रहती है। शरीर की पुष्टि और तुष्टि के लिए सर्वदा किसी पोषक तत्त्व की आवश्यकता होती है। उन पोषक तत्त्वों में एक तत्त्व रस भी है। इतना ही नहीं वहाँ रसत्त्व की प्रधानता है। पोषण रसतत्त्व के विना सर्वथा असंभव है। रस जल का प्रधान गुण है। जल में यदि रस का अङ्गीकार न किया जाय तो शरीर का भरण पोषण ही नितांत निराधार तथा असंभव हो जाय। क्षुधा एवं तृषा आदि कार्य भी अपूर्ण ही रह जाय. इसलिये जल में रस का अङ्गीकार सर्वथा अवश्यक तथा उचित हैं। रस नित्य तथा अनित्य दो प्रकार का है। परमाणु स्वरूप का रस नित्य है। इसके अतिरिक्त सब रस अनित्य हैं।

गन्ध-विचार

गंध वह वस्तु है जो घ्राण इन्द्रिय से ग्राह्य हो और गुण भी हो। कहा भी है—

"घ्राणग्राह्यो गुणो रूपम्" तर्क संग्रह

घ्राण इन्द्रिय से जैसे गंध का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार गंध में रहने वाली गंधत्व जाति तथा गंध के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। पृथिवी के रूप-रस-गंध-स्पर्श ये चारो ही अग्निसंयोग से बदल जाते हैं। अपक्वावस्था (न पकने की अवस्था) में जो गन्ध थी पकने के पश्चात् अब वह गंध उस फल में नहीं रही। फल के पक जाने के पश्चात् उसमें अन्य प्रकार की गंध आ जाती है। अतः ये चारो पृथ्वी में पाकज हैं अर्थात् अग्निसंयोग होने से पृथिवी के पहले रूप-रस-गंध-स्पर्श ये चारो ही नष्ट हो जाते हैं और फिर बाद में दूसरे रूप-रस-गंध स्पर्श उत्पन्न होते हैं, इसीलिए पृथिवी के रूप-रस-गंध-स्पर्श ये चारो पाकज माने गये हैं। पृथिवी में ही एकमात्र गंध की उपलब्धि स्वाभाविक है, अन्यत्र जल-तेज-वायु में औपाधिक है। वायु आदि में पार्थिव अंश के मिल जाने ही से वायु आदि में गंध की उपलब्धि होती है अन्यथा नहीं। किसी दूर प्रदेश में किसी फूल आदि की अथवा वायु के झोक से गंधानुभूति होती है वहाँ कुछ पृथिवी के कण मिले रहते है जिनकी यह गंधानुभूति है।

गन्ध के भेद

"सौरभश्चासौभश्च स द्वेधा परिकीर्त्तितः" भाषा परिच्छेद

अर्थात् गंध दो प्रकार का है सौरभ और सौरभ भेद से। सौरभ नाम सुगंध

का है और असौरभ नाम दुर्गन्ध का है। इसी को उत्कृष्ट एवं अनुत्कृष्ट (अपकृष्ट) और साधारण इन शब्दों से भी कहा जा सकता है। इसी प्रकार उद्भूत-अनुद्भूत तथा अभिभूत इन शब्दों से भी कहा जा सकता है। इस प्रकार इन दोनों को तीन तीन भागों में विभाजित करके गंध को छः प्रकार का कहा जा सकता है। परन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर गंध के नौ भेद हो जाते हैं अर्थात तीन और है, सुष्ठु गंध (सुगंध) और दूसरी कुत्सितगंध (दुर्गन्ध), एक तीसरी गंध और भी है जिसे उभयमिश्रित अर्थात् कुछ अच्छी और कुछ खराब, दोनों मिली हुई। एक कपाल तो दुर्गन्ध पूर्ण है. और दूसरा कपाल सुगन्धपूर्ण है, उन दोनों कपालों से बने हुए घट में साधारण गंध का ही स्वीकार आवश्यक हैं। लोकव्यवहार में भी ऐसा देखने अथवा सुनने में आता है कि यह तो विचित्र सी गंध है। यह विचित्र सी गंध ही साधारण उभयमिश्रित गंध कहलाती है। पृथिवी गंध का आश्रय है, अंयत्र जो गंधानुभूति अथवा गंधोपलब्धि होती है वह एकमात्र पार्थिव अंश के ही आधार पर जैसे वायु का एक नाम गंधवाह भी है।

"परिमलमयमन्यो वांधवो गंधवाहः" श्रुत।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि वायु गंध का आश्रय है, अपितु वायु के द्वारा उड़ाये हुए पार्थिव कण ही उस गंध के आश्रय हैं वायु सर्वथा निर्गन्ध हैं। दूसरी बात यह भी है कि "गंधवाह" शब्द का अर्थ है गंध को वहन करने वाला अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जानेवाला, जैसे, भारवाहन-जनतावाहन आदि। वहन-वाहन-वाह ये तीनों शब्द "वह" प्रापणे धातु से निष्पन्न होते हैं। "वह"धातु का अर्थ प्रापण है अर्थात् ले जाना न कि आश्रय उसका अर्थ है। गंध नित्य अनित्य भेद से भी दो भागों में विभाजित किया गया है। पृथिवी के परमाणु की गंध नित्य होती है, इसके अतिरिक्त और सब गंध अनित्य होती हैं।

स्पर्श विचार

एकमात्र त्वचा-इन्द्रिय से जिस गुण का प्रत्यक्ष होता है उस गुण को स्पर्श कहते हैं।

"त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः" तर्क सं.

इसी त्वचा-इन्द्रिय से स्पर्शत्व जाति का तथा स्पर्श के अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है। यह स्पर्श पृथिवी-जल-तेज और वायु इन चार द्रव्यों में ही एकमात्र रहता है। अन्यत्र द्रव्यों में स्पर्श की अनुभूति देखने में नहीं आती है, अतः उन्हें

स्पर्श रहित माना गया है। आकाश-काल आदि चार से अतिरिक्त सभी द्रव्य स्पर्श शून्य हैं। "चत्वारि स्पर्शवन्ति हि" भाषाप.

स्पर्श का प्रत्यक्ष केवल पृथिवी-जल-तेज और वायु में ही पाया जाता है। इन चारो द्रव्यों के परमाणुओं में रहने वाले स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। स्पर्श के आश्रयभूत परमाणु का ही प्रत्यक्ष नहीं होता है, तब उस परमाणु के आश्रित स्पर्श का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? स्पार्शनप्रत्यक्ष मात्र में चाहे वह द्रव्य का हो अथवा द्रव्यत्व एवं द्रव्याभाव का हो, स्पर्श-स्पर्शत्व एवं स्पर्शाभाव का हो, महत्त्व तथा उद्भूत स्पर्श विशेषरूप से कारण माने गये हैं। परमाणुओं में महत्त्व नहीं, और आकाश-काल आदि में महत्त्व होने पर भी स्पर्श नहीं अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। महत्त्व केवल स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिये ही अपेक्षित नहीं है अपितु चाक्षुषप्रत्यक्ष के लिये भी वह सर्वथा अपेक्षित है। स्पार्शनि-प्रत्यक्ष में उद्भूतरूप अनपेक्षित नहीं है, इसीलिये वायु के प्रत्यक्ष का अनङ्गीकार कुछ दार्शनिकों ने किया है। जो लोग वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मतानुसार उद्भूतस्पर्श ही एकमात्र स्पार्शन प्रत्यक्ष में कारण माना गया है। इसलिये वायु में रूप के न रहने पर भी वायु का प्रत्यक्ष स्पर्श आधार पर होने में कोई बाधक नहीं है। वायुप्रत्यक्षवादियों का स्पष्ट कथन है कि चाक्षुषप्रत्यक्ष में जैसे रूप कारण है उसी प्रकार स्पार्शन प्रत्यक्ष में स्पर्श कारण है। इस प्रकार अलग अलग प्रत्यक्ष में प्रत्येक को अलग अलग कारणता है। वाह्य इन्द्रियों से होने वाले द्रव्य के प्रत्यक्षमात्र में एक कोई भी कारण नहीं है, न रूप न स्पर्श ही।

रस और गन्ध जैसे स्वाभाविक और औपाधिक माने गये हैं उसी प्रकार स्पर्श भी स्वाभाविक तथा औपाधिक माना गया है। उदाहरणार्थ, जैसे जल का स्पर्श ठंडा माना गया है परन्तु कभी कभी उपाधिरूप कारणवश उसमें उष्णता की प्रतीति होने लगती है—

"उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगात् शैत्यं हि यत्साप्रकृतिर्जलस्य" रघुवंश-पंचमसर्ग स्पर्श तीन प्रकार का होता है, उष्णस्पर्श—शीतस्पर्श—अनुष्णाशीतस्पर्श। गरमस्पर्श को उष्णस्पर्श कहते हैं, और ठंडे को शीतस्पर्श, तथा जो स्पर्श उभयमिश्रित हो अर्थात् कुछ ठंडा कुछ गरम उसे अनुष्णाशीतस्पर्श कहते हैं। यह स्पर्श पूर्वोक्त प्रारम्भिक चार द्रव्यों में रहता है, जिनमें से पृथिवी और

वायु में अनुष्णाशीतस्पर्श रहता है, जल में ठंडा और तेज में गरम। इन तीन प्रकार के स्पर्शों में से प्रत्येक को तीन तीन प्रकार का माना गया है, उद्भूत-अनुद्भूत तथा अभिभूत भेद से। इन भेदों के आधार पर यह स्पर्श नौ-प्रकार का हो जाता है। पाकनिर्माण करनेवाली रसोई घर की अग्नि में उद्भूत उष्णस्पर्श है। सुवर्णरूप तेज में जो उष्णस्पर्श है वह पार्थिवभाग से अभिभूत है, एवं तेज के परमाणु में जो उष्णस्पर्श है वह अनुद्भूत स्पर्श है। इसी प्रकार शैत्य-पावनत्वविशिष्ट गंगा जी के जल में जो शीतस्पर्श वह उद्भूतस्पर्श है। उस जल के परमाणुओं में रहने वाला शीतस्पर्श अनुद्भूत है। जल में जो उष्णस्पर्श का कभी कभी भान होता है वह एकमात्र तेज के संयोग से। इसी प्रकार वायु में जो शैत्य की उपलब्धि हो रही है अथवा उष्णस्पर्श भासमान हो रहा है वह भी एकमात्र जल के अथवा तेज के भाग से, वायु के वास्तविक अनुष्णाशीत स्पर्श के अभिभूत हो जाने के कारण ही हो रहा है। कतिपय विद्वानों का यह भी कहना है कि हम लोग किसी भी वस्तु को छूने के पश्चात् उसमें कठिन अथवा कोमल स्पर्श का अनुभव करते हैं। इससे कठिन और कोमल ये भी दो प्रकार के स्पर्श सिद्ध हो रहे हैं। परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है। व्यवहार तथा अनुभव के आधार पर संयोग कठिन अथवा कोमल नहीं मालूम देता है अपितु स्पर्श ही को कठिन अथवा कोमल कहा जा सकता है। इसलिये कठिनत्व और कोमलत्व को स्पर्शगत ही धर्म स्वीकार करना होगा। इसके अतिरिक्त यह भी है कि कठिन अथवा कोमल यदि संयोग ही होता तो संयोग का जैसे चक्षु से प्रत्यक्ष होता है वैसे ही कठिनत्व और कोमलत्व इन धर्मों का भी चक्षु से प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु ऐसा भी अनुभव में नहीं आता है, कारण कि संयोग का दूर से भी प्रत्यक्ष होता है। कठिनता एवं कोम-लता का अनुभव किसी भी वस्तु के अन्दर दूर से करने में नहीं आता, अपितु उस वस्तु को छूने के पश्चात् ही हम उसमें कठिनता एवं कोमलता का अनुभव कर पाते हैं, अतः यही स्वीकार करना होगा कि कठिनता और कोमलता स्पर्श में रहने वाले धर्म विशेष हैं न कि संयोग में।

स्पर्श भी नित्य और अनित्य भेद से साधारणतया दो प्रकार का है। पृथिवी जल-तेज और वायु इन चारो द्रव्यों के परमाणुओं में रहने वाला स्पर्श नित्य है। अन्यत्र अर्थात् द्वयणुक से लेकर स्थूल पृथिवी पर्यन्त पृथिवी में तथा तथाविध-जल-तेज एवं वायु में सब स्पर्श अनित्य हैं। स्पर्श के पाकज और अपाकज ये

दो भेद और माने गये हैं। 'पाक' नाम तेजः संयोग का है उससे उत्पन्न होने वाला स्पर्श पाकज कहा गया है। अग्नि या सूर्य किरण आदि तेज के संयोग से उत्पन्न होने वाला स्पर्श पाकज स्पर्श माना गया है। आम अथवा कटहल आदि पदार्थों के साथ भगवान् भास्कर की किरणों का संयोग बराबर होते २ वे कोमल हो जाते हैं। इसके पूर्व में उनका स्पर्श काठन था। अतः यह कोमलस्पर्श ही पाकजस्पर्श है। यही स्पर्श पकने के पूर्वकाल पर्यन्त अपाकज कहलाता था।

पाकज प्रक्रिया विचार

रूप-रस-गन्ध-स्पर्श इन चारों का अग्निसंयोग से परिवर्तन अर्थात् पूर्वरूप का नाश और रूपान्तर की उत्पत्ति पृथिवी में ही मानते हैं। इसलिये पृथिवी में ही इन सबका पाक से परिवर्तन देखते हैं अन्यत्र नहीं। जल को सैंकड़ों बार तपाने पर भी उसमें रूप-रस आदि का पाक से परिवर्त्तन नहीं देखते हैं। जल में सुगन्ध अथवा दुर्गंध एवं उष्णता औपाधिक है, पाकज नहीं है ऐसा अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निश्चय किया जा चुका है। एवं वायु में भी शीतस्पर्श तथा उष्णस्पर्श औपाधिक हैं। पृथिवी में जो एकमात्र शीतस्पर्श की प्रतीति होती है वह भी औपाधिक है।

पृथिवी में पाक होता है इस विषय में न्याय तथा वैशेषिकों के भिन्न २ मत पाये जाते हैं। वैशेषिकों का कहना है कि—

"तत्रापि परमाणौ स्यात् पाको वैशेषिके नये" भाषापरिच्छेद। अर्थात् वैशेषिक दार्शनिक लोग परमाणु में ही पाक मानते हैं। परमाणु में पाक होता है इसका अर्थ यह है कि अवयव ही में पाक होता है। परमाणु भी एक अवयव है। अभिप्राय है कि कच्चे घड़े को पकाने के लिये कुम्हार आवे के अन्दर जब श्यामघट को रखता है तब उस घट के आरंभक परमाणुओं के साथ अत्यन्त वेगवाले अग्निरुपतेज का अभिघाताख्य अथवा नोदनाख्य संयोग होता है। उस संयोग से उन परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होकर उनका परस्पर में विभाग हो जाता है। इस विभाग से फिर परमाणुओं का द्वयणुकरूप कार्य आरंभ संयोग नष्ट हो जाता है। उस असमवायिकारणरूप संयोग के नाश हो पर द्वयणुकरूपकार्य का अवश्य ही विनाश हो जायगा। द्वयणुक के नाश से फिर त्र्यणुक का नाश, और त्रसरेणु के नाश से चतुरणुक का नाश, और चतुरणुक के नाश से पञ्चाणुक तक का विनाश हो जाता है। इस प्रकार द्वयणुक से लेकर

घटपर्यन्त का विनाश हो जाता है। केवल स्वतन्त्र परमाणु ही अवशिष्ट रह जाते हैं। उन परमाणुओं के साथ फिर अग्नि का संयोग सम्बंध होता है, जिस सम्बंध से पहले रूप-रस आदि की निवृत्ति होकर फिर दूसरे रक्त रूपादि उत्पनन्न हो जाते हैं। इसके पश्चात् प्राणियों के अदृष्टरूप कारण सामग्री वश विलक्षण अग्निसंयोग से उन रक्तपरमाणुओं में फिर क्रिया उत्पन्न होती है।

संख्याविचार

"एकम्" "द्वे" "त्रीणि" अर्थात् यह एक है, ये दो हैं, ये तीन, इस प्रकार के व्यवहार का जो असाधारण कारण है उसे संख्या कहते हैं। "अथ एक:— द्वौ इत्याकारकं ज्ञानं यदि सविषयं स्यात्तदा तत्परिशेषेण स्वविषयसंख्यां साधयेत्, तत्रादौ तज्ज्ञानस्य सविषयत्वे किं मानमितिचेन्न। एसादिज्ञानं "एकादिविषयकज्ञानम्" "निर्विषयं चेति व्याधातात्। ऐक:—द्वौ इत्यादि प्रत्ययानां वैलक्षण्यानुपपत्तिप्रसङ्गाच्च" विलासिनी

अर्थात् यह एक है, ये दो हैं यह ज्ञान यदि सविषय (विषय वाला) हो तो परिशेषानुमान के आधार पर वह अपने विषय भूत संख्या को अवश्य ही सिद्ध करेगा। परन्तु वहाँ भी प्रश्न है कि एक:—द्वौ यह ज्ञानं सविषय है, अथवा-निर्विषय ? यदि सविषय है तो उसके सविषयत्वे क्या प्रमाण है ? ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, कारण कि एकादिज्ञानं एकादिविषयक होता है उसे निर्विषय कहने में वाणी का व्याधात दोष आ जाता है। दूसरी बात यह भी है कि "एक:" "द्वौ" यह एक है, ये दो हैं इत्यादि प्रतीतियों में कोई अन्तर भी नहीं रह जायगा। विषयभेद प्रयुक्त ही ज्ञानों में भेद माना गया है। "एक:" "द्वौ" इत्यादि ज्ञान को निर्विषय जब कहा जाय तो भेद किं प्रयुक्त होगा ? यदि वे ज्ञान सविषय होते तो यह कहा जा सकता था कि "एक:" इस ज्ञान का विषय "एकत्व" संख्या है, और "द्वौ" इस ज्ञान का विषय "द्वित्व" संख्या है इत्यादि। निर्विषय मानने पर भी यह आपत्ति खड़ी हो सकती है कि "एक:" "द्वौ" इत्यादि प्रतीतियों में कोई अन्तर ही नहीं रह जायगा। अब यहाँ पर एक प्रश्न यह है कि "एक:" "द्वौ" इत्यादि ज्ञान अथवा वाक्य-प्रयोग के आधार पर संख्या को इन परिगणित सात पदार्थों से अतिरिक्त अष्टम पदार्थ ही क्यों न मान लिया जाय ? इसका उत्तर यही है कि संख्या को सात

पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ माना जा सकता है, परन्तु फिर पदार्थों की संख्या सात न रहकर अनन्त हो जायेगी, अर्थात् पदार्थों को असंख्य और अनन्त मानना पड़ जायगा। संख्या को अतिरिक्त पदार्थ मानने पर संख्या में भी संख्या का स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। एकं द्रव्यं, द्वे द्रव्ये, त्रीणि द्रव्याणि, एवं एकं रूपम्, द्वे रूपे, त्रीणि रूपाणि, तथा नव द्रव्याणि, चतुर्विंशति गुणाः पञ्च कर्माणि इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर जैसे द्रव्य-गुण-कर्म आदि पदार्थों में संख्या का स्वीकार करना पड़ता है उसी प्रकार एकम् एकत्वम्, द्वे एकत्वे, त्रीणि एकत्वानि, इत्यादि प्रतीतियाँ भी देखने में आती हैं, अतः इन प्रतीतियों के आधार पर संख्या में भी संख्या माननी पड़ जायगी। अनवस्थितपरम्परा की आपत्ति लग जायगी। अतः संख्या को भी गुण कर्म आदि की तरह अतिरिक्त पदार्थ न मानकर द्रव्यमात्र वृत्ति ही एक गुण मानना होगा। एवं "एकंरूपम्" "द्वे रूपे" "त्रीणि रूपाणि" इस प्रकार गुणों में जो संख्या का व्यवहार होता है वह संख्या वास्तविक में गुणरूप है ही नहीं, वह संख्या अपेक्षा बुद्धि विशेष-विषयत्वरूप मानी गयी है। मीमांसक प्रभृतिदर्शनिक संख्या को गुणस्वरूप न मानकर उसे अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं।

संख्या के भेद

"एकादिपदप्रवृत्तिनिमित्तं संख्या" अर्थात् जो एक-दो इत्यादि पदों की प्रवृत्ति का निमित्त होता है उसे संख्या कहते हैं। "अयमेकः" "इमौ द्वौ इत्यादि स्थलों में एकः—द्वौ इत्यादि पदों का प्रवृत्तिनिमित्त एकत्व-द्वित्व आदि को माना गया है उसी का नाम संख्या है। यह संख्या एकत्व से लेकर परार्द्ध पर्यन्त होती है। परार्द्ध संख्या से आगे और कोई संख्या नहीं है। कुछ गणितवेत्ता लोगों का कहना है कि जैसे एक को दो से गुणा करने पर द्वित्व संख्या आजाती है, एवं एक को दश से गुणा करने पर दशत्व संख्या का लाभ हो जाता है। दस को दस से गुणा करने पर शतत्व संख्या लब्ध होती है। शत को दस गुणा करने से सहस्रत्व संख्या का लाभ होता है सहस्र को दस गुणा करने पर अयुतत्व संख्या लब्ध हो जाती है। अयुत को दशगुणित करने से लक्षत्व संख्या आजाती है। लक्ष को दशगुणित करने पर नियुतत्व संख्या की प्राप्ति होती है। नियत को दश गुणा करने पर कोटित्व संख्या का लाभ होता है। कोटि के दश गुणा से अर्बुदत्व, और अर्बुद के दश गुणा से वृन्दत्व, वृन्द

के दशगुणा से खर्वत्व, खर्व के दशगुणा से निखर्वत्व, निखर्व के दशगुणित होनें पर शंखत्व, शंख को दश गुणा करके पद्मत्व, पद्म की दशगुणितसंख्या सागरत्व, सागर की अन्त्यत्व, और अन्त्य की दशगुणित संख्या मध्यत्व, मध्य की दशगुणित पराद्धत्व संख्या को माना गया है। इस प्रकार एकत्व से लेकर पराद्धत्व पर्यन्त संख्या के अट्ठारह भेद माने गये हैं।

"एकं दश शतं चैव सहस्रमयुतं तथा। लक्षं चनियुतं चैव कोटिर बुंदमेव च ॥१॥ :वृन्दं खर्वो निखर्वश्च शङ्ख पद्मौ च सागरः। अंत्यं मध्यं परार्द्धश्च दशवृद्धया यथाक्रमम् ॥ २ ॥ विष्णु पुराण

परन्तु ये भेद उतने युक्तियुक्त तथा प्रमाणपरिष्कृत नहीं प्रतीत होते हैं। जब द्वित्व-त्रित्व आदि संख्या का व्यवहार भी स्पष्ट देखने में आता है, तब क्या कारण है कि दशत्व-शतत्व आदि संख्याओं को मुख्य कहा जाय और को गौण इत्यादि ? कुछ विद्वानों का यह भी कहना है कि संख्या केवल दो ही प्रकार की होती है, एकत्व तथा अनेकत्व। एकत्व संख्या नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। नित्यों में रहने वाली एकत्वसंख्या नित्य और अनित्यों में रहने वाली अनित्य। अनेकत्व संख्या सर्वथा अनित्य ही होती है, अनेकत्व संख्या अर्थात् द्वित्व-त्रित्व से लेकर परार्द्धपर्यन्त संख्या अपेक्षा बुद्धिजन्य होती है, तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से उसका नाश हो जाता है। "अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः" भाषा-परिच्छेद। यह अनेकत्वसंख्या अनेकद्रव्यों के ही आश्रित भी होती है। दो घटों में रहने वाली द्वित्व संख्या उन दो ही घटों के आश्रित होगी, तीन घटों में रहने वाली त्रित्वसंख्या तीन ही घटों में रहेगी। इसी प्रकार चतुष्टत्व संख्या आदि के विषय में समझ लेना चाहिये।

अनेकत्वसंख्या का नियामक पर्याप्ति सम्बन्ध-द्वित्व-त्रित्व से लेकर परार्द्धत्व-पर्यन्त अनेकत्व संख्या का नियामक सम्बन्ध पर्याप्ति नामक सम्बन्ध माना गया हैं। "अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः" भाषा प०

यद्यपि द्वित्व-त्रित्व आदि अनेकत्वसंख्या समवायसम्बन्ध से भी अपने आश्रय में रह सकती हैं, परन्तु समवाय सम्बन्ध को अनेकत्वसंख्या का नियामक मानने पर "एको द्वौ" "अयं द्वौ" इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति लग जायगी, जो कि सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। "एको न द्वौ" "अयं न द्वौ" इत्यादि प्रतीतियां लोक-व्यवहार में देखने में आती हैं अतः इन दित्व-त्रित्व आदि अनेकत्व संख्या का

पर्याप्ति नामक सम्बन्ध को ही नियामक मानना होगा । पर्याप्ति नामक सम्बंध के नियामकत्वपक्ष में आवश्यक नियम बन जाता है कि—

"उभयत्वम् उभयत्रैव पर्याप्त नत्वेकत्र" पञ्चलक्षणी

अर्थात् उभयत्व (द्वित्व) जैसे पर्याप्ति सम्बंध से उभय (दो) ही में रहता है, एवं त्रित्व तीन ही में रहता है न ज्यादा में और न कम में । इसीलिए "इमौ द्वौ" "इमे त्रय: इत्यादि प्रतीतियाँ उपपन्न हो जाती हैं, और "एको द्वौ" तथा "अयं द्वौ" ये सब प्रतीतियाँ सर्वथा अनुपपन्न हो जाती हैं । इसी प्रकार शतत्व संख्या सौ ही में रहेगी । अन्य भी सब संख्याएं अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति पर्याप्ति सम्बंध से ही हो सकती हैं ।

अपेक्षा बुद्धि विचार

अपेक्षा बुद्धि का लक्षण विश्व नाथपञ्चानन ने यह बतलाया है— "अनेकै कत्व बुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धि रिष्यते" भा. प.

अर्थात् अनेकों में एकत्व की अलग २ जो बुद्धि अथवा अनेक एकत्वों को विषय करने वाली जो बुद्धि, उसे अपेक्षाबुद्धि कहते हैं, जैसे "अयमेक-अयमेक:" अथवा "अयमेक:, अयमेक:, अयमेक:" यह अपेक्षाबुद्धि तीन एकत्वों को विषय करने वाली है । इसलिए इस अपेक्षाबुद्धि से त्रित्वसंख्या की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार आगे चतुष्टत्व तथा पञ्चत्व षट्त्व आदि प्रथम क्षण में दो एकत्वों को विषय करनेवाली अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है । दूसरे क्षण में उन दोनों घटों में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है । उस द्वित्व संख्या का वे दोनों घट समवायिकारण हैं, और उन दोनों घटों में विद्यमान दो ऐकत्वसंख्या असमवायिकारण होती हैं । अपेक्षा-बुद्धि स्वयं निमित्तकारण है । तृतीत क्षण में विशिष्ट बुद्धि के कारणीभूत विशेषण ज्ञान "द्वित्व-द्वित्वत्वे" इत्याकारक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का उदय हो जाता है । इसी को निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी कहते है । चतुर्थक्षण में उस निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान स्वरूप विशेषण ज्ञान के द्वारा द्वित्वत्वधर्म विशिष्ट द्वित्व का "इदं द्वित्वम्" इत्याकारक सविकल्पक प्रत्यक्षात्मक विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है, क्यों कि विशिष्ट बुद्धि में विशेषण ज्ञान कारण होता है । उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उस अपेक्षाबुद्धि का नाश भी उसी क्षण में हो जाता है । पंचमक्षण में

"इमौ द्वौ" "द्वौ घटौ" इत्याकारक विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश हो जाता है। इसीलिए अपेक्षाबुद्धि को तीन क्षण स्थायी माना जाता है, अन्यथा अपेक्षाबुद्धि को यदि दो क्षणमात्र स्थायी माना जाय, तो निर्विकल्पक ज्ञान की उत्पत्तिकाल में अपेक्षा बुद्धि का ही नाश हो जायेगा। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का भी नाश हो जायेगा, फिर 'द्वे द्रव्ये' द्वित्व का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। द्वित्व के प्रत्यक्ष के उत्पत्तिक्षण में विषयरूप (द्वित्वरूप) कारण ही नहीं है और चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष समान कालीन विषयों का ही ज्ञान होता है। इसलिए द्वित्व के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति के भय से द्वित्व प्रत्यक्ष ही अपेक्षाबुद्धि का नाशक हो सकता है। अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है। अतः अपेक्षाबुद्धि ही द्वित्व का उत्पादक है और वही नाशक भी है। इसलिए चैत्र की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होनेवाली द्वित्व-त्रित्व आदि संख्या का प्रत्यक्ष चैत्र ही कर सकता है और मैत्र की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होने वाली द्वित्व एवं त्रित्व आदि संख्या का प्रत्यक्ष मैत्र ही कर सकता है।

"अत एव तत्पुरुषीयाऽपेक्षाबुद्धिजन्य द्वित्वादिकं तेनैव गृह्यते इति कल्प्यते भा०प०

जगत की उत्पत्ति के कारणीभूत परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के नाते उनमें "अयमेकः" "अयमेकः" इत्यादि रूप से होनेवाली अपेक्षाबुद्धि अनुपपन्न है तो वहाँ द्वित्व की उत्पत्ति कैसे संभव हो सकनी है ? इसका उत्तर है कि—

"अतीन्द्रिये द्वयणुकादौ अपेक्षाबुद्धि योगिनाम्। सर्गादिकालीन परमाण्वादौ ईश्वरीयाऽ पेक्षाबुद्धिः ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनामपेक्षा बुद्धिर्वा द्वित्वादि कारणम्" भा. प.

अर्थात् इन्द्रियों से अगम्य अतीन्द्रिय पदार्थों में (परमाणु तथा द्वयणुक आदि में) योगी लोगों की अपेक्षाबुद्धि के आधार पर ही द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदिकालीन परमाणुओं में ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि अथवा ब्रह्माण्डान्तर में रहने वाले योगियों की अपेक्षाबुद्धि को ही द्वित्वोत्पत्ति का कारण मानना उचित है।

कुछ गणितज्ञ विद्वानों का यह भी कहना है कि केवल एकत्व संख्या का ही अङ्गीकार आवश्यक है। उनका कहना है कि बड़ी से बड़ी संख्या एकत्व के आधार पर ही संपन्न हो पाती है, जैसे दो एकत्व सख्याओं से द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है। तीन एकत्वसंख्याओं के आधार पर त्रित्वसंख्या की उत्पत्ति

होती है। इसी प्रकार चतुष्टव पञ्चत्व आदि संख्याओं के विषय में भी समझ लेना चाहिए। पर जहाँ एकत्व संख्या का ज्ञान अनियत रूप से होता है वहाँ एकत्व, द्वित्व त्रित्व तथा चतुष्टत्व आदि संख्याओं से भिन्न एक विलक्षण बहुत्व संख्या ही उत्पन्न हो जाती है, ऐसा कन्दलीकार का मत है। सेना अथवा वन आदि स्थलों में देखने में स्पष्ट आता है कि यह बहुत बड़ा बन है, अथवा यह बहुत बड़ी सेना है इत्यादिरूप से वहाँ बहुत्व संख्या का ही व्यवहार होता है। वहाँ त्रित्व या द्वित्व आदि संख्याओं का व्यवहार कोई नहीं करता देखा जाता है। इस विषय में उदयनाचार्य का कहना है कि जिस बहुत्वसंख्या को कन्दलीकार ने त्रित्व आदि संख्याओं से भिन्न माना है वह बहुत्वसंख्या वास्तव में त्रित्व आदि संख्याओं से भिन्न नहीं है अपितु अभिन्न है।

"तथा च बहुत्वसंख्या न त्रित्वादिपरार्धत्वान्तान्यतम भिन्ना किन्तु तदात्मिकै वेतिभाव:। विलासिनी

अर्थात् त्रित्व चतुष्ट्व आदि संख्या से अतिरिक्त बहुत्वसंख्या कोई चीज नहीं है। इसी लिए सेना एवं वन आदि स्थलों में हजार आदि का जहाँ व्यवहार होता है वहाँ सहस्रत्व संख्या रूप ही बहुत्व है। इसलिए अनुभव के अनुरोध से यह मानना होगा कि बहुत्वसंख्या त्रित्व आदि से सर्वथा अभिन्न है। त्रित्वत्व आदि का व्यापक ही बहुत्वत्व जाति है। इसीलिए "इतो बहुतरेयं सेना इति प्रतीति रुपपद्यते, बहुत्वस्य संख्यांतरत्वे तु तत्तारतम्याभावात्" भा० प०

इस सेना से यह सेना बहुत बड़ी है, अन्यथा बहुत्व संख्या को यदि त्रित्व आदि संख्याओं से भिन्न माना जायगा तो कन्दलीकार के मत में स्वकी अपेक्षा स्व में न्यूनाधिक्यभावरूप तारतम्य नहीं बनेगा।

परिमाण विचार

"अय मणु:" "अयं महान्" "अयं ह्रस्व:" "अयं दीर्घ:"

अर्थात् यह अणुत्वपरिमाणवाला है, यह महत्त्वपरिमाणवाला है, यह लम्बा और यह छोटा है। इस प्रकार का जो प्रत्यक्षात्मकव्यवहार होता है उस व्यवहार का असाधारण कारण परिमाण को ही माना गया है।

"मानव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणम्" तर्क सं०

"परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम्।
अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरित:"॥ भाषा प.

"मानव्यवहार विषयवृत्तिगुणत्वव्याप्तजातिमत् परिमाणम्" गुरुमुख से श्रुत। अर्थात् परिमाण के व्यवहार के विषय में रहने वाली जो गुणत्व का व्याप्य जाति उस जाति वाले गुण को परिमाण माना गया है। उस परिमाणत्व जातिवाला परिमाणमात्र होगा, जैसे घटत्व जाति वाले समस्तघट हैं, पटत्वजाति वाले समस्त पट होते हैं इत्यादि।

परिमाण नौ द्रव्यों में रहता है। वह दित्यद्रव्यों में (आकाश परमाणु आदि में) नित्य है। पृथिवी-जल-तेज-वायु इन चार अनित्य द्रव्यों में अनित्य माना गया है। अणुत्व-महत्त्व दीर्घत्व-ह्लस्वत्व भेद से वह परिमाण चार प्रकार का होता है। परमअणुत्व मध्यमअणुत्व-परममहत्त्व-मध्यममहत्त्व परमह्लस्वत्व-मध्यमह्लस्वत्व-परमदीर्घत्व-मध्यमदीर्घत्व-इन अवान्तर भेदों के द्वारा वह आठ प्रकार का हो जाता है। पृथिवी-जल-तेज-वायु इन चार भूत द्रव्यों के परमाणुओं में तथा मन में परमअणुत्व एवं परमह्लस्वत्व परिमाण रहता है। आकाश-काल दिशा तथा आत्मा इन चार नित्य द्रव्यों में परममहत्त्व तथा परमदीर्घत्व परिमाण रहता है। एवम् पृथिवी-जल-तेज-वायु तथा त्रसरेणु से लेकर घट-पट आदि समस्त कार्यद्रव्यों में मध्यममहत्त्व तथा मध्यमदीर्घत्व परिमाण रहता है। द्वयणुक में मध्यमअणुत्व तथा मध्यमह्लस्वत्व परिमाण रहता है।

अनित्यपरिमाण विचार

अनित्यपरिमाण तीन प्रकार का होता है—संख्यामात्र जन्य, परिमाणमात्र जन्य, और प्रचयमात्र जन्य, अर्थात् केवल संख्या से उत्पन्न होनेवाला, परिमाणमात्र से उत्पन्न होनेवाला, और प्रचयमात्र से उत्पन्न होनेवाला।

"संख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते" भाषापरि०

संख्यामात्रजन्य परिमाण

दो परमाणु ईश्वरीय चिकीर्षावश अथवा प्राणियों के अदृष्टवश परस्पर में संयुक्त होकर द्वयणुक को उत्पन्न करते हैं। उन दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्व संख्या द्वयणुक के परिमाण का कारण बनती है। द्वयणुक परिमाण मध्यमअणुत्व एवं मध्यमह्लस्वत्व माना गया है। त्रसरेणु का परिमाण द्वयणुकों में रहने वाली त्रित्व संख्या से उत्पन्न होता है। यहाँ पर एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जैसे घट-पट आदि कार्यद्रव्यों के परिमाण के प्रति सर्वत्र कारण के परिमाण को ही कारण माना गया है, फिर क्यों द्वयणुक के परिमाण के प्रति

परमाणु के परिमाण को अथवा त्रसरेणु के परिमाण के प्रति द्वयणुक के परिमाण को कारण न मानकर उसमें रहने वाली संख्या को कारण माना जाता है ? इसका उत्तर है कि अणुपरिमाण किसी के प्रति भी कारण होता ही नहीं है।

"पारिमण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्" भाषापरि०

पारिमण्डल्य से भिन्नों का "कारणत्व" साधर्म्य (समानधर्म) होता है। पारिमाण्डल्य अणुपरिमाण को कहते हैं। अतः कारणत्व जितने भी अणुपरिमाण हैं उन सबों का धर्म नहीं है अर्थात् उनमें कारणत्व धर्म नहीं रहता है। कोई भी अणुपरिमाण किसी भी परिमाण का कारण नहीं होता है। अणुपरिमाण किसी भी परिमाण का आरम्भक नहीं हो सकता है—"नापि परमाणुपरिमाणं द्वयणुकपरिमाणकारणं नित्यपरिमाणत्वत् आकाशादि परिमाणवत्, अणुपरिमाणत्वात् मनः परिमाणवत्। एवं त्रसरेणु परिमाणं प्रति द्वयणुकाणु परिभाणानां च आरंभकत्वे त्र्यणुकस्याऽणुत्वमेव स्यात् न महत्त्वम्।"—विलासिनी टीका। परिमाण की कारणता के विषय में ऐसा कहा है कि—अणुपरिमाण यदि कारण होगा तो स्वाश्रय से उत्पन्न कार्य-द्रव्य के परिमाण का ही कारण हो सकता है। परन्तु प्रकृत में वह बिल्कुल संभव नहीं है। परिमाण के विषय में ऐसा मियम है कि परिमाण अपने सजातीय एवं अपने से उत्कृष्ट परिमाण को ही उत्पन्न करता है। उत्कृष्टता तरप् एवं तमप् प्रत्यय प्रयुक्त मानी गयी है। उदाहरणार्थ कपाल के महत्परिमाण से आरब्ध घट का परिमाण कपाल के परिमाण से बड़ा अर्थात् महत्तर होता है। इसी प्रकार परमाणु के परिमाण से जब कि द्वयणुक का परिमाण उत्पन्न होगा तो वह परमाणु से उत्कृष्ट होगा अर्थात् अणुतर होगा। इससे फिर त्रसरेणु का जो परिमाण उत्पन्न होगा वह अणुतम हो जायगा, इस प्रकार फिर त्रसरेणु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, और फिर घट आदि का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा—

"तद्धि स्वाश्रयारब्धद्रव्यपरिमाणरम्भकं भवेत् तच्च न संभवति परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्ट परिमाणजनकत्वनियमात्। महदारब्धस्य महत्तरत्ववत् अणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्"।

इसलिये अणुपरिमाण को कारण न मानकर अणुद्रव्यनिष्ठ द्वित्व अथवा त्रित्व आदि संख्याओं को कारण माना गया है। अतः वह द्वयणुक अथवा त्रसरेणु का परिमाण संख्याजन्य होता है। वह परमाणुगतद्वित्वसंख्या द्वयणुक

के परिमाण का असमवायिकारण मानी गयी है। द्वयणुकगतत्रित्वसंख्या त्रसरेणु के परिमाण का असमवायिकारण मानी गयी है।

परिमाणजन्य परिमाण विचार

घट-पट आदि समस्त प्रत्यक्षयोग्य कार्यभूत द्रव्यों का परिमाण घट-पट आदि द्रव्यों के कारणीभूत अवयवद्रव्यों के परिमाण से उत्पन्न हुआ माना गया है। इसी प्रकार चार त्रसरेणुओं से उत्पन्न होने वाले चतुरणुकरूप कार्य द्रव्य का महत्त्व परिमाण भी चार त्रसरेणुओं के महत्त्वपरिमाण से ही उत्पन्न होता है। एवं पाँच चतुरणुकों से उत्पन्न हुए पंचाणुकरूपकार्य द्रव्य का महत्त्वपरिमाण भी उन चार चतुरणुक अवयवद्रव्यों के महत्त्व परिमाण से ही जन्य है। उन कारणीभूत अवयवद्रव्यों के परिमाण को कार्यद्रव्यगतपरिमाण के प्रति असम-वायि कारण ही माना गया है। गुण-कर्म सर्वदा असमवायिकारण ही होते हैं।

घट-पट आदि कार्य द्रव्यों का परिमाण उनके कपाल आदि अवयव रूप कारणीभूत द्रव्यों से ही एकमात्र उत्पन्न होता है न कि कपालगतद्वित्व से घट का परिमाण उत्पन्न होता है। द्वित्वसंख्या को कहीं भी महत्त्व का कारण नहीं माना गया है। यदि द्वित्वसंख्या भी महत्त्वपरिमाण का कारण हो तो द्व्यणुक का परिमाण भी महत्त्व परिमाण हो जाय। ऐसी परिस्थिति में द्वयणुक का प्रत्यक्ष मानना पड़ जायगा, जो द्वणुक प्रत्यक्ष सर्वथा अनुभवविरुद्ध है—

"न तु कपालगतद्वित्वसंख्याजन्यं, द्वित्वसंख्याया महत्त्वाजनकत्वात्. अन्यथा द्वयणुकेऽपि महत्वोत्पादापत्तेः नापि प्रचयजन्यम् अप्रचितकपाल-परिमाणाद् घटपरिमाणोत्पत्तेः" विलासिनी टीका

अर्थात् घट का परिमाण न तो कपालगतद्वित्व संख्या से ही जन्य है और न प्रचय जन्य है। प्रचयरहित कपाल परिमाण से घट परिमाणोत्पत्ति देखने में आती है।

प्रचयजन्यपरिमाण विचार

प्रचय शिथिल संयोग को कहते हैं, जैसे रुई आदि द्रव्यों का संयोग शिथिल संयोग है। इसीलिये प्रचयत्व को अवयवों में समवेत जो संयोग-उस संयोग में रहने वाली जाति विशेषरूप माना गया है। उस जाति विशेषावच्छिन्न व्यक्ति विशेष को ही शिथिल शब्द से कहा गया है। वह शिथिल संयोग ही "प्रचय" शब्द वाच्य है।

"प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते । परिमाणं तूलकादौ" ।। भा. प.

अर्थात् रुई आदि द्रव्यों में जो मुलायम अभवा कोमल स्पर्श का अनुभव होता है वह एकमात्र शिथिल संयोग जन्य है। "महदवयवानां प्रशिथिलः संयोगः प्रचयः" गुरू मुख से श्रुत।

अर्थात् तूलपिण्ड के अवयवों का परस्पर में जो संयोग होता है वही प्रशिथिल संयोग कहलाता है और उसी का नाम प्रचय है। परमाणु अथवा द्वयणुक में शिथिलसंयोगात्मक प्रचय कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता है। परमाणु-निरवयवद्रव्य है और द्वयणुक सावयवद्रव्य से आरब्ध नहीं हैं। द्वयणुक और त्रसरेणु इन दोनों के परिमाण शिथिलसंयोग रूप प्रचय के असमवायिकारण होते हैं, इसमें भी कोई प्रमाण नहीं है—

"परमाणौ द्वयणुके वा न शिथिल संयोगसंभवः, परमाणोर्निरवयवद्रव्यत्वात्, द्वयणुकानां च सावयवद्रव्यारब्धत्वाभावात्, द्वयणुक त्र्यणुकपरिमाणयोः प्रचयासमवायिकारणकत्वे मानाभाव इत्यपि बोध्यम्" विलासिनी—

परिमाणनाश विचार

परिमाण दो प्रकार का होता है नित्य, अनित्य। उनमें नित्य सर्वथा अविनाशी है। केवल अनित्य परिमाण का ही विनाश होता है। अनित्य परिमाण का विनाश आश्रय के नाश से ही होता है। "नाशस्त्वाश्रयनाशतः" भा.षा.

यदि आश्रयनाश से परिमाण का नाश होता है तो जिस पटात्मक अवयवी में से चार या पाँच तन्तु निकाल लिये गये अथवा और नये उतने चार पाँच तन्तु मिला दिये गये वहाँ यह वही पट है "सोऽयं पटः" इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के आधार पर पट का अविनाश तो प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु परिमाण के न्यूनाधिक्य होने के नाते पूर्व परिमाण का विनाश अथवा दूसरे परिमाण की उत्पत्ति देखने में आती है? इससे परिमाणान्तर प्रत्यक्ष सिद्ध है। परन्तु यह कथन इसलिये संगत नहीं हो सकता है कि वहाँ वेमा आदि के अभिघाताख्य संयोग के द्वारा क्रिया-विभाग-पूर्वसंयोगनाश-आदि की उत्पत्ति द्वारा असमवायिकारणरूप तन्तु संयोग के नाश से उस पट का अवश्य ही नाश हो जाता है और फिर दूसरे पट की उत्पत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वेमा आदि के अभिघाताख्य संयोग के द्वारा हजार तन्तुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, फिर उस क्रिया से उन तन्तुओं का परस्पर में विभाग हो जाता है,

विभाग से उन तन्तुओं के संयोग का नाश हो जाता है। उस तन्तु संयोग रूप असमवायिकारण के नाश से उस हजार तन्तुओं से बने पट का भी विनाश हो जाता है। इसके पश्चात् वे सहस्रतन्तु तथा दूसरे तन्तु परस्पर में संयुक्त होकर फिर से दूसरे पट को उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार पट के आरंभ से लेकर अन्तिम तन्तुपर्यन्त परस्पर के तन्तुओं के संयोग से पूर्व पूर्व पट का नाश और उत्तरोत्तर पट की उत्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आश्रय के नाश से ही परिमाण का नाश होता है—

"शरीरादावयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्याऽऽवश्यकत्वादवयविनाश आवश्यक:" सि. मु०

इस विषय में कुछ मीमांसकों का कहना है कि आश्रयीभूत द्रव्य के नाश से ही परिमाण का नाश नहीं होता है, अपितु आश्रयीभूत द्रव्य के विद्यमान रहते हुए ही कुछ अवयवों के विश्लेष से अथवा कुछ अवयवों के उपचय से पूर्वपरिमाणनाश पूर्वक दूसरे परिमाण की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, कारण कि जिस सहस्रतन्तुक पट में जिन दूसरे तन्तुओं के मिलजाने से परिमाण की अधिकता हो जाती है वे दूसरे तन्तु उस सहस्रतन्तुकपट के अवयव हैं या नहीं? यदि हैं तो उन दूसरे तन्तुओं के संयोग होने से पहले उन तन्तुरूप कारणों के अभाव से उस सहस्रतन्तुकपट की उत्पत्ति ही नहीं होनी चाहिए। यदि वे दूसरे तन्तु उस सहस्रतन्तुक पट के अवयव नहीं हैं तब तो उस सहस्रतन्तुकपट के साथ उन दूसरे तन्तुओं का संयोग हो जाने पर भी उस पट में परिमाण की अधिकता नहीं होनी चाहिये। सहस्रतन्तुक पट के साथ हस्त आदि द्रव्य का संयोग होते हुए भी उस पट में परिमाण की अधिकता नहीं होती हैं, क्योंकि हस्त आदि उसके अवयव नहीं हैं। परन्तु दूसरे तन्तुओं के संयोग हो जाने से उस पट में परिमाण का आधिक्य प्रत्यक्षसिद्ध है। इससे वहाँ पूर्वपट का नाश तथा दूसरे पट की उत्पत्ति अवश्य ही माननी होगी। यह वही पट है, "सोऽयं पट:" यह प्रत्यभिज्ञा उस उत्तरोत्तर पट में पूर्वपूर्व पट के साजात्य को विषय करती है, जैसे यह वही दीपशिखा है अर्थात् "सेयं दीपशिखा" इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में उत्तरोत्तर दीपशिखा पूर्व पूर्व दीपशिखा का साजात्य विषय होता है। "यथा प्रतिक्षणं दीपकलिकाया विनाशेऽपि" सैवेयं दीपकलिका" इति प्रत्यभिज्ञाया: सजातीय विषयकत्वम्, तथा "सोऽयं घट:" इत्यादि प्रत्यभिज्ञाया अपि साजात्य विषयकत्वं बोध्यम्" विलासिनी—

पृथक्त्वविचार

"अयमस्मात् पृथक्" अर्थात् "घटः पटात् पृथक्" यह इससे पृथक् (अलग) है, घट पट से पृथक् है इत्यादि व्यवहार का असाधारण कारण पृथक्त्व ही है–

"पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वम्" तर्क सं०

"पृथग्व्यवहारविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत् पृथक्त्वम्" गुरुमुख से श्रुत ।

अर्थात् घट पट से पृथक् है इत्याकारक व्यवहार के विषयीभूत पृथक्त्व में रहने वाली जो गुणत्व की व्याप्य जाति-उस जाति वाले गुण को पृथक्त्व कहते हैं। यह पृथक्त्व भी संख्या की तरह पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहता है। पृथक्त्वगुण भी एक पृथक्त्व तथा अनेकपृथक्त्व के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें एक द्रव्य व्यक्ति में रहने वाला पृथक्त्व एक पृथक्त्व कहलाता है। दो-तीन-अथवा चार-पाँच आदि अनेक द्रव्यों में रहने वाला पृथक्त्व अनेक पृथक्त्व कहलाता है। "घटः परात् पृथक्" यह एकपृथक्त्व कहलाता है। यहाँ पटावधिक पृथक्त्व केवल एकव्यक्ति घट में रहने वाला है। "घटौ पटात् पृथक्" यहाँ दो घटों में पटावधिक पृथक्त्व है, एवम् "घटाः पटात् पृथक्" यहाँ पर बहुत से घटों में पट का पार्थक्य है, अतः यह भी अनेक पृथक्त्व कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी चतुः पृथक्त्व, पंचपृथक्त्व आदि भी है। एक पृथक्त्व भी नित्य अनित्य भेद से दो प्रकार का होता है। नित्य द्रव्यों में रहने वाला एक पृथक्त्व नित्य है, तथा द्वयणुक से लेकर घट-पट आदि समस्त अनित्य द्रव्यों में रहने वाला एक पृथक्त्व अनित्य ही होता है। यह अनित्य एक पृथक्त्व आश्रयद्रव्य की उत्पत्ति से द्वितीयक्षण में उत्पन्न होता है, और आश्रय के नाशाधीन नाश हो जाता है। अनित्य एक पृथक्त्व के घट पट आदि रूप द्रव्य समवायिकारण हैं। कपाल प्रभृति अवयवगत एक पृथक्त्व असमवायिकारण है।

तुलनात्मक विचार

अनेक पृथक्त्व भी द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व चतुः पृथक्त्व आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है। घट पट आदि द्रव्यों के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध होने के पश्चात् "अयमेकः पृथक्" "अयमेकः पृथक्" इस प्रकार की दो पृथक्त्वों को विषय करने वाली अपेक्षाबुद्धि प्रथमक्षण में उत्पन्न होती है। दूसरे क्षण में उन दो घटों में पटावधिक द्विपृथक्त्व उत्पन्न होता है। उस द्विपृथक्त्व के वे दो घट असमवायिकारण हैं। प्रत्येक घट में रहने वाले जो वे दो एक पृथक्त्व हैं, वे दोनों एक

पृथक्त्व द्विपृथक्त्व के असमायिकारण हैं, अपेक्षा बुद्धि निमित्त कारण है । तृतीय क्षण में द्विपृभक्त्व का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है । चतुर्थ क्षण में 'घटौ पटात् पृथक्' इत्याकारक द्विपृथक्त्व नामक सविकल्पक ज्ञान होता । पंचमक्षण में अपेक्षाबुद्धि नाश से द्विपृथक्त्व का नाश होता है ।

कुछ लोग मानते हैं कि पृथक्त्व अर्थात् भेदस्वरूप है, अन्योन्याभाव रूप ही है, गुणरुप नहीं । 'घटः पटात् पृथक्' का अर्थ है 'घटः पटो न' अर्थात् 'घट पट से पृथक् है, यह अन्योन्याभाव है । परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है । घटीयं रुपं घटो न' यह प्रतीति होती है । यह प्रतीति अन्यन्योभाव को पृथक्त्वस्वरूप मानने पर अनुपन्न हो जायेगी क्योंकि यह प्रतोति घट में रूप का भेद स्वीकार करने पर ही होती है । यदि अन्योन्याभाव पृथक्त्व है, तो रूप भी गुण हैं और पृथक्त्व भी गुण हैं । गुण में गुण नहीं रह सकता-गुणे गुणानङ्गीकारात्' । दूसरी बात यह है कि 'अयमस्मात् पृथक्' 'इदं न' ये दोनों प्रतीतियां विलक्षण हैं । 'अस्मात्' में पञ्चमी विभक्ति है, परन्तु 'घटो न पटः' में पञ्चमी नहीं है । अतः 'नञ्' अर्थ सूचक अन्योन्याभाव पञ्चमी अर्थ से भिन्न है । "अस्माद् पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि-विलक्षणा" भाषापरि—

अर्थात् "अस्माद् इदं पृथक्" और "इदं न" अर्थात् "रूपं घटो न" अथवा "घटः पटो न" ये दोनों प्रतीतियाँ भिन्न भिन्न विषयवाली होने के नाते विलक्षण ही हैं । अन्योन्याभाव और पृथक्त्व इन दोनों को एक मानने पर "घटोन" यहाँ पर भी पञ्चमीविभक्ति की आपत्ति लग जायेगी । अतः पृथक्त्व को गुणान्तर अर्थात् अन्योन्याभाव से भिन्न गुण ही मानना होगा ।

"तथाचाऽन्योन्याभावपृथक्त्वयोरैक्ये घटो नेत्यत्र पञ्चाम्यापत्त्या पृथक्त्वं गुणान्तरमेव" **विलासिनी—**

नवीन नैयायिक अन्योन्याभाव को पृथक्त्व से भिन्न नहीं मानते हैं । प्रभाकरमतानुयायी लोग पृथक्त्व को कार्यभूतद्रव्यों में मानते ही नहीं हैं ।

"पृथक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु ।
भवेद् व्यावर्त्तको धर्मो कार्यद्रव्येषु नेष्यते ।" **विलासिनी—**

संयोगविचार

घटपटौ संयुक्तौ इत्यादिरूप से होने वाले संयुक्तव्यवहार का असाधारण-कारण संयोग ही होता है । उस संयोग का लक्षण है—

"संयुक्तव्यवहारविषयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् संयोगः" श्रुतमात्र—

अर्थात् संयुक्तव्यवहार के विषय संयोग में रहने वाली जो गुणत्वव्याप्य संयोगत्व जाति-उस जाति वाले को संयोग कहते है। एवम्—व्यासज्यमात्रवृत्ति-विभागावृत्ति जो गुणत्व का साक्षात् गुणत्व जाति-उस संयोगत्वजाति वाले को संयोग कहते हैं। "अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः"—भा० प०

अप्राप्त दो वस्तुओं की प्राप्ति हो जाना ही संयोग कहलाता है। जो गुण जन्यद्रव्य में रहता हो तथा अपने समान अधिकरण में रहने वाले अभाव (संयोगाभाव) का प्रतियोगी और विभाग से भिन्न हो उसी को संयोग कहते हैं। एवं उस कारणविशेष को भी संयोग कहते हैं जो कारणविशेष फल के अयोग से सर्वथा व्यवच्छिन्न होकर कार्य की उत्पत्ति में सहायक हो। दो कपालों के संयोग से घट उत्पन्न होता है, बहुत से तन्तुओं के संयोग हो जाने से पट उत्पन्न होता है। कपालों के एवं तन्तुओं के उस संयोगात्मक कारणविशेष को ही फलायोग व्यवच्छिन्न कारण माना गया है। अभिप्राय यह है कि कपाल आदि अवयवों का पारस्परिक संयोग हो जाने पर घट-पट आदि कार्यों के संपन्न होने में किसी भी प्रकार अयोग नहीं रह जाता है। इसलिये संयोग को फलायोगव्यवच्छिन्न कारण विशेष माना गया है। संयोग तो एक ऐसा गुण है जिसके सहारे इस चराचर विश्व की रचना होती है। परमाणुओं के परस्पर के संयोग से ही द्वयणुक आदि द्वारा महापृथिवी-महाजल-महातेज महावायु आदि की सृष्टि होती है। यही संयोग द्रव्य की उत्पत्ति में निरपेक्ष कारण होता है और गुण-कर्म की उत्पत्ति में सापेक्ष कारण होता है।

संयोग के भेद

साधारणतया संयोग दो प्रकार का है, कर्मज संयोग और संयोगज संयोग। उनमें कर्मजसंयोग भी दो प्रकार का होता है, अन्यतरकर्मजसंयोग और उभय-कर्मजसंयोग। इस प्रकार संयोग विशेषरूप से तीन प्रकार का है अन्यतरकर्मज संयोग, उभयकर्मजसंयोग, और संयोगजसंयोग।

अन्यतरकर्मजसंयोग

जहाँ दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य में क्रिया उत्पन्न होने से संयोग की उत्पत्ति होती है उस संयोग को अन्यतरकर्मजसंयोग कहा गया है। पर्वत के साथ जो श्येनपक्षी का अथवा पक्षीमात्र का संयोग होता है, वह केवल पक्षी में उत्पन्न हुई क्रिया के आधार पर ही होता है। पर्वत स्वयं निष्क्रिय होने के नाते उड़ेगा नहीं, अतः उड़नारूप क्रिया पक्षी में ही एकमात्र निश्चित है। उस अन्यतर कर्मजन्यसंयोग के पक्षी और पर्वत ये दोनों समवायिकारण हैं, क्योंकि संयोग समवायसम्बन्ध से पर्वत और पक्षी इन दोनों में ही रहता है। केवल उस पक्षी में होने वाली उड़नात्मिका क्रिया उस संयोग का असमवायिकारण है। ईश्वर की इच्छा-ईश्वर और अदृष्ट आदि ये सब निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार आत्मा के साथ जो मन का संयोग होता है वह भी अन्यतरकर्मजन्यसंयोग है। वहां पर भी आत्मा स्वयं निष्क्रिय है, एकमात्र मन में ही क्रिया होती है। उस क्रिया से ही फिर आत्मा और मन का संयोग होता है।

"आदिभः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः" भाषापरि०

इसलिये शरीर और वृक्ष का संयोग क्रिया से जन्य नहीं है। पारिशेष्यात् उसे हाथ और वृक्ष के संयोग से जन्य ही मानना होगा। यद्यपि उस शरीररूपी अवयवी के एक अवयवभूत हाथ में क्रिया अवश्य है। परन्तु फिर भी अवयव की क्रिया से अवयवी में क्रिया नहीं होती है, अपितु सभी अवयवों की क्रिया से उस अवयवी में क्रिया होती है। इसीसे हाथरूप कारण के तथा उस वृक्षरूप अकारण के संयोग से जो शरीर रूपी कार्य का तथा उस वृक्षरूपी अकार्य का संयोग होता है, वह संयोग संयोगजसंयोग कहा गया है। उस शरीर वृक्ष के संयोग का समवायिकारण शरीर और वृक्ष को ही माना गया है, क्योंकि वह समवायसम्बन्ध से उन्हीं दोनों में रहता है। एवं असमवायिकारण हाथ और वृक्ष के संयोग को माना गया है। ईश्वर-ईश्वर की इच्छा अदृष्ट-काल आदि को निमित्तकारण स्वीकार किया गया है।

अन्यतरकर्मजन्यसंयोग

"क्रियाऽभाववत् समवेतत्वे सति क्रियावत्समवेतसंयोगः अन्यतरकर्मजन्यसंयोगः" श्रुत

अर्थात् जो संयोग अपनी कारणीभूत क्रिया के अभाव वाले द्रव्यमें समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ अपनी कारणीभूत क्रियावाले द्रव्य में भी रहता हो

उस संयोग को अन्यतरकर्मज संयोग कहते हैं। पक्षी और पर्वत का संयोग क्रिया के अभाव वाले पर्वत में भी रहता हैं और क्रियावाले पक्षी में भी रहता है, अतः इन दोनों के संयोग को अन्यतर कर्मजन्य संयोग कहते हैं।

उभयकर्मज संयोग

जो संयोग दोनों द्रव्यों में उत्पन्न हुई क्रिया से जन्य होता है, उसे उभय-कर्मजसंयोग कहते हैं। दो भेढ़े अथवा दो मल्ल-पहलवान लड़ते हैं तो वहाँ दोनों में ही क्रिया होती है न कि एक में। इससे वहां वह दोनों मल्लों का संयोग अथवा उन दोनों भेढ़ों का संयोग उन दोनों की क्रिया से जन्य होने के नाते उभयकर्मज संयोग कहा गया है। वहाँ उस संयोग के वे दोनों मल्ल अथवा दोनों भेढ़े समवायिकारण माने गये हैं। वह संयोग समवायसम्बन्ध से उन्हीं दोनों में उत्पन्न होता है। उन दोनों मल्लों में अथवा मेंढ़ों में उत्पन्न हुई जो संयोगानुकूल क्रिया है वह उभयकर्मजन्य संयोग का असमवायिकारण होती है। ईश्वर-ईश्वर की इच्छा एवं अदृष्ट आदि ये सब उस संयोग के निमित्तकारण माने गये हैं। "मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः" भाषा प०

कर्मजसंयोग भी दो प्रकार का होता हैं अभिघात और नोदन नामक। जिस संयोग के होने पर शब्द हो उसे अथिघाताख्य संयोग कहते हैं। जिस संयोग के होने पर शब्द न हो उसे नोदनाख्य संयोग कहते हैं। "अभिघातो नोदनञ्च शब्द हेतुरिहादिमः। शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्यात्"। भाषापरि०

संयोगजसंयोग

कारण और अकारण इन दोनों के संयोग से जो कार्य और अकार्य इन दोनों का संयोग होता है वह कार्य और अकार्य का संयोग-कारण और अकारण के संयोग से जन्य होने के नाते संयोगजसंयोग कहलाता है। हाथ में क्रिया होकर हाथ का और वृक्ष का संयोग होता है उस समय शरीर में भी संयुक्तव्यवहार होता है, अर्थात् इस प्रकार शरीर में भी वृक्ष के संयोग का व्यवहार होता है। अतः हाथ और वृक्ष के संयोग के पश्चात् शरीर और वृक्ष का भी संयोग अवश्य ही होता है। वहां न तो वृक्ष में क्रिया है और न शरीर ही में।

उभयकर्मज सयोग

"स्वजनक क्रियाऽभाववदसमवेत संयोगः उभयकर्मजसंयोगः" श्रुतमात्र

अर्थात् जो संयोग अपनी कारणीभूत क्रिया के अभाव वाले द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता है उस संयोग को उभयकर्मज संयोग कहते हैं। दोनों भेढ़ों का संयोग अपनी कारणीभूत क्रिया के अभाववाले द्रव्य में नहीं रहता है, अतः उन दो भेढ़ों के संयोग को उभयकर्मजन्य ही कहा जाता हैं।

संयोगजसंयोग

"कर्माजन्यसंयोगः संयोगजसंयोगः" श्रुतमात्र

अर्थात् जो संयोग क्रियात्मक कर्म से जन्य नहीं होता हैं उस संयोग को संयोगजसंयोग कहते है। हाथ और वृक्ष के संयोग से जायमान शरीर और वृक्ष का संयोग किसी भी क्रिया से जन्य नहीं है, अपितु वह तो हाथ और वृक्ष के संयोग से जन्य है। संयोग से जन्य होने के नाते ही उसे संयोगज संयोग कहा गया है। "संयोगाज्जायते" इस व्युत्पत्ति के आधार पर "संयोगज" शब्द यौगिक शब्द माना गया है। इसलिये इस यौगिक व्युत्पत्ति के आधार पर भी हाथ और वृक्ष के संयोग से उत्पन्न होने वाले शरीर और वृक्ष के संयोग को संयोगजन्य ही माना जा सकता है अन्य किसी कर्म आदि से जन्य नहीं माना जा सकता है। अतः "कर्माजन्य संयोगः संयोगजसंयोग." यह लक्षण सर्वथा निर्दुष्ट हो जाता है। इस संयोगजसंयोग के विषय में एक प्रश्न यह है कि जहाँ हाथ की क्रिया से हाथ और वृक्ष का संयोग होता है, फिर उसके पश्चात् शरीर और वृक्ष का संयोग होता है, वहाँ हाथ की क्रिया को ही क्यों न शरीर और वृक्ष के संयोग का कारण मान लिया जाय ? इस प्रकार शरीर और वृक्ष का संयोग भी हाथ की क्रिया से जन्य होने के नाते कर्मजसंयोग ही सिद्ध हुआ न कि संयोगजसंयोग। इस प्रश्न का उत्तर है कि जिस द्रव्य में समवायसम्बन्ध से संयोग उत्पन्न होता है उसी द्रव्य में समवायसम्बन्ध से उत्पन्न हुई क्रिया संयोग का असमवायिकारण होती है। वह क्रिया समवायसम्बन्ध से शरीर में है ही नहीं, वह तो हाथ में है. उसका समवायिकारण भी हाथ ही होगा, अतः वह क्रिया हाथ और वृक्ष के ही संयोग का कारण हो सकती है, न कि शरीर और वृक्ष के संयोग का भी। नियम भी है—"ययोः सामानाधिकरण्यं तयोरेव कार्यकारणभावः" अर्थात् जिनका परस्पर में सामानाधिकरण्य होता है उन्हीं का कार्यकारण भाव भी होता है। इस नियम के आधार पर हाथ में रहने वाली क्रिया हाथ में रहने वाले संयोग का ही कारण हो सकती है, न कि शरीर में रहने वाले संयोगका।

शरीर और वृक्ष का संयोग शरीर और वृक्ष में रहेगा और हाथ की क्रिया हाथ में रहेगी। इस प्रकार इनका वैयधिकरण्य हो रहा है न कि सामानाधिकरण्य।

विभु तथा अविभुद्रव्यों के संयोग का विचार

मूर्तद्रव्यों का दूसरे मूर्तद्रव्यों के साथ संयोग होता है। घट का भूतल के साथ, भूतल का जल के साथ। इस प्रकार पृथिवी-जल-तेज-वायु एवं मन इन पाँच प्रकार के मूर्त्तद्रव्यों का भी पारस्परिक संयोग देखने में आता है। इसी प्रकार आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा इन चार प्रकार के व्यापक द्रव्यों के साथ भी पृथिवी आदि मूर्त्तद्रव्यों का क्रियाजन्य संयोग होता है। जिस प्रकार ज्ञान-इच्छा आदि की उत्पत्ति में व्यापक आत्मा के साथ मूर्त्तद्रव्य मन का संयोग अपेक्षित होता है उसी प्रकार "इदानीं घटः" "तदानीं घटः" तथा "इहदिशि घटः, नेहदिशि" इत्यादि प्रतीतियों के निर्वाह के लिये काल आदि व्यापक द्रव्यों के साथ घट-पट आदि मूर्त्तद्रव्यों का संयोग अपेक्षित है। यह संयोग क्रिया से जन्य होने के नाते क्रियासापेक्ष है। विभुद्रव्य में क्रिया न होने के नाते उनका परस्पर में संयोग भी सर्वथा असंभव है। विभुद्रव्यों के निष्क्रिय होने के कारण कर्मजसंयोग भी उनका संभव नहीं है। क्रियावाले अर्थात् सक्रिय द्रव्यों का ही कर्मजसंयोग होता है। व्यापक द्रव्य सर्वथा निरवयव होते हैं, इसलिये उन व्यापक द्रव्यों का संयोगजसंयोग भी संभव नहीं है। सावयवद्रव्यों का ही संयोगजसंयोग हुआ करता है। व्यापक द्रव्यों के संयोग होने में कोई प्रमाण भी नहीं है जिस के आधार पर हम विभुद्रव्यों का संयोग स्वीकार करें।

विभुद्रव्यसंयोगाङ्गीकर्तृ मीमांसक

मीमांसकों का कहना है कि "द्रव्य द्रव्ययोरेव संयोगः" ऐसा नियम है। इसी नियमानुसार मूर्त्तद्रव्य का मूर्त्तद्रव्य के साथ एवं मूर्त्तद्रव्य का विभुद्रव्य के साथ संयोग सर्वानुभवसिद्ध है। एक विभुद्रव्य का दूसरे विभुद्रव्य के साथ संयोग होने में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है, तो क्यों न दो विभुद्रव्यों का संयोग मान लिया जाय ? इसमें अनुमान भी प्रमाण है—

"आत्मा कालादिना संयुज्यते द्रव्यत्वात् मनोवत्"

अर्थात् आत्मा काल आदि विभुद्रव्यों के साथ संयोगवाला है, द्रव्य होने से, मन की तरह। इस अनुमान प्रमाण के आधार भी दो विभु द्रव्यों का संयोग

सर्वथा सिद्ध है। यह विभुद्वयसंयोग कर्मजन्य भी नहीं है, क्योंकि विभुद्रव्य निष्क्रिय होते हैं। संयोगजन्य भी नहीं है, कारण कि विभुद्रव्य निरवयव होते हैं। पारिशेष्यात् उस विभुद्वयसंयोग को उत्पत्ति-विनाश से रहित नित्य ही मानना होगा। नैयायिक इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि उन दो विभुद्रव्यों के संयोग की यदि किसी प्रमाण से सिद्धि हो रही है तो उसी प्रमाण से उस संयोग का नित्यत्व भी सिद्ध मानना होगा। इसलिये विभुद्रव्यों का संयोग बाधित होने के कारण सर्वथा असिद्ध है। मीमांसक के द्वारा उद्भावित विभुद्वयसंयोगानुमान भी सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित है। मीमांसक का अनुमान है—"आत्मा कालादिना संयुज्यते द्रव्यत्वात् मनोवत्" इस अनुमान का विरोधी नैयायिक का अनुमान है—"आत्मा कालादिना न संयुज्यते निष्क्रियत्वे सति निरयवत्वात् रूपादिवत्"

अर्थात् आत्मा काल आदि के संयोगवाला नहीं है, निष्क्रिय एवं निरवयव होने से। जो जो पदार्थ निष्क्रिय तथा निरवयव होते हैं वे वे पदार्थ उन काल आदि विभुद्रव्यों के साथ संयोगवाले नहीं होते हैं, रूप आदि गुणों की तरह। रूप आदि गुण स्वयं निष्क्रिय और निरवयव हैं, इसीलिये उन रूप आदि गुणों का काल आदि विभुद्रव्यों के साथ संयोग भी नहीं होता है। इसी प्रकार आत्मा आदि विभुद्रव्य भी निष्क्रिय एवं निरवयव होने से काल आदि विभुद्रव्यों के साथ संयुक्त होने योग्य नहीं हैं। इस प्रकार अनुमानप्रमाण से भी आत्मा का काल आदि विभुद्रव्यों के साथ संयोग नहीं हो सकता है। विभुद्वयसंयोग साधक द्रव्यत्व हेतुक मीमांसक का अनुमान सत्प्रतिपक्ष दोष से दूषित होने के कारण दुष्टहेतुक अनुमान है।

विभागविचार

संयोग नाश के कारणीभूत गुण को विभाग कहते हैं। प्रथमक्षण में परमाणु में क्रिया उत्पन्न होती है, और उसके द्वितीय क्षण में विभाग उत्पन्न होता है, फिर तृतीयक्षण में पूर्वसंयोग का नाश होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विभाग ही संयोग का नाशक है।

"संयोगनाशको गुणो विभागः" तर्क सं०

'विभागोऽपि विभक्तप्रत्यय हेतुः। तर्क भाषा

विभाग भी संयोग की तरह नौ द्रव्यों में रहता है। यह भी संयोग

के समान सर्वथा अनित्य ही होता है। विभाग का आश्रयभूत द्रव्य के उत्तरदेशसंयोग से नाश होता है। वृक्ष के ऊपर बैठे पक्षी में उत्पन्न हुई क्रिया से वृक्ष और पक्षी का विभाग होता है। उस विभाग का विनाश पक्षीवृक्षरूप आश्रय द्रव्य के विनाश से होता है, अर्थात् वृक्ष ही या तो हवा के वेग से गिर जाय, अथवा पक्षी ही वृक्ष से गिर जाय, इससे आश्रयद्रव्य के नाश से विभाग का नाश होता है। उस पक्षीवृक्षरूप आश्रयद्रव्य के विद्यमान होते हुए भी पक्षी यदि उड़कर पृथ्वी पर आबैठा तो उस पृथिवीरूप उत्तरप्रदेश के साथ हुए संयोग (उत्तरदेश संयोग) से भी पक्षीवृक्ष के विभाग का नाश हो जाता है। विभाग होने से पूर्व संयोग का अथवा आरंभक संयोग का भी नाश हो जाता है। इससे विभाग को संयोगाभाव रूप ही मान लेना सर्वथा अनुचित है। विभाग गुण है, न कि अभाव। संयोगाभावस्वरूप मानने पर विभाग को अभावरूप मानना पड़ जायगा। विभाग गुण रूप होने के नाते भावभूत एक पदार्थ माना गया है। भाव को अभाव स्वीकार करना सर्वथा अनुचित है। अतः विभाग न संयोगाभावरूप है और न संयोगनाशरूप ही है।

विभाग के भेद

विभाग भी संयोग के समान तीन प्रकार का होता है, (१) अन्यतरकर्मज, (२) उभयकर्मज, (३) विभागज-विभाग।

अन्यतरकर्मज विभाग वह होता है जहाँ संयुक्त दो द्रव्यों में से एक में क्रिया होकर दो द्रव्यों का परस्पर में विभाग होता है। किसी मकान अथवा किसी वृक्ष या पर्वत आदि से पक्षी के उड़ जाने के पश्चात् जो उन दोनों द्रव्यों का परस्पर में विभाग होता है वह अन्यतरकर्मज विभाग होता है। अतः यह विभाग पक्षीमात्र की क्रिया से जन्य होने के नाते अन्यतरकर्मज विभाग है। इस विभाग के पक्षी और पर्वत ये दोनों समवायिकारण माने गये हैं। उस पक्षी में जो क्रिया होती है उसे असमवायिकारण माना गया है। अदृष्टईश्वर तथा ईश्वर की इच्छा ये सब निमित्तकारण होते हैं।

उभयकर्मज विभाग

जो विभाग दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न होने वाला होता है उसे उभयकर्मजविभाग कहते हैं। दो पहलवानों की क्रिया से जो उन दोनों पहलवानों का विभाग होता है उसे उभयकर्मजविभाग कहते हैं। वहाँ उस विभाग के वे

दोनों पहलवान् तो समवायिकारण है, और उन दोनों पहलवानों में होनेवाली विभागानुकूल क्रिया उस विभाग का असमवायिकारण है। अदृष्ट ईश्वर तथा ईश्वर की इच्छा निमित्तकारण हैं।

विभागजविभाग तथा भेद

विभागजविभाग भी दो प्रकार का माना गया है, (१) कारणमात्र विभागजन्यविभाग, (२) कारणाकारण विभागजन्यविभाग। जो विभाग कारणमात्र के विभाग से जन्य होता है उसे कारणमात्रविभागजविभाग कहते हैं। पारस्परिक संयोगवाले दो कपालों में से एक कपाल में क्रिया उत्पन्न होने से उन दोनों कपालों का विभाग हो जाता है। इसके बाद विभाग से घट के आरम्भक संयोग का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् उस कपालसंयोगरूप असमवायिकारण के नाश से घट का नाश हो जाता है। इसके अनन्तर उन दो कपालों का विभाग उस क्रियावाले कपाल का आकाश आदि रूप पूर्वप्रदेश के साथ विभाग को उत्पन्न करता है। पुनः आकाश का जो कपाल के साथ संयोग हुआ था उसका नाश हो जाता है। फिर कपाल का उत्तरप्रदेश के साथ संतोग होता है। उसके बाद कर्म का भी नाश हो जाता है। वहाँ उस घट के समवायिकारण दोनों कपालों में से किसी एक कपाल में उत्पन्न हुई क्रिया से उन दोनों कपालों का विभाग होता है। उन दोनों कपालों का विभाग-उस घट के कारणस्वरूप दोनों कपालों में वृत्ति होने के नाते ही कारणमात्र विभाग कहलाता है। वे दोनों कपाल ही घट के कारण हैं। अतः उन दोनों कपालों के विभाग को ही कारणमात्रविभाग कहा जाता है। फिर उससे उत्पन्न हुआ कपालाकाशविभाग कारणमात्रविभागजविभाग कहलाता है। इस कारणमात्र विभागजन्यविभाग के कपाल और आकाश समवायिकारण हैं, तथा दोनों कपालों का विभाग उसका असमवायिकारण है। अदृष्ट-ईश्वर की इच्छा निमित्तकारण हैं।

कारणाकारणविभागजविभाग—कारण और अकारण इन दोनों के विभाग से उत्पन्न होनेवाला जो कार्य और अकार्य का विभाग है, वह विभाग कारणाकारणविभागजन्य विभाग कहलाता है। वृक्षसंयुक्त हाथ में क्रिया होकर हाथ और वृक्ष का विभाग होता है। उस समय शरीर में भी उस वृक्ष के विभाग का व्यवहार होता है, अर्थात् यह शरीर वृक्ष से विभक्त है, इस प्रकार का स्वयं अनुभव होता है। इससे स्पष्ट है कि हाथ और वृक्ष के विभाग से अवश्य ही

शरीर और वृक्ष का विभाग होता है। यहाँ पर हाथ शरीर का कारण है और वृक्ष अकारण है। इन दोनों के विभाग से कार्य और अकार्य का विभाग होता है। इस प्रकार कार्याऽकार्यविभाग का समवायिकारण शरीर और वृक्ष हैं, असमवायिकारण हाथ और वृक्ष का विभाग है। इस कार्याऽकार्यविभाग का असमवायिकारण हाथ की क्रिया को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि कार्याकार्यविभागरूपकार्य तो शरीर और वृक्ष में है और क्रिया हाथ में है, दोनों का वैयधिकरण्य है। हस्तक्रिया और शरीरवृक्ष विभाग ये दोनों व्यधिकरण हैं क्योंकि हस्तक्रिया हाथ में ही रहेगी और शरीरवृक्ष विभाग शरीर और वृक्ष में रहेगा। हस्तवृक्ष विभाग और शरीरवृक्षविभाग का ही कार्यकारणभाव बन सकता है।

विभुद्रव्यद्वय विभागखण्डन—जिन दो द्रव्यो का संयोग होता है उन्हीं दोनों द्रव्यों का विभाग भी होता है। जिन दो द्रव्यों का परस्पर में संयोग नहीं हो सकता है, उन दोनों द्रव्यों का विभाग भी नहीं हो सकता है। यही कारण है कि आकाश आदि विभुद्रव्यों का पूर्वकथनानुसार न तो संयोग ही होता है, और न विभाग ही होता है क्योंकि संयोगपूर्वक ही विभाग होता है। आत्मा आकाश से विभक्त है, काल दिशा से विभक्त है। इस प्रकार उन विभुद्रव्यों में परस्पर में विभक्त प्रतीति होती है। उस विभक्तत्वप्रकार प्रतीति का विषय विभुद्रव्यों का संयोगाभाव ही है न कि विभाग। दूसरी बात यह है कि विभुद्रव्यों में विभक्तत्वप्रकारकप्रतीति गौणप्रतीति है जैसे 'सिंहो माणवकः।'

परत्वगुणविचार

परत्व दो प्रकार का माना गया है कालिक तथा दैशिक। चैत्र मैत्र से पर है अर्थात् ज्येष्ठ है। इस ज्येष्ठत्वरूप परत्वबुद्धि का असाधारणकारण कालिक परत्व है। इस कालिक परत्व की उत्पत्ति सूर्य की अधिकतर क्रिया से विशिष्ट शरीर के ज्ञान से होती है। जिस शरीरात्मकपिण्ड के साथ सूर्य की किरणों का अधिक संयोग होता है उसे पर अर्थात् ज्येष्ठ कहते हैं।

"परत्वोपत्तिश्च—बहुतररविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानाद भवति"
"परत्वजनकं बहुतररविक्रियाविशिष्टशरीरज्ञानमिदं परम्परासम्बन्धघटकसापेक्षं साक्षात्सम्बन्धा भावे सति विशिष्टज्ञानत्वात् लोहितःस्फटिकइतिप्रत्ययवत्" त.मृ.

अर्थात् कालिकपरत्व का कारणीभूत अधिक सूर्यक्रिया विशिष्टशरीरनज्ञान-

परम्परासंम्बन्धके घटक से सापेक्ष है। किसि भी शरीर में सूर्य की अधिक-परिस्पन्द के आधार पर होनेवाली ज्येष्ठत्व बुद्धि काल सापेक्ष है। साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी विशिष्ट ज्ञानरूप होने से (जैसे—लौहित्य वर्ण-विशिष्ट स्फटिक का ज्ञान विशिष्टज्ञान रूप है। यद्यपि लौहित्य का स्फटिक के साथ कोई साक्षात सम्बन्ध नहीं है फिर भी) लौहित्य का स्फटिक के साथ स्वाश्रयसंयुक्तत्व आदि परम्मरासम्वन्ध ही माना जाता है ।

दैशिकपरत्व की उत्पत्ति दो देशों के बीच में बहुत से मूर्त्त पदार्थो अथवा देशों के संयोग ज्ञान से होती है। पटना से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर है अर्थात् अधिक दूर है।

"दैशिकं परत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानादुत्पद्यते" न्यायसि०मु०

"दूरस्थे दिक्कृतंपरत्वम्" "ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्" तर्कसं.

अर्थात् दूरदेश स्थित वस्तु में दिक्कृत परत्व व्यवहार होता है, और ज्येष्ठ (अवस्था से बड़े) में कालकृत परत्व व्यवहार होता है। राम लक्ष्मण से ज्येष्ठ माने जाते हैं, और लक्ष्मण भगवान् राम को अपेक्षा कनिष्ठ माने गये हैं। ज्येष्ठत्व कालिक परत्वरूप है, और कनिष्ठत्व कालिक अपरत्व रूप है। दैशिकपरत्वरूप दूरत्वरूप है। उसकी उत्पत्ति बहुतर मूर्तपदार्थो केसंयोगान्त रितत्वज्ञान से होती है। इन दोनों दैशिक तथा कालिक परत्वगुणों की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि के द्वारा ही होती है। "इदमस्माद् विप्रकृष्टम्" अर्थात् यह इससे दूर है, और—"अयम-स्माद् बहुतर कालसम्बद्धः" अर्थात् राम लक्ष्मण की अपेक्षा बहुत अधिक काल के सम्बन्ध वाला हैं। इस अपेक्षाबुद्धि से कालिक परत्व की उत्पत्ति होती है।

परत्व के भेद—कालिक तथा दैशिक भेद से परत्व दो प्रकार का माना गया है। कालिकपरत्व ज्येष्ठत्वरूप है, और दैशिकपरत्व दूरत्वरूप है। ये दोनों दैशिक तथा कालिक परत्व पृथिवी-जल-तेज-वायु और मन इन पाँच मूर्त्त द्रव्यों में ही रहते हैं, आकाश आदि व्यापकद्रव्यों में नहीं। दैशिक परत्व परमाणु एवं मनरूप नित्यमूर्त्तद्रव्यों में एवम् द्वयणुक से लेकर घट-पट आदि पृथिवीपर्यन्त समस्त जन्यमूर्त्तद्रव्यों में रहता है। कालिकपरत्वकेवल जन्यमूर्त्तद्रव्यों में ही रहता है, नित्यों में नहीं रहता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि कालिक परत्व एकमात्र प्राणिमात्र में ही रहता है। घट-पट आदि जड़ पदार्थों में उसका

अङ्गीकार सर्वथा निरर्थक है। ये दोनों ही परत्व उत्पत्ति-विनाशशाली होने के नाते अनित्य हैं। कोई भी परत्व किसी भी मूर्त्तद्रव्य में रहता हो, वह सर्वथा अनित्य ही होता है, संयोग एवं विभाग की तरह।

अपरत्वविचार

"अयमस्मादपर:" अर्थात् यह इससे छोटा है, अथवा नजदीक है इत्यादि व्यवहार का असाधारण कारण अपरत्व को माना गया है। यह अपरत्व भी परत्व की तरह दो प्रकार का ही माना गया है, कालिक तथा दैशिक अपरत्व। कालसंयोग के असमवायिकारणीभूत अपरत्व को कालिकअपरत्व कहते हैं।

लक्ष्मण भगवान् राम की अपेक्षा अपर हैं अर्थात् कनिष्ठ हैं, इस व्यवहार का असाधारण कारण कालिकअपरत्व को ही माना गया है। यह अपरत्व भी परत्व के समान अपेक्षाबुद्धि से ही उत्पन्न होता है, अर्थात् "लक्ष्मणो रामापेक्षया-ऽपर:" इत्यादि अपेक्षाबुद्धि ही अपरत्व का उत्पादक मानी गयी है। "अपर" "अपरत्व" शब्द का विशेषरूप से व्यवहार अथवा प्रयोग "अन्य" "अन्यत्व" "इतर" "इतरत्व" भिन्न" "भिन्नत्व" आदि अर्थों में ही देखने में आता है। परन्तु यहाँ अपर अथवा अपरत्व के इन अर्थों को न लेकर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि गुणों के समान "अपरत्व" को भी एक गुण ही समझना चाहिये। "अपर" शब्द से लक्ष्मण आदि "अपरत्व" गुण वाले अर्थ को, अथवा "पास" अर्थात् नजदीक वाले अर्थ को ही जानना चाहिये।

अपरत्व के भेद—परत्व के समान अपरत्व भी दो प्रकार का है कालिक और दैशिक। परव्यवहार भी दो प्रकार का है, जैसे "अयं ज्येष्ठ:" "अयं दूर:"। दूरस्थ में दिक्कृत परत्व माना गया है, और ज्येष्ठ में कालकृत परत्व माना गया है। इसी प्रकार "अयं कनिष्ठ:" "अयं समीप:" अथवा "अयं निकट:" इत्यादि व्यवहार के आधार पर कनिष्ठत्व कालिक अपरत्वरूप माना गया है। समीपत्व अथवा समीपस्थत्व या निकटत्व-निकटस्थत्व को दैशिक अपरत्व रूप माना गया है। यहाँ कनिष्ठत्वरूपअपरत्व को "स्वल्पसूर्योदयजीवनकाल-रूपता" रूप माना गया है। जिस व्यक्ति के जीवनकाल में सूर्योदय की संख्या न्यून होगी, वह कनिष्ठ (छोटा) होगा "अयमस्मात् सन्निकृष्ट:" इत्याकारक सन्निकृष्टत्व = समीपत्व, अथवा सन्निकृष्टस्थत्व = समीपस्थत्व को दैशिक अपरत्वरूप माना गया है। इन दैशिकपरत्व-अपरत्व के दिग्देश को समवायि-

कारण माना गया है और दिग्देश के संयोग को असमवायिकारण माना गया है। अदृष्ट-ईश्वर-ईश्वर की इच्छा तथा सन्निकृष्टत्व बुद्धिरूप अपेक्षाबुद्धिको दैशिक अपरत्व का निमित्तकारण माना गया है। इन परत्व-अपरत्व का विनाश कहीं अपेक्षाबुद्धि के विनाश से होता है, कहीं असमवायिकारण दिग्देश संयोग के नाश से भी होता है, कहीं देशात्मक द्रव्य के नाश से भी नाश होता है। किसी ने निमित्तकारण जो अपेक्षाबुद्धि है, उसके नाश से परत्व-अपरत्व का विनाश माना है।

"निमित्तनाशतो वाऽऽस्यामुभाभ्यां वापि कुत्रचित्।
निमित्तमात्रनाशेन नाशः कस्यचिन्मते ॥" न्यायकोश
"विनाशस्त्वपेक्षाबुद्धि संयोग द्रव्यनाशात्', प्रशस्त।

काल और दिशा इन्द्रियों के सर्वथा अविषय होने के नाते अतीन्द्रिय हैं। सर्वथा प्रत्यक्षप्रमाण से अगम्य हैं। ऐसी परिस्थिति में काल और दिशा का अङ्गीकार ही विवादग्रस्त हो जाता है। उस समय ये परत्व और अपरत्व ही काल और दिशा के अस्तित्व अर्थात् अङ्गीकार में प्रमाण बनते हैं। कालिकपरत्व अपरत्व के आधार पर काल का अस्तित्व अथवा अङ्गीकार माना जाता है। दैशिक परत्व-अपरत्व रूप प्रमाण के आधार पर ही दिशा की भी सिद्धि होती है। अतः दिशा का अस्तित्व अथवा अङ्गीकार भी इन्हीं दैशिक परत्व और अपरत्व के आधार पर माना जा सकता है। अतः ये परत्व और अपरत्व दिशा के साधक प्रमाण भी हैं।

गुरुत्व विचार

गुरुत्व नाम है वजन का। वह आद्यपतन का असमवायी कारण माना गया है। नीचे के प्रदेश के साथ होनेवाले संयोग के कारणीभूत व्यापार को पतन कहते हैं। वह पतन क्रियाविशेष रूप है। "वृक्षात् पर्णं पतति" अर्थात् वृक्ष से पत्ता गिरता है—यहाँ पर वृक्ष से पत्ते का विभाग-उस-विभाग के कारणीभूत व्यापार से लेकर पृथिवी के साथ होनेवाला जो पत्ते का संयोग-उस-संयोग जनक व्यापार पर्यन्त होनेवाली मध्यकालीन आदि समस्त क्रियाओं का नाम ही पतन है। उसमें सर्वप्राथमिक व्यापार (आद्य-पतन) गुरुत्वजन्य है। इसके बाद के व्यापार तो वेग से जन्य हैं। यह गुरुत्व पृथिवी और जल इन दो ही द्रव्यों में रहता है। इनके पतन में प्रयोजक भी यही गुरुत्व है। यह अतीन्द्रिय

(प्रत्यक्ष के अयोग्य) है। पृथिवी एवं जल के परमाणुओं में रहनेवाला गुरुत्व नित्य है, अन्यत्र रहने वाला अनित्य है। गुरुत्व का पतन क्रिया से अनुमान होता है। तुला के डंडे की नमन अथवा उन्नमन आदि क्रियाओं को देखकर यह अनुमान होता है कि यह वस्तु इतने वजनवाली है।

श्री बल्लभाचार्य का कहना है कि गुरुत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष भले ही न हो परन्तु स्पार्शन प्रत्यक्ष अवश्य ही होता है। अतः उनका कहना है कि गुरुत्व स्पर्श-विशेष है। लीलावतीकार के अनुसार शरीर आदि की भस्मीभाव दशा में गुरुत्व का भी अपकर्ष (हल्कापन) देखने में आता है। भस्मीभाव के विना गुरुत्व का अपकर्ष भी सर्वथा अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में गुरुत्व को पार्थिव रूप-रस आदि के समान ही पाकज मान लेना उचित है। उदयनाचार्य का कहना है कि गुरुत्व पाकज नहीं है। वह तो एकमात्र कारणगुणपूर्वक है, अतः वहा के लिये पाकजत्वविशेषण भी व्यर्थ ही है। सांख्यशास्त्रवेत्ताओं का कहना है कि गुरुत्व न गुण है, और न पाकज है, अपितु तमोगुण का यह एक धर्म है।

हूण विद्यावेत्ता लोगों का कहना है कि पृथिवी आदि में रहने वाले आक-र्षणविशेष से ही पतन क्रिया की उपपत्ति हो जायगी, गुरुत्व को मानने की आवश्यकका ही क्या है ?

'आद्यपतनासमवायिकारणवृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत् गुरुत्वम्।

अर्थात् आद्यपतन के असमवायिकारण गुरुत्व में रहनेवाली (जो गुरुत्व का) व्याप्य जाति (गुरुत्वत्व) उस जातिवाले को गुरुत्व कहते हैं। आद्यपतन के प्रति भी जन्यगुरुत्व को कारण माना गया है। सामान्यतः गुरुत्व को कारण मानने पर नित्यगुरुत्व को भी कारण मानना पड़ जायगा।

द्रवत्वविचार

द्रवत्व गुण है, और वह स्यन्दनकर्म (पिघलना रूप क्रिया) का असमवायि-कारण होता है—"स्यन्दनकर्मकारणम्" प्रशस्त०—

द्रवत्व पृथिवी जल तेज इन तीन द्रव्यों में रहता है। वह चक्षु इन्द्रिय एवं त्वक् इन्द्रिय इन दो इन्द्रियों से ग्राह्य है। द्रवत्व को असमवायिकारण तथा निमित्तकारण माना गया है। द्रवत्व-द्रवत्व के प्रति तथा जलादिगत स्यन्दन क्रिया के प्रति तो असमवायिकारण होता है और संग्रह (पिसे हुए आटेका पिण्डा) में निमित्तकारण होता है। द्रवत्व दो प्रकार का होता है सांसिद्धिक तथा नैमित्तिक।

सांसिद्धिक अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में रहता है, और नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में रहता है। घृतरूपा पृथिवी में अग्नि संयोगरूप निमित्त के आधार पर ही द्रवत्व होता है। सुवर्णरूप तेज में भी अग्निसंयोगरूप निमित्त से ही द्रवत्व होता है। हिम (बरफ) तथा करका (ओला) आदि जल में जो स्वाभाविक-द्रवत्व का प्रतिबन्ध होता है वह एकमात्र प्राणियों के अदृष्ट (भाग्य) विशेष के कारण ही, अन्यथा मट्ठे में अथवा शर्वत आदि में बर्फ का आनन्द कैसे प्राप्त हो सकेगा ?. इसलिये हिम और करका आदि में भी स्वाभविक ही द्रवत्व मानना होगा न कि नैमित्तिक। नैमित्तिकद्रवत्व के विषय में ऐसा नियम है कि नैमित्तिक-द्रवत्व निमित्तके नाश से नाश्य होता है और फिर घृत आदि के समान (वह नैमित्तिकद्रवत्वयुक्त वस्तु अर्थात् जिसमें नैमित्तिकद्रवत्वरहता है) पिण्डी भाव को प्राप्त होजाता है। तैल और दुग्ध आदि में भी जलगत द्रवत्व का ही भान होता है। तैल आदि में स्नेह का प्रकर्ष होने के नाते दहन की अनुकूलता आ जाती है। हिम-करका में जो द्रवत्वप्रतिरोध होता है वह उपाधिकृत है। सूर्य की किरणें तथा भूमिसंयोग आदि से उपाधि की निवृत्तिमात्र हो जाती है न कि द्रवत्व की उत्पत्ति। द्रवत्व तो उसमें है ही उसका तो केवल अदृष्टविशेष से प्रतिबन्ध हो रहा है। करका में जो कठोरता की प्रतिति होती है वह एकमात्र भ्रान्ति है। प्राणियों के अदृष्टविशेष आदि आगान्तुक कारण से जल जम जाता है जिससे प्राणी उसका कालान्तर में मट्ठे आदि के द्वारा मिश्रितरूप से उपभोग करते हैं—"दिव्येन तेजसा संयुक्तानामाप्यानां परमाणूनां परस्परसंयोगो द्रव्यारंभकः संघाताख्यः। तेन परमाणुद्रवत्वप्रतिबन्धात् कार्ये हिमकरकादौ द्रवत्वानुत्पत्तिः" प्रशस्त०

सांसिद्धिकद्रवत्वत्व जातिविशेष है जो कि त्वक्संयुक्तसंमवेतसमवाय सन्निकर्ष के द्वारा प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध माना गया है। घृत एवं लाक्षा आदि पृथिवी में सुवर्ण आदि तेज में अग्निसंयोग से जन्य ही द्रवत्व का अङ्गीकार किया गया है।

द्रवत्व भी नित्य एवं अनित्य के भेद से दो प्रकार का माना गया है। नित्य-द्रव्यों में रहने वाला द्रवत्व नित्य है, अनित्यद्रव्यों में रहने वाला अनित्य। संसिद्धिकद्रवत्व के ही विषय में नित्यानित्य विचार है नैमित्तिकद्रवत्व तो हमेशा अनित्य ही होता है।

स्नेह विचार

जिस गुण के आधार पर जल में स्निग्धता की प्रतीति होती है उसी गुण का नाम स्नेह है। कुछ विद्वानों ने स्नेह के विषय में ऐसा भी कहा है कि

"चूर्णादि पिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः" तर्क सं०—

अर्थात् जिस गुण के आधार पर जल के डाल देने पर आटा आदि पिण्डीभाव को प्राप्त हो जाते हैं उसी गुण का नाम स्नेह है। पिण्डीभाव जल के संयोग से ही होता है। स्नेह पिण्डीभाव का निमित्तकारण है। जल में स्नेह विद्यमान है, अतः जलसंयोग आटे आदि के पिण्डीभाव का कारण बनता है। यहाँ यह प्रश्न है कि जैसे आटे आदि के पिण्डीभाव का कारणीभूत गुण स्नेह होता है, उसी प्रकार जलस्थित सांसिद्धिकद्रवत्व भी आटे आदि के पिण्डीभाव का कारण है ? अतः स्नेह के लक्षण की सांसिद्धिकद्रवत्व में अतिव्याप्ति हो रही है। इसका यही उत्तर है कि स्नेह के लक्षण में सांसिद्धिक द्रवत्व भिन्नत्व विशेषण भी दे देना चाहिये। इस प्रकार "सांसिसिद्धकद्रवत्व भिन्नत्वे सति चूर्णादिपिण्डी भाव हेतुर्गुणः स्नेहः" हो जाता है।

इस लक्षण के आधार पर सांसिद्धिकद्रत्व से भिन्न, जो चूर्ण (आटा) आदि के पिण्डीभाव का कारणीभूत गुण हो उसे स्नेह कहते हैं। इस प्रकार से स्नेह का विवेचन करने पर कोई दोष नहीं है।

"स्नेहत्वजातिमान् स्नेहः" स्नेह के इस लक्षण से भी सांसिद्धिक-द्रवत्व में अतिव्याप्ति वारित हो जायेगी, क्योंकि उसमें स्नेहत्व जाति ही नहीं है। स्नेह नाम चिक्कणता अर्थात् चिकनापन का है। वह जलमात्र में रहती है। तैल-घृत आदि में स्नेह की उपलब्धि जलोपाधिक है। तैल आदि में जलगत स्नेह की ही प्रतीति होती है। स्नेह जल का विशेषगुण है। संग्रह और शुद्धि का कारण है। संग्रह और पिण्डीभाव ये दोनों पर्यायवाची हैं। जल में दो प्रकार का स्नेह माना गया है—एक प्रकृष्ट स्नेह, दूसरा अपकृष्ट स्नेह। घृत एवं तैल आदि में प्रकृष्ट = उत्कृष्ट स्नेह माना गया है, जो दीपक आदि के जलने जलाने में कारण भी वनता है। जलगत स्नेह में अपकृष्ट स्नेह रहता है। वह अपकृष्ट स्नेह अग्नि अथवा अग्नि की ज्वाला आदि का विनाशक होता है। उत्कृष्ट स्नेह उसका वर्द्धक होता है। ऐसा कहा जाता है कि द्रुतजल का संयोग ही गोधूम अथवा चणकचूर्णादि के संग्रह = पिण्डीभाव का कारण है, न केवल स्नेह और न सांसिद्धिकद्रवत्व तथा न केवल जलसंयोग ही। इससे करका आदि जल की भी व्यावृत्ति हो गयी। उसमें जलत्व है परन्तु द्रुतजलत्व नहीं है। इससे समस्त दोष वारित हो जाते हैं। बरफ अथवा ओलेस्वरूपजल को द्रुतजलस्वरूप नहीं माना गया है। द्रवत्वयुक्त कांच एवं सुवर्ण आदि के संयोग

को संग्रह = पिण्डीभाव का कारण नहीं माना गया है, क्योंकि वह द्रवीभूत होते हुए भी जल नहीं है।

स्नेह के भेद—स्नेह भी गुरुत्व आदि के समान नित्य तथा अनित्य भेद से दो प्रकार का माना गया है। परमाणुरूपजल में नित्य-स्नेह रहता है, और द्वयणुक आदि रूप में अनित्य स्नेह रहता है। इसीलिये "स्निग्धं जलम्" यह प्रतीति जल के स्नेह को ही विषय करती है। इस प्रकार स्नेह प्रत्यक्षात्मक प्रतीति का ही विषय होने के नाते प्रत्यक्षसिद्ध है। अनित्य स्नेह अपने आश्रयीभूत द्रव्य की उत्पत्तिक्षण से द्वितीयक्षण में अनित्यस्नेहाश्रयीभूत द्रव्य के समवायिकारण अवयवगत स्नेह से उत्पन्न होता है। "कारणगुणाः कार्यगुणानारंन्ते" इस नियम के बल पर अवयवगत स्नेह ही अवयवी में स्नेह का उत्पादक अथवा कारण वनता है। जलीय दो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ (जो द्वयणुक है उस) द्वयणुक गत स्नेह का कारण परमाणुगत स्नेह है। द्वयणुकगत स्नेह का समवायिकारण द्वयणुक है, और असमवायिकारण परमाणुगत स्नेह है। निमित्त कारण अदृष्ट-ईश्वर की इच्छा आदि हैं। गुण और गुणी में अभेद माननेवालों ने स्नेह को चार श्रेणियों में विभाजित किया है।

'स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तो धृतं तैलं वसा तथा।
मज्जा च तां पिबेन्मर्त्यः किञ्चिदभ्युदिते रवौ' ॥

अर्थात धृत-तैल-वसा तथा मज्जा ये चार प्रकार के स्नेह माने गये हैं।

शब्दविचार

शब्द वह गुण है जो आकाश में रहता है और कानों से सुना जाता है।

"श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः" तर्क सं०

अर्थात् जो श्रोत्र इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाले श्राणप्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय होता हुआ गुण (आकाश का विशेषगुण) भी हो उसे शब्द कहते हैं। "श्रवणेन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषय वृत्ति गुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्" विलासिनी। शब्द एकमात्र कान से ही सुना जाता है। सर्प भी शब्द को कानों से ही सुनता है। इसीलिये सर्प को चक्षुःश्रवा भी कहा गया है। सर्प के चक्षुःछिद्र तथा कर्णछिद्र एक ही जगह होते हैं।

वैयाकरणप्रभृति विद्वानों का कहना है कि शब्द द्रव्य है। गमनात्मकक्रिया

द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र संभव नहीं हो सकती है। शब्द गमनशील है, अन्यथा शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष कैसे होगा ? इस प्रकार शब्द को द्रव्य स्वीकार करना अनिवार्य है। "उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धे रनित्यता" भाषापरि०

अर्थात् "क" शब्द उत्पन्न होकर नष्ट भी हो गया। इसबुद्धि के आधार पर शब्द की अनित्यता सुनिश्चित है। इससे शब्द सावयव है, क्यों कि जो द्रव्य अनित्य होता है वह सावयव होता है। "शब्दो द्रव्यं साक्षादिन्दियसम्बन्ध वेद्यत्वात् घटवत्"

परन्तु नैयायिकप्रभृति दार्शनिक शब्द को द्रव्य नहीं मानते हैं शब्द आकाश का गुण है। यदि शब्द द्रव्य होता तो उसमें एक बार और एक तरफ ही क्रिया होती। गेंदा या फुटबांल आदि को पैर सें ठुकराने पर अथवा उनको लात मारने पर वह एक ही तरफ एकबार जायेगी, न कि चारो तरफ। शब्द चारो तरफ सुनाई देता है, अर्थात् शब्द चारों दिशाओं में जाता रहता है, घूमता रहता है। इसकथन का इस प्रकार समाधान किया जाता है कि शब्द वेगाख्य-संस्कार के आधार पर ही चारो ओर गतिशील होकर चक्र की तरह घूमता रहता है। इसीलिये शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष एक ही तरफ से नहीं :अपितु चारो ओर से होता है। दूसरी बात यह है कि शब्द की उत्पत्ति के प्रकरण में यह भी बतलाया गया है कि—

वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।

कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिःकस्यचिन्मते ।। भाषापरि०

अर्थात् समुद्र आदि के जल में एक तरंग से दूसरी तरंग, और दूसरी तरंग से तीसरी तरंग, तीसरी से चौथी तरङ्ग उठती रहती हैं। इस प्रकार चारो दिशाओं में उन्हीं तरङ्गों की प्रवाह परम्परा चलती एवं फैलती रहती है। उसी प्रकार यह शब्दसन्तानधारा भी पूर्वपूर्व शब्द से उत्तारोत्तर शब्द की उत्पत्तिक्रम से चारो दिशाओं में बहती रहती है। पूर्वपूर्व शब्द से उत्तरोत्तर-उत्पत्ति का क्रम वीचीतरंग न्याय से अथवा कदम्बगोलकन्याय से होता है। प्रथमवीची से एक महान् तरङ्ग उत्पन्न होती है जो उस तालाब की चारो दिशाओं में फैल जाती है। उस तरङ्ग से दूसरी महान् तरङ्ग चारो दिशाओं में फैलती हुई उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार दूसरी से तीसरी, तीसरी से चौथी इत्यादि क्रम से अन्यान्य तरङ्गे उत्पन्न होती रहती हैं। कदम्बगोलक के

मध्य से सब दिशाओं में पत्र निकलते हैं। उसी प्रकार प्रथम शब्द से दशों दिशाओं में दश शब्द उत्पन्न हो जाते हैं। फिर वे दश दूसरे दश शब्दों को दशो दिशाओं में उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार दशों दिशाओ में पूर्वपूर्व शब्दों से उत्तरोत्तर शब्द उत्पन्न होते चले जाते हैं। यह प्रकिया शब्द के गुणपक्ष में ही संपन्न हो सकती है न कि द्रव्यपक्ष में। शब्द वाह्य एक इन्द्रिय केवल श्रोत्र (कान) इन्द्रिय से ही ग्राह्य माना गया है। ऐसा नैयायिक प्रभृति दार्शनिकों का सिद्धान्त है। सांख्य और वेदान्ती लोगों का कहना है कि शब्द केवल पृथिवी-जल तेजवायु और आकाश इन्हीं पाँच द्रव्यों में रहता है। स्वतन्त्र दार्शनिकों का ऐसा कथन है कि शब्द का व्यवहार भेरी तथा मृदङ्ग में ही देखने में आता है, अतः व्यवहार के अनुरोध से शब्द का आश्रय = अधिकरण पृथिवी ही को मानना होगा। वैशेषिकों का इस विषय में कहना है कि शब्द का आश्रय आकाश ही है, क्योंकि आकाशरूप प्रदेश में ही शब्द की उपलब्धि होती है, अन्यत्र नहीं। "शब्दों न स्पर्शवद्विशेषगुणः प्रत्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वात् सुखवत्"न्या.सि.मु.

अर्थात् शब्द प्रत्यक्ष तथा अकारणगुपूर्वक होने से पृथिवी-जल-तेज-वायु इन चार द्रव्यों का विशेषगुण नहीं हो सकता है।

"आश्रयनाशाधीननाश प्रतियोगि भिन्नत्वात्" विलासिनी—

अर्थात् शब्द का आश्रय से नाश नहीं होता है। इस के आधार पर शब्द को वायु का गुण नहीं माना जा सकता है। वायु का गुण स्पर्श वायु के नाश से नाश्य होता है, शब्द ऐसा नहीं है। आकाश नित्य है उसका नाश नहीं होता है, अतः शब्द को पारिशेष्यात् आकाश का ही गुण माना जायगा। आकाश के अस्तित्व में शब्द ही लिङ्ग है। शब्द को क्षणिक, कार्य और कारण दोनों का विरोधी, संयोग विभाग और शब्द इन तीनों से जन्य, अव्याप्यवृत्ति, एवं समान-असमान जातीयकारणवाला माना गया है। शब्द के उच्चारण करने से ही प्राणमात्र को घट-पट मठ आदि अर्थस्वरूप वस्तु का परिचय प्राप्त होता है।

शब्द के भेद—शब्द दो प्रकार का है—बुद्धिहेतुक तथा अबुद्धिहेतुक। बुद्धि हेतुक शब्द दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और काल्पनिक। स्वाभाविक शब्द उसे कहते हैं जो किसी वर्णविशेष का अभिव्यञ्जक न हो, जैसे हंसना रोना आदि। काल्पनिक शब्द तीन प्रकार का माना गया है—वाद्य-आदि रूप-गीतिरूप-और वर्णात्मक। मृदङ्ग आदि का शब्द वाद्य-शब्द कहलाता है। गायन

के अन्तर्गत शब्दों को गीतिरूप शब्द माना गया है। "क" "ख" आदि शब्दों को वर्णात्मक शब्द कहा गया है। यह वर्णात्मक शब्द ध्वनि विशेष से जन्य होता है।

अन्यत्र ग्रन्थों में शब्द के विषय में इस प्रकार भी विवेचन किया गया है कि—"शब्दो द्विविधः-ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च" ध्वनिरूप शब्द भेरी-मृदङ्ग आदि के शब्द को माना गया है। वर्णात्मक शब्द तो वे सभी शब्द हैं जिन्हें हम बराबर बोलचाल में लेते रहते हैं। भाष्य में इसका इस प्रकार उल्लेख किया है कि—

"स च द्विविधः वर्णलक्षणः, अवर्णलक्षणश्च ।
तत्र अकारादिर्वर्णलक्षणः, ध्वनिलक्षणश्चाऽवर्णरूपः"

वर्णात्मक शब्द द्रव्यरूप है, ऐसा मध्वमतानुयायी लोगों का कहना है। वर्णात्मक शब्द दो प्रकार का है सार्थक और निरर्थक। सार्थक शब्द तीन प्रकार का है— प्रकृतिरूप-प्रत्ययरूप और निपातरूप। निरर्थक शब्द है क च ट त प इत्यादि। वर्णात्मक शब्द का फिर दो प्रकार माना गया है, प्रमाणशब्द और अप्रमाणशब्द। "प्रमायाः कारणं प्रमाणम्" इस यौगिक व्युपत्ति के आधार पर शाब्दी प्रमा के कारणभूत ज्ञान के विषय को शब्द कहते हैं। शब्दबोध के प्रति पदज्ञान को कारण मानने वाले नैयायिकों के मत में ही प्रमाण शब्द का यह उपरोक्त अर्थ संगत हो सकता है अन्यत्र नहीं। इस विषय में मणिकार का कहना है कि प्रयोग के कारणीभूत अर्थतत्त्व ज्ञान जन्य ज्ञान के विषय को ही शब्द मानना उचित है। आप्त पुरुष के उपदेश को ही प्रमाण माना गया है। आप्त उसे कहते हैं जिस पुरुष ने जिस अर्थ को जैसा देखा, उस अर्थ को उसी रूप से कथन करने की इच्छा से प्रयोग करनेवाला उपदेष्टा हो। प्रमाण शब्द भी दो प्रकार का है एक लौकिक, और दूसरा वैदिक। उनमें लौकिकशब्द विधि-निषेध और अर्थवाद भेद से तीन प्रकार का है विधि जैसे—त्वं गच्छ, निषेध-किमपि अनिष्टं न विदध्यादिति, अर्थवाद—ॐअपवित्रः पवित्रो वा इत्यादि।

दूसरा प्रमाणभूत वैदिक शब्द पाँच प्रकार का है विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेध और अर्थवाद। उसमें आप्तपुरुष से कहा हुआ लौकिक शब्द ही प्रमाण माना गया है। वैदिक शब्द तो सभी प्रमाण है। सर्वज्ञ भगवान् ने उसकी रचना की है। प्रकारान्तर से प्रमाणशब्द को फिर दो प्रकार का बतलाया है। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। दृष्टार्थ जैसे—"घटमानय" इत्यादि। अदृष्टार्थ जैसे—सन्ध्यावन्दन यागादि।

अप्रमाणशब्द जैसे—गौ एक घोड़ा है, और पुरुष हाथी है, इत्यादि वाक्य।

बौद्ध एवं वैशेषिक प्रभृति दार्शनिकों ने शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है, अपितु इसका उन्होंने अनुमान में अन्तर्भाव कर दिया है। नैयायिकप्रभृति दार्शनिकों ने शब्द को पृथक् ही प्रमाण स्वीकार किया है—"आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः"—गौतमसूत्र।

नैयायिक का कहना है कि शब्द अनुमानविधया प्रमाण नहीं है, अपितु शब्द स्वतन्त्र प्रमाण है। शब्द अर्थ का व्याप्य नहीं होता है। जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ भी अवश्य ही रहे, यह कोई व्याप्ति नहीं है। इससे भी शब्द का अतिरिक्त प्रामाण्य सुस्पष्ट है। शब्द आकाशमात्रवृत्ति है और अर्थ घट-पट आदि की आकाश में वृत्ति नहीं है। वे तो भूतल तथा कपाल आदि में वृत्ति हैं। "शब्दात् प्रत्येमि" इस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर भी शब्द का अतिरिक्त प्रामाण्य-सुव्यवस्थित है।

शब्द के प्रामाण्य और अप्रामाण्य के विषय में मीमांसकों का कहना है कि वैदिकशब्द ही एकमात्र प्रमाण हैं, और लौकिक शब्द तो अनुवादक है। प्रमाण शब्द निर्दोष शब्द होने के नाते आगम कहा गया है। आगम भी दो प्रकार का माना गया है—पौरुषेय तथा अपौरुषेय—

आगमो द्विविधो ज्ञेयो नित्योऽनित्यस्तथैव च।
ऋगाद्या भारतं चैव पञ्चरात्रमथाखिलम्॥
मूलरामायणं चैव पुराणं चैतदात्मकम्।
ये चानुयायिनस्तेषां सर्वे ते च सदागमाः॥

अप्रमाण शब्द दोषयुक्त होने के नाते आगमाभास हैं।

बुद्धि-निरूपण

न्याय वैशेषिक में बुद्धि, ज्ञान, प्रतीति, प्रत्यय एवं उपलब्धि ये पर्यायवाची या समानार्थक माने गये हैं। 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः' वा० भा०

वैशेषिक के अनुसार बुद्धि या ज्ञान गुण है जिसका आश्रय आत्मा है। ज्ञान का कार्य विषयों का प्रकाश करना है—'अर्थ प्रकाशको बुद्धिः'—त.भा. विषय या वस्तु की सत्ता ज्ञान के पूर्व है, परन्तु ज्ञान के बिना विषय अन्धकार में अवस्थित रहते हैं। अतः संसार के समस्त विषयों या पदार्थों का प्रकाश करनेवाला ज्ञान ही है, यह विषय का जनक या उत्पादक नहीं है। सूर्य को

किरणों की सहायता से वस्तुओं का प्रकाश मात्र होता है, किरणें वस्तुओं का जनक नहीं हैं। अभिप्राय यह है कि ज्ञान के अभाव में सभी वस्तुए अन्धकार में रह जायेंगी। ज्ञान वस्तु का प्रकाशक ही नहीं वरन् संसार के समस्त वस्तुओं के स्वरूप का निर्धारण एवं निर्वचन आदि भी ज्ञान के आधार पर ही हो पाता है। अतः संसार के सम्पूर्ण व्यवहारों को अर्थात् प्राणियों की समस्त जीवन यात्रा को सम्पन्न अथवा निर्वाहित करनेवाला गुण ही ज्ञान है—

'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्'—त. सं.

ज्ञान और अनुव्यवसाय—ज्ञान के लक्षण के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मत-भेद है। सांख्य प्रभृति दार्शनिकों ने अन्तःकरण की वृत्ति को ही ज्ञान माना है। सांख्य में बुद्धि और उपलब्धि दोनों भिन्न २ हैं। न्याय वैशेषिक में 'जानामि' इस अनुव्यवसाय से गम्य को ही ज्ञान-पद वाच्य माना गया है। श्री उदयनाचार्य के अनुसार—'यस्मिन् सति आत्मनि जानामि इति अनुव्यवसायोभवति सा बुद्धिः'—किरणावली।

'बोधो बुद्धिः' के आधार पर ज्ञानस्वरुपा बुद्धि ही मान्य है। यही ज्ञान-स्वरूपा बुद्धि संसार के समस्त व्यवहारों का कारण है। केवल 'बुद्धिर्ज्ञानं' कहने से भी बुद्धि का लक्षण स्पष्टतः आ रहा है परन्तु भाष्यकार ने उपलब्धि आदि शब्दों का भी ग्रहण किया है। भाष्यकार 'पयार्य' शब्द से सांख्य मत का खंडन करना चाहते हैं क्योंकि सांख्य मत में बुद्धि तथा उपलब्धि में भेद स्वीकार किया गया है—सांख्यास्तुसत्वरजस्तमोगुणात्मिकायाअनादि-परिणामिनित्यव्यापि प्रकृतेर्जडायाआद्यः परिणामोऽन्तकरणरूपो महत्वापरपर्यायो बुद्धिः"। 'अध्यव-यवसायो वा बुद्धिः' सांख्यसूत्र।

बुद्धि अथवा ज्ञान आत्माका गुण है

हम पहले कह आये हैं कि बुद्धि ही विषयरूप जगत् का प्रकाशन करने वाली है। यह बुद्धिरूप विलक्षण प्रकाश आत्मा का एक गुण माना गया है। यह विशेषगुण एक मात्र आत्मा के अन्दर ही रहने वाला है—"आत्माश्रयः प्रकाशो बुद्धिः" स. प. अर्थात् बुद्धि का आश्रय आत्मा है, और वह बुद्धि प्रकाशस्वरूप है। बुद्धि अथवा ज्ञान के द्वारा घट-पट आदि विषयात्मकवस्तु का प्रकाश होने के पश्चात् ही किसी विषय को लेने देने अथवा छोड़ देने की इच्छा का उदय

होता है। मनुष्य जिस विषय को अपने इष्ट का साधन समझता है उसे लेने की इच्छा होती है। जिसे अनिष्ट का साधन समझता है उसे छोड़ने की इच्छा करता है। इच्छा का प्रादुर्भाव होने पर ही मनुष्य प्रयत्नशील बनता है। प्रयत्न के आधार पर ही शरीर के अन्दर हित और अहित के प्राप्ति तथा परिहार की कारणीभूत क्रियाविशेषरूप चेष्टा[1] का आविर्भाव होता है।

अद्वैतवेदान्तिप्रभृतिदार्शनिकों का कहना है कि बुद्धिज्ञान-इच्छा-प्रयत्न आदि आत्मा के गुण नहीं हैं, बल्कि अन्तःकरण के धर्म (गुण) हैं। परन्तु यह पक्ष उचित नहीं मालूम पड़ता है। किसी भी विषय के वास्तविक स्वरूप का अथवा उसके आश्रयाश्रयी भाव का निश्चय, प्रतीति एवं वाक्य-प्रयोग के आधार पर ही हो पाता है। हम कहते हैं कि—"देवदत्तको मैं जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ" इस प्रतीति का विषयभूत मैं पद से कहा जानेवाला आत्मा ही 'ज्ञान' का आश्रय सिद्ध हो रहा है, न कि अन्तःकरण अर्थात् मन। मन के विषय में तो ऐसा वाक्यप्रयोग सुनने में आता है कि मेरा मन इस समय बड़े ही आनन्द में है इत्यादि। परन्तु 'मैं' शब्द से कहा जानेवाला मन अथवा अन्तः-करण नहीं है बल्कि आत्मा ही 'मैं' शब्द का वाच्य है। अतः वही ज्ञानरूपगुण का आधार है।

कतिपयदार्शनिकों का कहना है कि मन परम-अणु परिमाण वाला है, अन्यथा एक काल में अनेक ज्ञान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? मन यदि मध्यम परिमाण वाला हो तो उसका एक काल में नाना इन्द्रियों से सम्बन्ध हो सकता है, तब फिर नाना इन्द्रियों से नानाज्ञान होने में कोई भी बाधा नहीं है ? परन्तु ऐसा होता नहीं है अर्थात् एककाल में नाना इन्द्रियों से नानाज्ञान नहीं होते हैं। शतावधानी के विषय में ऐसा कहा जाता है कि शतावधानी पुरुष मनकी वृत्ति का वाह्यविषयों से निरोध करके नाना इन्द्रियों से एककालमें नानाज्ञान कर लेता है। वह एकमात्र भ्रम है ! जिस प्रकार कमल के सौ पत्र ऊपर नीचे रख दिये जाय और सुई से उन्हें बींधने वाला समझता है कि मैंने एककाल में ही इन सबको बींध दिया। सुई प्रथमपत्र को बींधकर ही दूसरे पत्रको बींधेगी,। फिर दूसरे को बींधने के पश्चात् ही तीसरे को

---

1. **हिताहितप्राप्तिपरिहारानुकूला क्रिया चेष्टा—न्या. सि. मु. पृष्ठ १३१ विलासिनी टीका—**

बींधेगी, । इस प्रकार क्रमिक ही बींधना हो सकता है । क्रमिकपक्ष में कालभेद अवश्य ही मानना होगा । दूसरी बात यह भी है कि ज्ञान-इच्छा आदि को मन का गुण मानने में एक यह भी दोष होगा कि "घटमहं जानामि" इस प्रतीति के आधार पर बाह्येन्द्रियजन्यज्ञान का प्रत्यक्ष अनुव्यवसाय के रूप में मानसप्रत्यक्ष होता है । ऐसे ही "घटेच्छावानहम्" "घट विषयककृतिमानहम्" इत्यादिरूप से इच्छा तथा कृति (प्रयत्न) का भी अनुव्यवसाय के रूप में मानस प्रत्यक्ष होता है । परन्तु ज्ञान-इच्छा आदि गुणों को यदि मनोवृत्ति (मनमें रहनेवाला) मान लिया जाय तो इन सबका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा । प्रत्यक्ष में महत्त्व परिमाण अपेक्षित होता है । इसलिये ज्ञान-इच्छा आदि को मन का गुण न मानकर आत्मा का ही गुण मानना होगा । तीसरी बात यह भी है कि शरीर के अन्दर एक पुरीतत् नाम की नाड़ी है । वह नाड़ी त्वचा से शून्य है । जिस समय मन पुरीतत् नाड़ी के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, उस समय का नाम सुषुप्ति अवस्था है । वह ज्ञान. शून्यावस्था है । इसके बाद इस अवस्था में जब परिवर्तन होता है तब उस समय त्वक् का मन के साथ संयोग होता है, और मनका फिर आत्मा के साथ संयोग होता है । इसके बाद ज्ञानोत्पत्ति होती है । इससे सिद्ध है कि ज्ञान आदि गुणों की उत्पत्ति में त्वङ्मनः संयोग एवं आत्ममन: संयोग कारण हैं । सुषुप्तिकाल में इसीलिये ज्ञान नहीं माना जाता है क्योंकि ज्ञान सविषयक पदार्थ है । विषय के रहने पर ही ज्ञान संभावित है, अन्यथा नहीं । सुषुप्ति को यदि ज्ञानसंपन्नावस्था माना जाय तो सुषुप्ति अवस्था में भी विषय के स्फुरण की आपत्ति लग जायेगी जो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है, क्यों कि सुषुप्ति अवस्थामें विषय का स्फुरण नहीं होता है ।

कतिपय दार्शनिकों का कहना है कि "सुखमहमस्वाप्सम्" अर्थात् मैं अच्छी तरह सुख से सोया, इस प्रकार का स्मरणात्मकज्ञान सोकर उठने के बाद होता है, और स्मरण बिना अनुभव के होता नहीं है । इससे सिद्ध है कि सुषुप्ति में भी कुछ अनुभव किसी-न-किसी रूप में अवश्य ही होता है। परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है । मनुष्य को सुषुप्ति के बाद जागने पर "सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्" मैं सुखपूर्वक सोया मुझे कुछ भी भान नहीं हुआ, ऐसी प्रतीति होती है । "मैं सुखपूर्वक सोया" यह स्मरण कैसे हुआ ? बिना अनुभव के स्मरण सर्वथा अनुपपन्न होता है। इसका समाधान है कि जागृत

अवस्था में "मैं सुखपूर्वक सोया' यह जो ज्ञान होता है वह स्मरणात्मक नहीं है। मनुष्य अपनी शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिथिरूपलिङ्गज्ञान के आधार पर अनुमान मात्र करता है न कि स्मरण। अनुमान के लिये विशेषतः पूर्वानुभव की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञान कितने काल तक रहता है

ज्ञान के स्थायित्व के विषय में नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि ज्ञान जिस क्षण में उत्पन्न होता है उस उत्पत्तिक्षण के तृतीयक्षण में नष्ट हो जाता है। ज्ञान दो क्षण रहकर तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। जन्य ज्ञान क्षणिक है, और उसका क्षणिकत्व है तृतीय क्षणवृत्ति ध्वंस प्रतियोगित्व।

कोई भी जन्यज्ञान तीन क्षण तक नहीं रह पाता है। अपेक्षाबुद्धि के लिये अलग से क्षणिकत्व का निर्वचन किया गया है—"चतुः क्षणवृत्तिजन्यावृत्ति जातिमद्विशेषगुणवत्त्व''—यह क्षणिकत्व ईश्वर ज्ञान को छोड़कर जन्यज्ञान मात्रसाधारण है। अपेक्षाबुद्धि साधारण भी यह क्षणिकत्व है। यह अपेक्षाबुद्धि चतुर्थक्षण में नष्ट होती हैं।

अपेक्षाबुद्धि को तीन क्षणपर्यन्त स्थायी मानने का मतलब यह है कि इससे द्वित्व का प्रत्यक्ष बन जाता है। प्रथम क्षण में दो घड़ों को देखकर "अयमेकः, अयमेकः" इत्याकारक अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न हुई, द्वितीयक्षण में उन दो घड़ों में द्वित्वसंख्या उत्पन्न हुई, तृतीयक्षण में द्वित्व और द्वित्वत्व का निर्विकल्पकज्ञान' (प्रत्यक्षात्मकज्ञान) उत्पन्न हुआ, फिर चतुर्थ क्षण में उन दोनों घड़ों में "इमौ द्वौ" इस रूप से द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है और अपेक्षा-बुद्धि का नाश भी उसी क्षण में हो जाता है। इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि को तीन क्षण पर्यन्त स्थायी मानना चाहिये जिससे कि द्वित्व प्रत्यक्ष उपपन्न हो सके। अन्यथा अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जायेगा द्वित्व का "इमौ द्वौ" इस रूप में होने वाला सविकल्पक प्रत्यत्यक्षात्मक ज्ञान सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा। अतः अपेक्षाबुद्धि को कारण विशेषवश तीन क्षणपर्यन्त स्थायी माना जाता है। चतुर्थ क्षण में अपेक्षाबुद्धि का नाश मानकर किसी प्रकार द्वित्वनाशक्षण में द्वित्वसंख्यावच्छिन्न द्रव्य का प्रत्यक्ष सम्पन्न हो सकता हैं।

सुख-दुःख—

स्वभावतः आनन्ददायक गुण को सुख कहते हैं। भाष्यकार के अनुसार अनुकूल

अनुभूति ही सुख है—'अनुग्रहलक्षणं सुखम्–प्रशस्तपाद । तात्पर्य यह है कि जिस गुण से आनन्द की प्राप्ति हो उसे सुख कहते हैं । माला, चन्दन, कामिनी, पुत्र आदि प्रिय अर्थों से या विषयों से चक्षुरादि इन्द्रियों का जब सन्निकर्ष होता है तथा पुनः आत्मा और मन का संयोग होता है तो धर्मादि निमित्त कारण की अपेक्षा से आत्मा में सुख नामक गुण उत्पन्न होता है । साधारणतः हम 'आनन्द को ही सुख कहते है । वह सब आत्माओं को अनुकूल अनुभव होने-वाला है'—प्रीतिः सुखम् । तच्च सर्वात्मनामनुकूलवेदनीयम्—त. भा. पृ० २११ और भी—सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयम् सुखम्–त. सं. अर्थात् जिस गुण में सभी को आनन्द का अनुभव हो वही सुख कहलाता है ।

परन्तु यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह कौन सा सुख है जिसकी अनुभूति सबको समान रूप में होती है ? अर्थात् 'सर्वेषा मनुकूलतया वेदनीयम्' किसे माना जाय ? विषय-संयोग में साधारण मनुष्य को सुख प्राप्त होता है, महात्मा विषय-वियोग में ही आनन्द की अनुभूति करता है । तात्पर्य यह है कि लौकिक और पारलौकिक दोनों ही सुखों को सुख की संज्ञा दी गयी, परन्तु दोनों योग और भोग जन्य होने से नितान्त भिन्न है। इसलिये श्री अन्नंभट्ट ने सुख की दूसरी परिभाषा दी है—'सुख्यहमित्याद्यनुव्यवसाय गम्यं सुखत्वादिकमेवलक्षणम—त० दीपिका । पुनः—ननु सर्वेषामनुकूलवेदनीयं इत्यादि मूलंसुखादिलक्षणपरं न संभवति परद्रव्योपभोगादिजन्यसुखे साधूनां द्वेषदर्शनाद ०—याप्ते रित्याशंकायां सुख्यहम् इत्यादि प्रत्यक्षसिद्धसुखत्वादिकमेवलक्षणम्—नीलकण्ठ । श्री शिवादित्य ने भी उपर्युक्त परिभाषा में निरुपाधिक शब्द जोड़ दिया है—'सुखत्व सामान्यवन्निरुपाध्यनुकुलवेद्यम्'—स० प० । श्री शिवादित्य के अनुसार सुख दो प्रकार का है—लौकिक और पारलौकिक । लौकिक सुख मनुस्य के प्रयत्न से प्राप्त होता है परन्तु पारलौकिक सुख इच्छाधीन है—

'प्रयत्नोत्पाद्य साधनाधीनं सुखं सांसारिकम् । इच्छामात्राधीनसाधनसाध्यं सुखं स्वर्गः ।' स० प०

दुःख—

प्रतिकूल (पीड़ा) की अनुभूति ही दुख है। 'उपघातलक्षणं उखम्'—प्र० भा० अर्थात् पीड़ा ही जिसका स्वभाव हो, वह गुण दुख कहलाता है । सर्प, विष आदि अनिष्टजनक विषयों से जब चक्षुरादि इन्द्रियका सन्निकर्ष होता है,

तो आत्म-मन: संयोग से अधर्म की अपेक्षा से आत्मा में अर्मष, उपघात, दीनता आदि दुख रूप-गुण उत्पन्न होते हैं। संक्षेप में दुख नाम है पीड़ा का। वह सब आत्माओं को प्रतिकूल अनुभव होता है—'पीड़ा दुखम्। तच्चसर्वात्मना प्रतिकूल वेदनीयम्' त० भा०। 'प्रतिकूलतया वेदनीयम् दुखम्'। दुःख अतीत तथा अनागत दोनों होता है। भूतकाल में सर्प, विष आदि विषयों में स्मृतिज दुख होता है भविष्य काल में सर्प आदि विषयों में सङ्कल्पज दुख होता है।

इच्छा—

स्वार्थ या परार्थ के लिये अप्राप्त वस्तु की अभिलाषा का नाम इच्छा है—स्वार्थं परार्थं वाऽप्राप्तप्रार्थनेच्छा'—प्र० भा०—इच्छा प्रकरणम्। अर्थात् अपने लिये या दूसरों के लिये न प्राप्त की हुई वस्तु की अभिलाषा ही इच्छा है। इच्छा सुखादि की अपेक्षा से आत्मा में उत्पन्न होती है जिससे प्रयत्न, स्मरण, धर्माधर्मरूप कार्य उत्पन्न होते हैं। ग्रहण की इच्छा से आत्मा में प्रयत्न उत्पन्न होता है। स्मरणेच्छा से स्मरण होता है। यागादि में फल-प्राप्ति की इच्छा से धर्म कार्य उत्पन्न होता हैं। काम अभिलाषा, राग, सङ्कल्प, कारूण्य, वैराग्य, उपधा भाव आदि इच्छा के भेद हैं, अर्थात् मैथुन की इच्छा भोजन की इच्छा किसी विषय में निरन्तर आसक्ति, दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा, विषयसुख को त्यागने की इच्छा, परवंचना की इच्छा आदि सभी इच्छा के विषय हैं। कृतिसाध्यविषयिणी इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं। चिकीर्षा के प्रति कृतिसाध्यताज्ञान तथा इष्टसाधनता ज्ञान कारण होता है जैसे, इदं मत्कृतिसाध्यम्' तथा इदं मदिष्टसाधनम्' आदि।

द्वेष—

जिसके कारण जीवात्मा में ज्वलन क्रिया की अनुभूति हो वह गुण द्वेष कहलाता है—प्रज्वलात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलिवतिमात्मानं मन्यते स द्वेषः'—प्र० भा० द्वेष से जीवात्मा अपने को प्रज्वलित सा समझने लगता है। द्वेष आत्म-मनः संयोग से आत्मा में उत्पन्न होता है जिसका कारण दुःख या दुःख का स्मरण है। शत्रु का अपकार करना (क्रोध), अपकार करने वाले के अन्दर गुप्त रहनेवाला द्वेष (मन्यु), दूसरों के गुण से द्वेष (अक्षमा), अपना तिरस्कार सहन न करना (अमर्ष) आदि द्वेष के भेद हैं।

द्वेष दो प्रकार का होता है—दुखविषयक तथा दुखोपायविषयक। पहला दुःख के प्रति तथा दूसरा दुःख के कारण से द्वेष है। दूसरे के

प्रति वलवद्‌द्विष्टसाधनताज्ञान कारण हैं तथा वलवद्विष्टसाधनताज्ञान प्रतिबन्धक होता है।

प्रयत्न—

प्रयत्न उत्साह है। प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह से सभी पर्यायवाची शब्द हैं—प्रयत्न संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः'—प्र० भा० प्रयत्न प्रकरणम् 'वह प्रयास करता है' 'मैं प्रयास करता हूँ' इत्यादि के असाधारण कारण को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न तीन प्रकार का होता है—पहला जीवन-योनि प्रयत्न जैसे, निद्रावस्था में प्राण तथा अपान वायु के श्वास, प्रश्वास को चलानेवाला प्रयत्न। दूसरा इच्छा-पूर्वक प्रयत्न जैसे, हित की प्राप्ति करनेवाला प्रयत्न तथा अहित का परिहार करनेवाला तीसरा द्वेषपूर्वक प्रयत्न कहलाता है।

संस्कार—

संस्कार तीन प्रकार का है–वेग, भावना तथा स्थितिस्थापक। यहाँ संस्कार का विभाग ही लक्षण है। वेग संस्कार कहीं कर्म से और कहीं वेग से उत्पन्न होता है। शरीर में अभिघात के संयोग से जन्य कर्म से वेग उत्पन्न होता है। वेग से पूर्व कर्म का नाश तथा कर्मान्तर की उत्पत्ति होती है। वेग का स्वीकार न करने पर पूर्व कर्म का नाश तथा दूसरे कर्म की उत्पत्ति असम्भव हो जायेगी। वेग जल, तेज, पृथ्वी, वायु और मन नामक मूर्त द्रव्यों में उत्पन्न होता है। नैयायिक वेग-सन्तान भी कर्म सन्तान की तरह स्वीकार करते हैं, परन्तु वैशेषिक दर्शन में कर्म की उत्पत्ति काल तक एक ही वेग स्वीकार किया जाता है क्योंकि नैयायिकों की अपेक्षा एक ही वेग स्वीकार करने में लाघव है।

भावना—स्मरण तथा प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का उत्पादक है। भावना-संस्कार तीन प्रकार का है—पटु-प्रत्यय, अभ्यास-प्रत्यय तथा आदर-प्रत्यय। भावना-संस्कार का कारण अपेक्षात्मक निश्चय है, क्योंकि उपेक्षात्मक ज्ञान से भावना की उत्पत्ति नहीं होती। उपेक्षास्थल में स्मरण नहीं होता, अतः स्मरण के प्रति अपेक्षाज्ञान कारण है। विरोधिज्ञान से भावना संस्कार का नाश होता है। जूआ में आसक्त व्यक्ति को पूर्व विषय का स्मरण नहीं होता, मादक द्रव्यों के सेवन करनेवाले व्यक्ति में मद से भावना का नाश, पूर्व जन्म में अनुभूत विषय के विस्मरण से मरण-दुख भी भावना का नाशक होता है।

स्थिति-स्थापक—यह संस्कार किसी वस्तु की पूर्वावस्था की प्राप्ति का सूचक

है। किसी आकृष्ट शाखा को छोड़ देने पर वह शाखा पुनः अपने स्थान पर चली जाती है। धनुष, पशुओं के शृंग, दाँत, कपड़ा इत्यादि पदार्थों में विकार उत्पन्न होने पर (टेढ़ा होने पर) पुनः सीधे रूप की प्राप्ति होती है। इस पुनर्गमन का कारण स्थितिस्थापक संस्कार है।

धर्म—

महर्षि कणाद के अनुसार लौकिक उन्नति एवं पारलौकिक मोक्ष का साधन धर्म है—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'[1]—वै० सू०। सूत्र में 'अभ्युदय'-(उन्नति) तथा निः श्रेयस' (मोक्ष) दोनों शब्द सूत्रकार के द्वारा ही प्रयुक्त हैं। ये दोनों शब्द धर्म के मुख्य दो प्रकार को बतलाते हैं—प्रवृत्ति लक्षण धर्म तथा निवृत्ति लक्षण धर्म[2]। भाष्यकार प्रशस्तपाद धर्म के इस द्वैविध्य का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार धर्म आत्मा का गुण है जो आत्मा तथा मन के संयोग से उत्पन्न होता है। धर्म अतीन्द्रिय है अर्थात् किसी भी इन्द्रिय से हमें धर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता। परन्तु अनुमान तथा आगम प्रमाण से धर्म सिद्ध है। अनुमान प्रमाण 'धर्म आत्मा का विशेष गुण है। शरीर संसार आदि कार्य आत्मा के विशेष गुणपूर्वक हैं, विचित्र कार्य होने से, रथादिकों के समान।' रथ इत्यादि का निर्माता अपनी इच्छा के अनुसार रथों का निर्माण करता है। उसी प्रकार ईश्वर जीवों के अदृष्ट (धर्माधर्म) के अनुसार शरीरादि जगत् का निर्माण करता है। आगम प्रमाण—'यावदात्मनि धर्माधर्मौ तावदायुः शरीर

१—जगतः स्थिति कारणं प्राणिनां साक्षात् अभ्युदय निः श्रेयस हेतुः यः स धर्मो-शङ्कराचार्य-गी० भा०

२—पन्थानौ यत्र वेदा प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः निवृत्तिश्च विभावितः॥ महा भा०

सुखाऽऽभ्युदायिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
इह चाऽमुत्र वा काम्यम् प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥ म० सं० १२/८८–९०

मिन्द्रियणि विषयाश्च' 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' इत्यादि भाष्यकार सामान्य तथा विशेष धर्म का उल्लेख करते हैं। धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणिमात्र के प्रति दया, सत्यवचन, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, मनोभाव की शुद्धि (उपधा), क्रोध का त्याग, स्नान, शुचि द्रव्य का सेवन, देव-भक्ति, व्रतादि का पालन, तथा अप्रमाद आदि सभी वर्णों—ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा सभी आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास के लिये सामान्य धर्म है। सभी वर्णों के विशेष धर्म भी अलग अलग बतलाये गये हैं। उदाहरणार्थ दाता से दान लेना अध्यापन तथा ऋत्विजकर्म ये ब्राह्मण के धर्म हैं। राजधर्म के अनुसार प्रजा का पालन, दुष्ट को दण्ड देना, युद्ध से विमुख न होना इत्यादि क्षत्रिय के विशेष धर्म हैं। क्रय-विक्रय, कृषि, वाणिज्य, पशु-पालन आदि वैश्य के विशेष धर्म हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों की सेवा करना आदि शूद्र के विशेष धर्म हैं।

पञ्चम अध्याय

कर्म विचार

कर्म के विषय में अनेक मतमतान्तर हैं। विश्लेषण करने पर कर्म शब्द की शक्तियां बहुत से अर्थों में उपलब्ध होती हैं। उन शक्तियों के आधार पर "कर्म" शब्द का अनेक अर्थों में व्यवहार होता है। "मैं गाँव जाता हूँ" अथवा "पढ़ाने के लिये विश्वविद्यालय जाता हूँ" यहाँ पर गाँव तथा विश्वविद्यालय "कर्म है।:यहाँ "कर्म" शब्द का अर्थ है "उत्तरदेश-संयोग", जो चलने के पश्चात् मुझे स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों ने "क्रिया" को ही कर्म "शब्दार्थ" बतलाया है। क्रियायें अनेक हैं जैसे, उत्क्षेपण अपक्षेपण, भ्रमण आदि। कुछ लोगों ने धातु के अर्थ को ही क्रिया माना है। यदि धात्वर्थ ही क्रिया है तो "व्यासो वेत्ति नवा" इत्यादिस्थल में "विद्" धातु का अर्थ है वेदन या ज्ञान, और ज्ञान तथा वेदन ये दोनों समानार्थक होने से पर्यायवाची हो जाते हैं। अतः वेदन को गुण कहना होगा क्योंकि वेदन ज्ञान है और ज्ञान गुण है। इस आधार पर उसे कर्म ही कहा जायेगा। परन्तु गुण को कर्म कहना यह सर्वथा लोकव्यवहार विरुद्ध है। इसी प्रकार कुछ लोगों ने भाग्य को ही कर्म माना है। भाग्य नाम है अदृष्ट का, और अदृष्ट नाम है पाप-पुण्य का या धर्माधर्म का। यहाँ पर भी भाग्य गुण ही है क्योंकि अदृष्ट एवं धर्माधर्म के समानार्थक होने से पर्यायवाची हैं। "अदृष्टं शब्द च" इत्यादि रुप से गुण-गणनावसर पर अदृष्ट की गुणरुपता का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों में किसी कार्य के कारणीभूत उपाय को भी कर्म शब्दार्थ बताया है और कुछ ने "कृति" को कर्म कहा है। इस प्रकार "कर्म" शब्द को नानार्थक माना गया है। उन नाना अर्थों की उपस्थिति शक्ति रूप सम्बन्ध द्वारा ही होती है। उन नाना अर्थों में अलग अलग शक्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। इससे शक्ति की अनन्तता ही सिद्ध होगी, जैसे "हरि" शब्द की विष्णु-इन्द्र एवं सिंह आदि नाना अर्थों में शक्ति का स्वीकार होता है। इसी शक्ति के आनन्त्य प्रयुक्त गौरव दोष को दृष्टिकोण में रखते हुए वाक्यार्थ का परिगणन किया गया हैं—"कर्माण्येतानि पञ्च च"

न्याय वैशेषिक में उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुञ्चन प्रसारण और गमन ये पाँच

प्रकार के कर्म माने गये हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिकों ने संयोग तथा विभाग के प्रति निरपेक्ष कारण को ही कर्म बतलाया है। यहां निरपेक्ष शब्द का अर्थ है कि किसी दूसरे भाव पदार्थ की अपेक्षा न रखना। इससे यह शङ्का निरस्त हो जाती है कि कर्म उत्तरसंयोग की उत्पत्ति में पूर्वसंयोगनाश की जब अपेक्षा रखता है तो वह सर्वथा निरपेक्ष कारण कैसे हुआ ? वहां पूर्वसंयोगनाश-भाव नहीं है, अपितु अभाव है। अतः संयोग एवं विभाग के प्रति जो वस्तु निरपेक्ष रूप से कारण हो सके उसी को "कर्म" शब्द का अर्थ प्रकृत में जानना चाहिये। उठना-बैठना चलना-फिरना हिलना आदि समस्त क्रियायें इसी कर्म के अन्दर आ जाती हैं। अतः विश्व की प्रयेक क्रिया को कर्म शब्दार्थ कहा जा सकता है।

कर्म को उत्पत्ति—

कर्म सर्वदा द्रव्य ही में उत्पन्न होता है तथा उत्पन्न होकर द्रव्य में ही रहता भी है। इसलिये कर्म का आश्रयभूत स्थान भी द्रव्य ही है तथा कर्म का कारण (असमवायिकारण) भी द्रव्य ही है। कर्म स्वयं असमवायिकारण होता है। "गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम् भा० प० अर्थात् असमवायिकारणत्व गुण तथा कर्ममात्र में रहने वाला धर्म है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि कर्म जब भी होगा तो असमवायिकारण ही होगा। यह भी स्पष्ट हो है कि निर्गुण द्रव्य में कभी भी (उस द्रव्य की निर्गुण अवस्था जब तक रहेगी तब तक) क्रिया उत्पन्न नहीं हो सकती है।

परन्तु गुण तो चौबीस हैं, उन गुणों में से कौन २ गुण ऐसे है जो कर्म की उत्पत्ति के कारण हैं ? इसका उत्तर यही है कि संयोग ही प्रधानरूप से कर्म अथवा कर्मोत्पत्ति का कारण माना गया है—। "अदृष्टवदात्मसंयोगात् परमाणौ क्रिया" अर्थात् अदृष्टवाले आत्मा के साथ होनेवाले संयोग से ही परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है। प्रलय के पश्चात् पृथग्भूत यथास्थानस्थित परमाणुओं में जो सृष्टि के निर्माण के लिए क्रिया उत्पन्न होती है वह क्रिया संयोगजन्या है। संयोगों में भी वही संयोग क्रिया का उपादानकारण माना गया है जिस संयोग के दोनों आश्रयों में से किसी एक आश्रय में क्रिया उत्पन्न हो। अतः संयुक्त उन दोनों द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य में क्रिया अवश्य अपेक्षित है। आत्मा और मन का संयोग ज्ञान मात्र के प्रति कारण माना गया है। वहां

पर आत्मा के निष्क्रिय होने पर भी मन क्रियाशील है। इसलिए केवल यदि संयोग मात्र को की उत्पत्ति में कारण माना जाय तो निष्क्रिय द्रव्य आकाश-काल प्रभृति में भी क्रिया की उत्पत्ति स्वीकार करनी पड़ जायेगी। अतः यह कहना पड़ेगा कि एकमात्र संयोग ही क्रियोत्पत्ति में कारण नहीं है, अपितु संयोग के आश्रयीभूत उन दोनों द्रव्यों में एक कोई अवश्य ही क्रियाशील होना चाहिये।

वेग से क्रिया की उत्पत्ति—

जिस प्रकार दोनों द्रव्यों में एक क्रियाशील द्रव्य के संयोग से कर्मोत्पत्ति होती है उसी प्रकार वेग से भी द्रव्य में कर्मोत्पत्ति देखने में आती है। किसी फुटवाल अथवा गेंद आदि को दूर फेका जाय तो उसमें क्रियासन्तान अथवा धारावाहिकरूप से क्रिया उत्पन्न होती है। वहाँ प्रथमक्रिया को छोड़कर दूसरी-तीसरी-चौथी एवं पंचम आदि क्रियायें वेगजन्य ही माना गयी हैं। प्रथम पतनक्रिया का समवायिकारण के रूप में तो द्रव्य को और असमवायिकारण के रूप में गुरुत्व गुण को, तथा तीसरीं एवं चोथी आदि क्रियाओं के प्रति वेग को ही कारण माना जाता है। वेग के अतिरिक्त और कोई ऐसा कारण नहीं है जो उस वस्तु को भिन्न२ स्थानों में लेजाने की शक्ति रखता हो। वेग के वैषम्य के कारण ही वह फेंकी जाने वाली वस्तु विभिन्न स्थानों में जाकर गिरती है। यदि वेग में अधिकता होगी तो अधिक दूरी पर जाकर गिरेगी और यदि वेग में कमी होगी तो कम दूरी पर जाकर गिरेगी। यही न्यूनाधिक्य वेग का वैषम्य माना गया है।

गुरुत्व से कर्मोत्पत्ति—

पतनात्मकक्रियाविशेषस्वरूप कर्म की उत्पत्ति एकमात्र गुरुत्व से ही होती है। कोई भी फल अथवा फलस्वरूप वस्तु पकने के पश्चात् ऊवर से नीचे की ओर गिरती है। वहां उस गिरने को तो पतन वतलाया गया हैं और उस पतनात्मक गिरने का कारण गुरुत्व को वतलाया गया है। अभिप्राय यह है कि किसी भी फल के परिपक्व हो जाने के पश्चात् उसमें रस की अभिवृद्धि हो जाती है। रस की अभिवृद्धि के कारण ही उन परिपक्व फलों में गुरुत्व उत्पन्न हो जाती है। उस गुरुत्व के कारण ही फल पेड़ से नीचे गिरने लगते हैं। अतः यह मानना पड़ेगा कि पतनरूपक्रियात्मक कर्म की उत्पत्ति का एकमात्र कारण गुरुत्व ही है। सर्वत्र पतनरूपक्रिया गुरुत्वप्रयोज्य होती है।

इसीलिये अन्नं भट्ट ने कहा भी कि—"पतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्" अर्थात् पतनक्रिया का असमवायिकारण गुरूत्व ही होता है। इस विषय में कुछ दार्शनिकों का ऐसा भी कहना है कि पृथिवी में एक स्वाभाविक आकर्षण शक्ति है जो सब वस्तुओं को अपनी ओर खींच लेती है। अतः गुरुत्व पतन का प्रयोजक है, यह कहना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। यदि पृथिवी में आकर्षण शक्ति का अङ्गीकार किया जाता है तो अग्नि की लपटें अथवा दीपक की ज्वाला हमेशा ऊपर को ही क्यों जाती हैं? उनका आकर्षण पृथिवी क्यों नहीं करती है? पुनः यदि पृथिवी में आकर्षण शक्ति होती, और उसी आकर्षण शक्ति के आधार पर निराश्रित वस्तुओं का पतन होता तो खेत में बोये हुए गेहूँ-चना-अरहर आदि ऊपर को क्यों जाते हैं, पृथिवी उनका आकर्षण क्यों नहीं कर लेती है? इसलिये गुरुत्व को ही पतन का कारण मानना उचित प्रतीत होता है।

द्रवत्व से कर्मोत्पत्तिविचार

जल में स्वाभाविक बहने वाली शक्ति का हम प्रत्यक्ष करते हैं अर्थात् जल स्वभाव से ही बहता रहता है। किसी खेत में गिरने पर वहीं पर फैल जाता है। उस विस्तार रूप क्रियात्मककर्म का अथवा प्रवाह रूप क्रियात्मककर्म का कारण प्रस्रवणरूप द्रवत्व को ही माना गया है—"स्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम्" तर्क सं० ओले-बरफ आदि द्रवत्वप्रतिरुद्ध पदार्थों में प्रवाह रूप क्रिया का अथवा-पृथिवी पर विस्तार रूप क्रिया का अनुभव नहीं होता है। उनमें उस काल में द्रवत्व ही नहीं है, यदि है तो वह प्रतिरुद्ध है। जब तक उस द्रवत्व के प्रतिरोध का निराकरण अथवा दूरीकरण नहीं हो जाता है तब तक उन कठिन पदार्थ ओले आदि में प्रस्यन्दन (प्रस्रवण) आदि क्रियायें उत्पन्न नहीं होती हैं। जिस समय गर्मी आदि से ओले अथवा बरफ आदि के द्रवत्व का प्रतिरोध हट जाता है, उस समय उनमें भी प्रस्यन्दन-प्रस्रवण होने लगता है। शुष्क घट प्रभृति सच्छिद्र पात्रों में कोई भी द्रवीभूत पदार्थ जल अभवा तैल आदि के डाल देने से अन्तःस्थित तैल आदि का अवरोधक घटीय वाह्य भाग भी चिकना हो जाता है। उस घट के वाहरी भाग तक चिकनेपन के पहुँच जाने में द्रवत्व ही एकमात्र कारण है। यदि जल-तैल-एवं धृत आदि पदार्थों में द्रवत्व न होता तो घट-पट आदि का बाहरी भाग स्निग्ध नहीं हो पाता। वाह्य प्रदेशपर्यन्त उस स्निग्धता (स्नेह चिकनापन) के पहुँचने में द्रवत्व ही कारण है। इस लिए यह अङ्गीकार सर्वथा

आवश्यक है कि द्रवत्व से भी कहीं क्रियोत्पत्ति अर्थात् कर्मोत्पत्ति अवश्य हो होती है।

कर्म का विनाशः—

कर्म की स्थिति के विषय में विभिन्न मत-मतान्तर हैं। कतिपय दार्शनिकों का कहना है कि कर्म अपनी उत्पत्ति से छः अथवा सात क्षण पर्यन्त रहता है। उत्पत्ति क्षण के सहित सात क्षण, और उत्पत्ति क्षण से रहित कर्म की स्थिति काल छः क्षण होता है। उनका दृष्टिकोण यह है कि क्रिया से जहां विभाग एवं संयोग की उत्पत्ति होती है वहाँ क्रिया से एक ही विभाग अथवा एक ही संयोग नहीं उत्पन्न होता है। उदारण के लिये जहां हाथ में उत्पन्न हुई क्रिया से हाथ का और वृक्ष का विभाग होता है, वहां एकमात्र हाथ का वृक्ष से ही विभाग होकर नहीं रह जाता हैं, अपितु वृक्षावच्छिन्न वृक्षसंयुक्त आकाश से, वृक्षावच्छिन्न काल एवं दिशा से, आत्मा और परमात्मा से इन सभी से हाथ का विभाग होता है। इसी आधार पर उतने ही नाना संयोग भी स्वीकार करना होगा क्योंकि विभाग होने से संयोग का नाश होता है। "संयोगनाशको गुणो विभागः" त. सं. हाथ की क्रिया से हाथ और वृक्ष का विभाग होता है। पुनः वृक्ष से शरीर का भी विभाग होता है। उस वृक्ष और शरीर के विभाग के प्रति हाथ और वृक्ष का विभाग कारण है। इसी का नाम विभागज विभाग है। इसे स्वीकार करने पर कर्म का सातवें या आठवें क्षण में विनाश स्वीकार करना पड़ता है। यह नियम है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व उस वस्तु के विनाशक्षण के अव्यवहित पूर्वक्षण तक ही होता है। कहीं कर्म का विनाश उसके आधारभूत द्रव्य के विनाश से भी माना गया है। इस पक्ष में कर्म का तीसरे क्षण में भी विनाश हो सकता है। कोई विनाशी अनित्यद्रव्य घट है। उस घट के विनाश-क्षण के अव्यवहितपूर्वक्षण में कोई क्रिया उत्पन्न हुई। वह क्रिया अवश्य ही स्वोत्पत्तिक्षण के तृतीयक्षण में ही नष्ट हो जायेगी। उदाहरणार्थ—परमाणु में क्रिया उत्पन्न हुई, क्रिया से फिर विभाग उत्पन्न हुआ, विभाग से फिर द्व्यणुक के आरंभक परमाणुद्वयसंयोग का नाश हुआ। प्रथमक्षण में द्व्यणुक में द्व्यणुकनाशानुकूल क्रिया उत्पन्न हो गयी। दूसरेक्षण द्व्यणुक का नाश, तीसरे क्षण में क्रिया का भी नाश हो गया। बौद्ध विद्वानों का कहना है कि जब वस्तु-मात्र ही क्षणिक है तो क्रिया भी क्षणिक होगी। उनके यहाँ क्षणिकत्व है—

"स्वाव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्व" अर्थात् अपने अव्यहित उत्तर

क्षण होने वाले ध्वंस का जो प्रतियोगी हो। इस मत में वस्तुमात्र जैसे स्वाव्यवहितोत्तरलक्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगी हैं उसी प्रकार क्रिया भी अपने अव्यवहित उत्तरक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगी होती है। इस मत के अनुसार दूसरे ही क्षण में क्रिया का विनाश हो सकता है। दूसरी बात यह भी है कि "यत् सत् तत् क्षणिकम्" अर्थात् जो सत् भाव पदार्थ हैं वे सभी क्षणिक हैं। क्रिया भी भावपदार्थ होने के नाते क्षणिक है। अतः समस्त कर्म दूसरे ही क्षण में विनाशशील माने गये हैं। समस्त भावभूत पदार्थ प्रथमक्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं।

कर्म का आश्रय कौन ?

कर्म का आश्रय कौन है अर्थात् कर्म किसमें रहता है ? कर्म का आश्रय द्रव्य है। कर्म नियम से द्रव्य ही में उत्पन्न होकर उसी में रहता भी है। उदाहरणार्थ वायु के वेग से वृक्ष के पत्ते, वृक्ष की शाखायें हिलने लगती हैं। वृक्ष स्वयं भी हिलने लगता है। यहाँ वृक्ष भी द्रव्य है, पत्ते और शाखायें भी द्रव्य हैं। हिलना रूप क्रिया उन्हीं में अर्थात् वृक्ष पत्ते शाखा आदि में उत्पन्न होती है और उन्हीं में रहती भी है। यहाँ एक प्रश्न है कि जब वायु के वेग से वृक्ष तथा पत्ते एवं उनकी शाखायें हिलने लगते हैं तो वह (हिलना) क्रिया जैसे वृक्ष और उसके पत्ते आदि में होती है उसी प्रकार उनके रूप-रस आदि गुण भी हिलने लगते हैं। अतः गुण को भी क्रिया का आश्रय क्यों न माना जाय ? एकमात्र द्रव्य को ही क्रिया का आश्रय स्वीकार करना सर्वथा भ्रम है। इसका उत्तर यही है कि वायु के वेग से वह क्रिया वास्तव में वृक्ष और पत्ते आदि में ही हो रही है। रूप-रस आदि गुणों में तो उसकी एकमात्र भ्रान्ति है जैसे "नीलं तमश्चलति" यहाँ चलनात्मक क्रिया का नील तम में भ्रान्ति है।

कर्म-स्थिति का विचार

कर्म कितने समय तक रहता है, इस विषय में मतमतान्तर पाये जाते हैं कतिपयदार्शनिक कर्म की स्थिति उसके उत्पत्ति क्षणसहित चारक्षण पर्यन्त मानते हैं। जिसक्षण में कर्म उत्पन्न हुआ वह कर्म का उत्पत्तिक्षण या प्रथमक्षण माना गया है। इस क्षण के सहित कर्म का स्थितिकाल चार क्षण होता है। उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि सर्वप्रथम क्षण में हाथ में क्रिया हुई। दूसरे क्षण में पूर्वकाल में संयुक्त वृक्ष से विभाग हुआ।

तृतीयक्षण में हाथ और वृक्ष का संयोग नष्ट हो गया। चतुर्थक्षण में उस हाथ का अन्य किसी पुस्तक अथवा भूमि आदि उत्तरप्रदेश के साथ संयोग हो गया। पंचमक्षण में वह क्रिया नष्ट हो जाती है जो प्रथमक्षण में उत्पन्न हुई थी। इसका तात्पर्य है कि प्रथमक्षण अर्थात् उत्पत्तिक्षण को यदि क्रियाकाल में सम्मिलित नहीं किया जाता है तो तीन क्षणपर्यन्त ही कर्म का अस्तित्व माना जायेगा। यदि उत्पत्तिक्षण को क्रिया के अस्तित्व काल में सम्मिलित किया जाता है तो क्रियाकाल निर्विवादरूप से चार क्षण हो जाता है। अन्तिमक्षण जो पंचमक्षण है वह क्रिया का विनाशक्षण ही है। उसकी क्रिया के अस्तित्व काल में गणना नहीं है क्योंकि उस क्षण में तो क्रिया का विनाश ही हो जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि क्रिया का अस्तित्वकाल अथवा स्थितिकाल तीन या चार क्षण ही माना जा सकता है।

कर्म के विषय में विशेष विचार—कर्म के विषय में बहुत सी विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। कतिपयदार्शनिक कहते हैं कि कर्म की कर्म से उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकार का प्रकरण आता है कि पुलिस ने गोलियाँ चलायी। वहाँ गोली संचालनस्थल में उन गोलियों के दूर अथवा दूरतर एवं दूरतम प्रदेश के जाने में एक ही कर्मकारण नहीं है, अपितु उसमें कर्मधारा कर्मसन्तान ही कारण है। उनका कहना है कि गोली संचालनस्थल में गोली में एक ही क्रिया उत्पन्न नहीं होती है अपितु वहाँ कर्म धारा अर्थात् कर्म सन्तानोत्पत्ति होती है, जैसे शब्दोच्चारणस्थल में (शब्दसन्तान) शब्द धारा उत्पन्न होती है। बौद्धदार्शनिक भी क्षणिकविज्ञानधारा मानते हैं। अभिप्राय यह है कि वहाँ उस धारा के अन्तर्गत जो अवान्तर दूसरी तीसरी क्रियायें उत्पन्न होती हैं उन क्रियाओं के प्रति वेग ही कारण है न कि कर्म।

कर्म का विभाजन

उत्क्षेपण—कर्म अनन्त और असंख्य है। परन्तु उन असंख्य कर्मों को हमारे न्याय वैशेषिक दार्शनिकों ने पांच रूप से—उत्क्षेपण अपक्षेपण आकुञ्चन-प्रसारण गमन रूप से विभाजन किया है। इन पांच प्रकार के कर्मों में से प्रत्येक कर्म के स्वरूप का परिचय पृथक पृथक दिया गया है। उत्क्षेपण—"ऊर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणं कर्म उत्क्षेपणम्" मु० वि० अर्थात् मूर्त्तद्रव्यों का जो ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग होता है, उस संयोग के असमवायिकारणीभूत कर्म को

"उत्क्षेपरण" कर्म कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने भी उत्क्षेपरण का लक्षरण है किया है—"ऊर्ध्वमात्र दिग्देशसंयोगानुकूलं कर्म उत्क्षेपरण"

अर्थात् ऊपर की ओर होनेवाला जो दिशा और देश का संयोग है, उस संयोग के कारणीभूत कर्म को उत्क्षेपरणात्मक कर्म कहते हैं। दिग्देश संयोग दो प्रकार का होता है—एक अनियतदिग्देश संयोग, दूसरा नियतदिग्देशसंयोग। सक्रिय द्रव्य का किसी न किसी से संयोग तो अवश्य ही होता है। परन्तु वह संयोग किससे होगा और किस तरफ से होगा ? इस प्रकार के अनिश्चयात्मक संयोग को अनियतदिग्देश संयोग कहते हैं। जो संयोग किसी नियत प्रदेश में, किसी दिशा नियत में होनेवाला होता है उसे नियतदिग्देशसंयोग कहते हैं। इन सब संयोगों का असमवायिकारण कर्म को ही माना गया है। दिशाओं में होनेवाले और भी बहुत से संयोग हैं जिन सब संयोगों का अन्ततोगत्वा कारण कर्म को ही माना गया है। भ्रमरण, रेचन—किसी वस्तु का बाहर निकलना जैसे शरीर से मल आदि का, स्पन्दन-बहना जैसे जल आदि का, ऊर्ध्वज्वलन-ऊपर को ओर जलना जैसे अग्नि का, तिर्यग्गमन-टेढ़ा चलना जैसे वायु आदि का, ये भी पांच प्रकार के कर्म हैं। नमन, तथा उन्नमन आदि भी कर्म हैं। परन्तु ये सब पूर्वोक्त उत्क्षेपरण आदि पांच प्रकार के कर्मों में से गमन में इन सबका अन्त-र्भाव कर दिया जाता है। पांच से अधिक कर्म किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो पाते हैं, अपितु उत्क्षेपण आदि ही पांच प्रकार के कर्म हैं। यहां प्रश्न होता है कि जैसे भ्रमरण आदि समस्त कर्मों का गमन में अन्तर्भाव कर दिया जाता है वैसे ही उत्क्षेपण अपक्षेपरण आदि चारो कर्मो का भी गमन में ही अन्तर्भाव क्यों न कर दिया जाय ? ऊपर को फेंकी हुई वस्तु में "ऊर्ध्वं गच्छति" और नीचे को फेंकी हुई वस्तु में "अधो गच्छति" इस प्रकार की प्रतीति सब को होती है। यह प्रतीति उत्क्षेपरण अथवा अपक्षेपरण में गमनत्व धर्म को विषय करती है। अतः उत्क्षेपरण आदि चारो कर्मों का भ्रमरण आदि के समान गमन में अन्तर्भाव हो जाना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। इसका समाधान है कि सर्वज्ञ महामुनि कपिल आदि ने पृथक रूप से इन सबका उल्लेख शिष्यों की बुद्धि को विशद करने की दृष्टि से ही किया है। वास्तव में भ्रमण आदि कर्मों का गमन में अन्तर्भाव हो जाना उचित प्रतोत होता है।

उत्क्षेपरण की विशेषता—किसी मूर्तद्रव्य घट-पट आदि को (अथवा गेंदा या फुटबाल आदि को) उठाकर फेंकने का नाम ही उत्क्षेपरण है। इस

उत्क्षेपण कर्म को सम्पन्न करने के लिये फेंकी जानेवाली वस्तु में गुरुत्व तथा उस वस्तु का हाथ आदि सक्रिय द्रव्य के साथ संयोग होना सर्वथा आवश्यक है। किसी भी हलके द्रव्य को यदि हम ऊपर की तरफ फेकतें हैं तो उसमें उत्क्षेपण का लक्षण समन्वित नहीं हो पाता है। हलके द्रव्य का उर्ध्वदेश के साथ संयोग होने में बहुत सी कठिनाइयां उपस्थित हो जाती है। उत्क्षेपण कर्म को सम्पन्न करने के लिये जैसे गुरुत्व और संयोग अपेक्षित है, इसी प्रकार उत्क्षेपण कर्त्ता व्यक्ति में इच्छा और प्रयत्न का होना भी अनिवार्य है। बिना इच्छा के आत्मा में उत्क्षेपणानुकूल प्रयत्न ही नहीं हो पायेगा और विना प्रयत्न के उत्क्षेपणीय वस्तु के साथ हाथ आदि क्रियाशील द्रव्य का संयोग नहीं हो सकता। बिना संयोग के उत्क्षेपण सर्वथा असम्भव है। उत्क्षेपण के लिये तो उत्क्षेपणीय वस्तु के साथ किसो हाथ आदि प्रयत्नशील तथा क्रियाशील द्रव्य का संयोग अपेक्षित है।

अपक्षेपण विचार—

जिस क्रिया के आधार पर किसी मूर्त्तद्रव्य का संयोग किसी अधोदेश में विद्यमान द्रव्य के साथ होता है उसी (क्रिया) का नाम अपक्षेपण है—

"अधोदेशसंयोगासमवायिकारणत्वमपक्षेपणत्वम्" मु. वि.

अर्थात् नीचे के प्रदेश में विद्यमान द्रव्य के साथ होने वाले संयोग के प्रति असमवायिकारणीभूत कर्म को अपक्षेपण एवं अवक्षेपण कहते हैं। उदाहरण के लिये—धान के वितुषीकरणार्थ कर्म को लें। इस कर्म में उद्यमन और निपातन आवश्यक हैं। वहाँ अधोदेश के संयोग का असमवायिकारणीभूत मूसलकर्म, तथा हाथ के अधोदेश संयोग का असमवायिकारणीभूत हाथ का कर्म अपक्षेपण अथवा अवक्षेपण कहलाता है। सर्वप्रथम आत्मा के संयोग और प्रयत्न से हाथ में उत्क्षेपणरूप कर्म उत्पन्न होता है। उस हस्तनिष्ठ उत्क्षेपण कर्म का समवायिकारण स्वयं हाथ ही होता है। हाथ के साथ जो प्रयत्नवाले उस आत्मा का संयोग है वह उस उत्क्षेपण कर्म का असमवायिकारण है। आत्मा का प्रयत्न निमित्तकारण होता है। मूसल में उत्पन्न हुई उत्क्षेपण नामक कर्म का मूसल स्वयं समवायिकारण है। हस्तमूसलसंयोग उस मूसल के उत्क्षेपणकर्म का असमवायिकारण होता है। आत्मा का प्रयत्न तथा हस्तनिष्ठ उत्क्षेपण आदि सब निमित्तकारण होते हैं।

अपक्षेपण के विषय में विशेष विचार—

उत्क्षेपणात्मककर्म के प्रति जिन २ कारणों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं (जैसे गुरुत्व-संयोग-इच्छा एवं प्रयत्न आदि का) वे सब कारण इस अपक्षेपण कर्म के प्रति भी होते हैं। उत्क्षेपण और अपक्षेपण इन दोनों प्रकार के कर्मों के कारणों में किसी भी प्रकार का वैजात्य या वैलक्षण्य नहीं है। फिर इन दोनों को एक ही मान लिया जाय ? नियम है कि कारण के भेद प्रयुक्त ही कार्य में भेद माना जा सकता है। इसका समाधान न्याय-वैशेषिकदार्शनिकों ने दिया कि वहाँ कारण सामग्री ही भिन्न २ है। उत्क्षेपणस्थलीय जो इच्छा और प्रयत्न हैं वे अपक्षेपणस्थल में नहीं हैं। उत्क्षेपणस्थल में इच्छा और प्रयत्न उत्क्षेपण को विषय करते हैं। गेंदा को हाथ से ऊपर को फेंके, यह इच्छा होती है और तदनुकूल ही प्रयत्न भी होता है। अपक्षेपणस्थल में मैं इस गेंदा को नीचे गिराऊँ, इस प्रकार की इच्छा का उदय तथा तदनुकूल ही प्रयत्न का समुद्रेक होता है। इससे दोनों ही क्रियायें परस्पर में भेदवाली सिद्ध हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त अपक्षेपण निम्नदिग्देश संयोगस्वरूप फल का उत्पादक कारण माना गया है। उत्क्षेपण को ऊर्ध्वदेश के साथ होने वाले दिशा के संयोगात्मकफलोत्पत्ति का प्रधान कारण माना गया है। इससे भी उत्क्षेपण और अपक्षेपण में भेद स्पष्ट है। अपक्षेपण को भी उत्क्षेपण के समान पाँच भागों में विभाजित किया है। पार्थिव अपक्षेपण, जलीय अपक्षेपण, तैजस अपक्षेपण, वायवीय और मानस अपक्षेपण। इन पाँचों में भी प्रारंभ के तीन अपक्षेपण तो सरल तथा अनुभवगम्य होने से सर्वथा सुस्पष्ट हैं, क्योंकि वहाँ पर ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना आदि क्रियायें अनायास दृष्टि गोचर हो जाती हैं। परन्तु वायवीय और मानस अपक्षेपण का विचार गंभीर है। वायु-सम्बन्धी उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण शीघ्र समझ में नहीं आते हैं। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर वहाँ भी यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊर्ध्वमुख होकर श्वास प्रश्वास लेने पर वायु उत्क्षेपण से सम्बन्धित हो जाता है। नीचे की तरफ मुख करके श्वास-प्रश्वास लेने पर मनुष्य वायु में अपक्षेपण कर्म का अनुभव करता हैं। इसी प्रकार मन में भी उत्क्षेपण-अपक्षेपण क्रिया समझना चाहिये। योगी लोगों में शरीर से सम्बन्धित ऊपर और नीचे के देशों में मन को एकाग्र करने से धारण होती है। उस धारणा के आधार पर मन में उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण क्रिया होती है।

आकुञ्चन—

शरीर के (अवयवी के) हाथ-पैर आदि अवयवों के सङ्कोच करने से उन हाथ-पैर आदि अवयवों का सन्निकृष्ठ देश के साथ संयोग होता है। उस संयोग के असमवायिकारणीभूत हाथ पैर में रहनेवाले कर्म को "आकुञ्चन कहते हैं—"शरीरसन्निकृष्टसंयोगासमवायिकारणत्वमाकुञ्चनत्वम्" मु० वि०

हम देखते हैं कि शरीर के हाथ–पैर आदि अङ्गों के सङ्कुचित होने से उनका सन्निकृष्टदेश के साथ संयोग हो जाता है। उस संयोग का असम-वायिकारण (उन हाथ-पैर) आदि अङ्गों की क्रिया है, उसी क्रया का नाम आकुञ्चन है। किसी "पर" वस्तु को समेट लेने पर वहां (उन टाट या गद्दा आदि) द्रव्यों के अवयवों में नये नये संयोग उत्पन्न हो जाते हैं जो सर्वथा द्रव्य के अनारंभक हैं। उन द्रव्यारम्भक संयोगों के कारणीभूत कर्म को "आकुञ्चन कहा जाता है। क्रियाविशेष का नाम ही आकुञ्चन है। इसके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं—'शरीरसन्निकृष्टसंयोग हेतुः कर्म' त० सं०

अर्थात् शरीर के पारस्परिक हस्त-पाद आदि अवयवों के संङ्कोच (जो विजायीय संयोग हैं, उस सयोग) के कारणीभूत कर्म को "आकुञ्चन कहते हैं। कुछ विद्वानों ने यथाऽवस्थित वस्तु में टेड़ापन आ जाने को ही आकुञ्चन कहा है—"वक्रतासंपादकं कर्म" त० दी०

"अङ्गकौटिल्यजनकं कर्म आकुञ्चनम्" त० व०

अर्थात् शरीर के किसी भी अवयवभूत अङ्ग के कौटिल्य के कारणीभूत कर्म को "आकुञ्चन" कहते हैं। इस विषय में प्रशस्तपाद ने कहा है कि "ऋजुनो द्रव्यस्याग्रावयवानां तद्देशैर्विभागः संयोगश्च मूलप्रदेशैर्येन कर्मणा भवति अवयवी च कुटिलः सञ्जायते तदाकुञ्चनम्" प्रशस्तपादभाष्य–

अर्थात् कोमल द्रव्य के अग्रभाग के अवयवों का उनके आश्रयभूत प्रदेशों के साथ विभाग और मूलप्रदेशों के साथ संयोग जिस क्रिया के आधार पर हो (अर्थात् जिस क्रिया से वह अवयवीभूतद्रव्य टेढ़ा हो जाय) वही क्रिया आकुञ्चन है।

प्रसारण—

प्रसारण उस क्रियाविशेष को कहते है जो क्रिया आकुञ्चन क्रिया से सर्वथा

विपरीत हो, अर्थात् जिस क्रिया के आधार पर आकुञ्चनस्थलीय संयोग के विपरीत संयोग और विभाग के विपरीत विभाग की उत्पत्ति होने पर (टेढ़ा) अवयवी सीधा हो जाय। शरीर रूप अवयवीभूतद्रव्य के (हाथ-पैर आदि अवयवभूत) अङ्गों को फैला देने से उन (अङ्गों का विप्रकृष्टदेश के साथ संयोग होता है। उसकी असमवायिकारणीभूत हस्त-पाद आदि में रहने वाली क्रियाविशेष है, उसी क्रिया[1] विशेष का नाम प्रसारण है।

इस प्रसारणरूप कर्म की विशेषता यह है कि द्रव्यानारम्भक जो तन्तु आदि अवयवों का संयोग है उसका विनाश करने वाले विभाग की उत्पत्ति उस समय तक नहीं हो सकेगी जब तक उन तन्तु आदि अवयवों में क्रिया नहीं होगी। संयोग नाश विभाग सापेक्ष हैं, और विभाग कर्मसापेक्ष है। जिस कर्म की अपेक्षा विभाग को है वही कर्म "प्रसारण" है।

"दूरदेशसंयोगजनक क्रियात्वं प्रसारणत्वम्" स्वयंकल्पित—

अर्थात् किसी मूर्तद्रव्य के फैल जाने के कारण संकुचित प्रदेश की अपेक्षा दूरदेश के साथ होने वाले संयोग के असमवायिकारणीभूत कर्म को प्रसारण कहते हैं। यह प्रसारणक्रिया भी आकुञ्चन क्रिया के समान जन्यपृथिवी–जन्य जल और जन्यतेज इन्हीं तीन जन्यद्रव्यों में रहती है। इनके परमाणुओं में एवं आकाश-काल-दिशा और आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) इनमें जैसे आकुञ्चनक्रिया नहीं रहती है वैसे ही प्रसारण भी।

गमन—

क्रमप्राप्त पाँचवा स्थान गमन का है। गमन वह क्रिया है जो अनियमित रूप से किसी दिक् प्रदेश के साथ संयोग और विभाग को उत्पन्न करे। पुनः मूर्त्तद्रव्य का नियम से रहित उत्तरदेश के साथ संयोग के असमवायिकारणीभूत कर्म को भी गमन कहते हैं—"यदनियत दिक्प्रदेश संयोगासमवायिकारणं तद् गमनम्" प्र० भा०

"उत्क्षेपणादि चतुष्टयभिन्नत्वेसति विभागासमवायिकारणत्वे सति संयोगासमवायिकारणत्वं गमनत्वम्" विलासिनी—

अर्थात् जो कर्म उत्क्षेपण आदि चार प्रकार के कर्मों से भिन्न हो और विभाग तथा संयोग का असमवायिकारण हो वही गमन है। जिस क्रिया के आधार पर

१—शरीविप्रकृष्टहेतुः कर्मविशेषः, त० कौ०।

उत्पन्न होनेवाले संयोग के विषय में किसी भी प्रकार का दिशा-नियम न हो उसी क्रिया को गमन कहा गया है। दृष्टान्त रूप में "मैं प्रभुनाथ सिंह आज जा रहा हूँ" इससे श्रोता को यही ज्ञान होता है कि प्रभुनाथ सिंह कहीं जा रहा है। कहाँ जा रहा है ? किस तरफ जा रहा है ? क्यों जा रहा है ? उसकी प्राप्त करने योग्य वस्तु कहाँ है ? यह कुछ भी निश्चय वह नहीं कर पाता है। उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण आदि स्थलों में श्रोता को इस प्रकार से दिशा के सम्बन्ध में विभ्रम नहीं होता है। वहाँ ऊपर तथा नीचे का दिशा के सम्बन्ध का निर्णय हो जाता है। आकुञ्चन तथा प्रसारण स्थल में भी दिशा का नियम रहता है। कोई व्यक्ति यदि यह कहता है कि "कछुवे के अवयव संकुचित हो रहे हैं" तो श्रोता व्यक्ति अवश्य यह समझ जायेगा कि कछुवे के अवयव उसके शरीरान्तः प्रविष्ट हो रहे हैं। यदि कोई यह कह देता है कि "कछुवे के अवयव बाहर आ रहे हैं" तो उससे श्रोता को यह निश्चय हो जाता है कि कछुवे के अवयव बाह्य दिशा की ओर जा रहे हैं। अतः आकुञ्चन और प्रसारण स्थल में दिग्देश सम्बन्ध नियमित रहता है। एकमात्र गमन में ही दिग्देश के सम्बन्ध की अनियमितता है। वैशेषिक उपस्कार में गमनत्व जाति वाले कर्म को गमन कहा है—"गमनत्वजातिमद् गमनम्" वै० उ०—

अथवा—"उत्क्षेपणादि चतुष्टयभिन्नत्वे सति कर्मत्वजातिमत् कर्म गमनम्"

अर्थात्—उत्क्षेपण आदि पांच कर्म माने गये हैं। उन पांचों कर्मों में कर्मत्व जाति रहती है। अतः पांचों ही कर्मत्वजातिवाले हैं। उनमें उत्क्षेपण आदि चार कर्मों से भिन्न जो कर्मत्व जातिवाला कर्म पदार्थ हो वही गमन है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी कहना है कि गमन और कर्म दोनों पर्यायवाची हैं। जहां पर "उत्क्षिपति" का व्यवहार होता है वहीं पर 'उर्ध्वं गच्छति' का व्यवहार भी होता है। एवं 'अपक्षिपति' के स्थान में 'अधोगच्छति' का व्यवहार देखने में आता है। इसी प्रकार आकुञ्चन स्थल में शरीर के हस्त-पाद आदि अवयव संकुचित हो जाते हैं अर्थात् शरीर के अन्दर चले जाते हैं। प्रसारणस्थल में अन्दर से बाहर आजाते हैं—"सर्वं हि क्षणिकं कर्म गमनमात्रमुत्पन्नं स्वाश्रयस्योर्ध्वमधस्तिर्यग्वाप्यणुमात्रैः प्रदेशैः संयोगविभागान् करोति, सर्वत्र गमनप्रत्ययोऽविशिष्टस्तस्माद् गमनमेव सर्वमिति" प्रशास्तपादभाष्य। परन्तु यह पक्ष उचित प्रतीत नहीं होता है। यदि उत्क्षेपण और अपक्षेपणस्थल में गमन क्रिया का व्यवहार मान भी लिया जाय तो भी अकुञ्चन एवं प्रसारण स्थल में तो गमन

क्रिया का व्यवहार ठीक नहीं है। अतः इससे स्पष्ट प्रतीत है कि गमन का पर्यावाची कर्म को कहना नितान्त भूल है। दूसरी बात यह भी है कि उत्क्षेपणत्व एवं अपक्षेपणत्व आदि जातियां उत्क्षेपण आदि कर्मों में ही रहेगी न कि गमन में। गमनत्व जाति गमन में ही रहेगी न कि उत्क्षेपण आदि कर्मों में। इससे स्पष्ट भेदावभासन हो रहा है। इस कारण से भी उत्क्षेपण आदि क्रियाओं को गमनरूप क्रिया से अभिन्न नहीं कहा जा सकता है। उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण आदि प्रत्येक वर्ग की क्रियाओं में समान आकार वाली ही प्रतीतियां देखने में आती है। ऊपर को फेकने का व्यवहार उत्क्षेपण क्रिया के आधार पर ही संपन्न हो सकता है। इसी प्रकार नीचे फेंकने का व्यवहार अपक्षेपण क्रिया के द्वारा ही संपन्न हो सकता है। ऐसे ही आकुञ्चन एवं प्रसारण तथा गमन स्थल में भी समानाकारकप्रतीतियां ही देखने में आती हैं।

जिस प्रकार अनुवृत्तिप्रत्ययन के आधार पर गमन क्रिया को और सब क्रियाओं से अभिन्न नहीं कहा जा सकता है उसी प्रकार व्यावृत्तिप्रत्यय (भेद-प्रतीति) के आधार पर भी गमनक्रिया को और सब उत्क्षेपण आदि क्रियाओं से अभिन्न नहीं कहा जा सकता है। उत्क्षेपणरूप क्रिया व्यक्ति में अपक्षेपण आदि अन्यक्रियाओं की भिन्नत्व (भेदावगाहिनी) प्रतीति व्यावृत्तिबुद्धि होती है। मानवश्रेणी के प्रत्येक मनुष्य में "अयंमनुष्यः" इस आकार वाली समानाकारक प्रतीति हम देखते है। उसी मानववर्ग की प्रत्येक व्यक्ति में गवादि वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति से भिन्नत्व प्रतीति भी होती है। इन्हीं प्रतीतियों के आधार पर मनुष्यत्व एवं गोत्व आदि जातियों की भी कल्पना की जाती है। उसी प्रकार प्रकृत में भी उत्क्षेपणत्व अपक्षेपणत्व आकुञ्चनत्व-प्रसारणत्व एवं गमनत्व इन पांच जातियों की भी कल्पना पूर्वोक्त आधार पर ही की जाती है। इस लिये इस पूर्वोक्त कारणकलाप के आधार पर पांचो कर्मों को पृथक् पांच संख्या का ही स्वीकार करना होगा।

—:*:—

षष्ठ अध्याय

सामान्य-विचार

विभिन्न वस्तुओं में अनुगत प्रतीति का कारण सामान्य स्वीकार किया गया है। सामान्य जाति है जो 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का कारण है। किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में एकाऽऽकार की प्रतीति या अनुगत व्यवहार जाति के कारण ही सम्भव है। अनेक मनुष्यों में अनुस्यूत एक मनुष्यत्व सामान्य है। यह मनुष्यत्व सभी मनुष्यों का समान धर्म है जिसके कारण परस्पर भिन्न मनुष्यों में एकाऽकार प्रतीति होती है। महर्षिवात्स्यायन के अनुसार—"या समानां बुद्धि प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतेतरतो न व्यार्वतन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत्सामान्यम्" वा० भा०

भिन्न-भिन्न अधिकरणों में समानाकारक बुद्धि को उत्पन्न करनेवाला ही सामान्य-जाति कहलाता है। उदारहणार्थ—परस्पर में भिन्न अनेक गायों में 'इयं गौः' 'इयं गौः' इत्याकारवाली समानबुद्धि जिससे उत्पन्न होती है उसे सामान्य कहते हैं। इस सामान्य के आधार पर ही किसी वर्ग के सदस्यों के प्रति एकता का सम्पादन होता है। सामान्य का लक्षण—

'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' त० सं०

'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' सि० मु०

'सामान्यं नित्यमेकमनेक समवेतञ्च' स० प०

अर्थात् सामान्य एक है, नित्य है, अनेकानुगत है। व्यक्ति भिन्न-भिन्न होते हैं परन्तु जाति एक होती है, जैसे मनुष्य अनेक हैं पर मनुष्यत्व जाति एक है। मनुष्यत्व सामान्य (जाति) नित्य है। जन्म और मरण तो व्यक्ति का होता है, जाति का नहीं। अनेकानुगत का अर्थ है अनेक में अनुस्यूत अर्थात् सामान्य सभी (मनुष्यों) में समवेत (समवाय सम्बन्ध से स्थित) रहता है।

सामान्य का विश्लेषण—

प्रश्न यह है कि हमें वाह्य समस्त समान वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान कैसे होता है ? हमें घट-पट आदि पदार्थों की प्रतीति अलग अलग से होती है। "अयं

घटः" "अयं घटः" और सब घटों की मिलितरूप से भी एक प्रतीति होती है "सर्वे घटाः" । सैकड़ों अथवा हजारों घटों को विषय करने वाली प्रतीतियां भी भिन्न-भिन्न हैं, कोईचाक्षुष प्रतीति है तो कोई स्पार्शन प्रतीति है । इन सब प्रतीतियों का कारण एक कोई नहीं कहा जा सकता है । चाक्षुष-प्रतीति का कारण विषय के साथ चक्षुरिन्द्रियसंयोग—आलोकसंयोग और रूप आदि । परन्तु ये सब कारण त्वगिन्द्रिय के आधार पर होनेवाली त्वाच-प्रतीति के नहीं हो सकते हैं, । वहाँ विषय के साथ त्वगिन्द्रिय संयोग अपेक्षित है । आलोक संयोग तथा रूप आदि की वहां आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्धकार में भी स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है । पृथक पृथक रूप से होनेवाले बहुत से कारण हैं । एक कोई भी उनमें से प्रधान कारण नहीं हैं जो धारावाहिक रूप से होने वाली समस्त प्रतीतियों को उत्पन्न करता है और समस्त घटों को विषय करने वाली "सर्वे घटाः" इस प्रतीति को भी उत्पन्न करता हो ? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि ऐसा कारण केवल "सामान्य" है । सामान्य को भी नवीन नैयायिकों ने सखण्ड और अखण्ड भेद से दो भागों में विभाजित किया है—

"सामान्यं च सखण्डाखण्ड भेदेन द्वेधा । सखण्डे च अखण्डमेव परम्परया सम्बद्धं प्रत्यासत्तिः" सामान्यलक्षणा जागदीशी—

सामान्य दो प्रकार का होता है । सखण्डसामान्य और अखण्डसामान्य । सखण्डसामान्य घट-घटाभाव, पट-पटाभाव, आदि हैं । अखण्ड सामान्य घटत्व-पटत्व आदि हैं । बहुत से घटवाले भूतलों का प्रत्यक्ष करने में उन समस्त भूतलों का 'घटवत्त्व' एक सामान्य धर्म बन जाता है । इसी प्रकार सभी घट शून्य भूतलों का साक्षात्कार करने के लिये 'घटशून्यत्व' रूप सामान्यधर्म की आवश्यकता होती है । बहुत से घटों का प्रत्यक्ष करने के लिये 'घटत्व' रूप सामान्य धर्म की आवश्यकता होती है ।

'सामान्य' शब्द से किस अर्थ का ग्रहण होता है ? सामान्य शब्द से घट को या घटत्व को अथवा घटाभाव को समझा जाय, क्योंकि ये सभी सामान्य शब्दार्थ हो रहे हैं ? दूसरी बात यह भी है कि सामान्य शब्द की कौन सी शक्ति या व्युत्पत्ति स्वीकार की जाय जिसके आधार पर घट-घटत्व घटाभाव आदि सभी सामान्यों का ज्ञान होता है ? श्री विश्वनाथ पञ्चानन ने इसका उत्तर स्पष्ट दिया है कि—

"परन्तु समानानां भावः सामान्यम्, तच्च क्वचिन्नित्यं धूमत्वादि, क्वचिच्चानित्यं

घटादि" अर्थात् समान पदार्थों के धर्म को सामान्य कहते हैं, जैसे धूमत्व, आदि नित्य सामान्य और घट आदि अनित्य सामान्य। किसी व्यक्ति ने एक घट को संयोग सम्बन्ध से भूतल में देखा और समवाय सम्बन्ध से कपाल में। तत्पश्चात् घटात्मक सामान्य वाले समस्त भूतलों का संयोग सम्बन्ध से और घटात्मक सामान्य वाले समस्त कपालों का समवाय-सम्बन्ध से ज्ञान होता है—"इमानि सर्वाणि भूतलानि संयोगेन घटवन्ति" "इमे सर्वे कपालाः समवायेन घटवन्तः"

"यत्रैको घटः संयोगेन भूतले, समवायेन कपाले वा ज्ञातस्तदनन्तरं सर्वेषां तद्घटवतां भूतलादीनां कपालादीनां ज्ञानं भवति" न्या. सि. मु.

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सामान्य सखण्ड और अखण्ड भेद से दो प्रकार का है। विश्वनाथपञ्चानन ने दोनों को नित्य और अनित्यरूप से बतलाया है। इस प्रकार से संसार के सभी पदार्थ 'सामान्य' के ही अन्दर आ जाते हैं। संसार में दो ही पदार्थ हैं नित्य और अनित्य। सामान्य भी दो ही प्रकार का है नित्य और अनित्य। इसके अतिरिक्त जहाँ सखण्ड सामान्यरूप से समस्त सखण्ड सामान्याश्रयों का प्रत्यक्ष होता है, "संयोगेन घटवन्ति भूतलानि" "समवायेन घटवन्तः कपालाः" "इत्यादि, वहाँ पर भी अन्ततोगत्वा अखण्ड सामान्य को ही परम्परा सम्बन्ध से प्रत्यासत्ति माना गया है।

"सखण्डे च अखण्डमेव परम्परा सम्बद्धं प्रत्यासत्तिः" सामान्यलक्षणा-जाग।

सखण्ड सामान्य अनित्य होने के नाते विनाशी है। सखण्ड सामान्य स्वयं विनष्ट होने पर विनाशकाल में अथवा उसके पश्चात् कैसे अपने आश्रयों का प्रत्यक्ष कर पायेगा? इसलिये सखण्ड सामान्य स्थल में भी अखण्ड सामान्य को ही प्रत्यासत्ति मानना परमावश्यक है। अखण्ड सामान्य घटत्व-पटत्व आदि अपने आश्रयों के प्रत्यक्ष में जैसे प्रत्यासत्ति होते हैं उसी प्रकार सखण्डसामान्य के आश्रयों के प्रत्यक्ष में भी। अब प्रश्न है कि "सामान्य शब्द" सखण्डसामान्य तथा अखण्ड सामान्य इन दोनों अर्थों का बोध किस शक्ति, (किस व्युत्पत्ति) के आधार पर करता है? इसका उत्तर है कि—"समानानां भावः सामान्यम्" इस योगार्थव्युत्पत्ति के आधार पर (इस अवयव शक्ति के आधार पर) सामान्य शब्द प्रकृत में "यौगिक" है, न कि पारिभाषिक। अतः योगार्थव्युत्पत्ति के (अवयवशक्ति के) आधार पर समस्त समान धर्मों का ही बोध करेगा। वह घटत्व हो या घट हो, अथवा घटाभाव हो। घटत्व सम्पूर्ण घटों का समानधर्म है। उसी प्रकार घट भी समस्त घटवाले भूतल आदि पदार्थों का समानधर्म

है एवं घटाभाव अथवा घटशून्यत्व भी सभी घटशून्य भूतल आदि का समानधर्म है, क्योंकि जितने भी घटाभाववाले अथवा घटशून्य भूतल हैं उनमें घटाभाव या घट शून्यत्व समानरूप से वर्तमान हैं। इसलिये ये योगार्थव्युत्पत्ति के आधार पर अपने २ समान आश्रयों के समान धर्म होने से प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) बन जाते हैं। विश्वनाथ पञ्चानन ने एवं विलासिनी टीकाकार श्री गौड़ जी ने "सामान्य" शब्द को यौगिक बतलाया और उसके पारिभाषिकत्व का खण्डन किया है। "तथा च प्रकृते सामान्यपदं यौगिकमेव नतु पारिभाषिक मिति भावः" मु. वि.। "यौगिकमेव" यहाँ पर सन्निविष्ट 'एव' पद से रूढ्यर्थ प्रभृति अर्थों की व्यावृत्ति हो रही है, इससे स्पष्ट ध्वनित हो रहा है कि प्रकृत में रूढ़ि अथवा योग रूढ़ या यौगिकरूढ़ अर्थ विवक्षित नहीं हैं, अपितु एकमात्र यौगिक ही अर्थ ग्राह्य है। परन्तु हमारा तो इस सामान्य के विषय में मत यह है कि "सामान्य" शब्द को "योगरूढ़" ही मान लिया जाय। "यत्रऽवयवशक्ति विषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढ़म्" सि. मु. अर्थात् जो शब्द अवयवशक्ति एवं समुदायशक्ति इन दोनों शक्तियों के द्वारा अर्थ का बोधन करें वे योगरूढ़ शब्द माने गये हैं। पङ्कज शब्द का पङ्काज्जायते इस प्रकृतिप्रत्ययात्मक अवयवशक्ति के आधार पर पङ्कस्थपद्म का बोध होता है और समुदायशक्ति के द्वारा स्थलपद्म का बोध होता है। उसी प्रकार प्रकृत में सामान्य शब्द से भी "समानानां भावः" इस प्रकृति-प्रत्ययात्मक अवयवशक्ति तथा समुदाय शक्ति दोनों का बोध होता है।

अखण्डसामान्य—

अखण्ड सामान्य वह है जिसे नैयायिक तथा वैशेषिकों ने नित्य तथा अनेकों में समवेत माना है। "नित्यत्वे सति अनेक समवेतत्वम्" सि. मु.

प्राचीन नैयायिकों ने दो विभुद्रव्यों के संयोग को नित्य माना है। दो द्रव्यों में समवेत होने के नाते अनेक में समवेत भी है। अतः नित्य तथा अनेक समवेत विभुद्वयसंयोग भी है। इस प्रकार सामान्य का लक्षण संयोग में अतिव्याप्त होने से सर्वथा निर्दुष्ट नहीं हो रहा है। इस लक्षण को निर्दुष्ट बनाने के लिये इसमें "विभुद्वयसंयोग भिन्नत्व" विशेषण और देना आवश्यक है इस विशेषण के देने से सामान्य के लक्षण का स्वरूप यह होगा।

"विभुद्वयसंयोगभिन्नत्वेसति नित्यत्वेसति अनेकसमवेतत्वम्"

कणाद रहस्य में यह लक्षण किया गया "नित्यं सदनेकवृत्ति" कणादरहस्य—

अर्थात् जो नित्य हो और द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों पदार्थों के विषय में 'सत्' इस प्रकार की अनुगतप्रतीति का कारण हो। द्रव्यंसत्, गुण: सन्, कर्म सत् इस प्रकार की सत् रूप से होनेवाली अनुगतप्रतीति सब को होती है। वहाँ द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों को परस्पर में भिन्न होने के नाते अनुगत प्रतीति का कारण नहीं माना जा सकता है। पारिशेष्यात् सत्ता ही एक अनुगत धर्म मानना होगा, जिस सत्तारूप अनुगतधर्म के आधार पर अनुगतप्रतीति सम्पन्न होती है। वहाँ अनुगतप्रतीति सत्ताजाति का साधक है। इसी प्रकार पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि द्रव्य भी परस्पर में भिन्न २ हैं, वहाँ भी "इदं द्रव्यम्" "इदं द्रव्यम्" यही अनुगतप्रतीति द्रव्यत्व जाति का साधक है।

वैसे ही गुणादिस्थल में भी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि सभी गुणपरस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। वहां भी "अयंगुण:" "अयंगुण:" इत्यादिरूप से होनेवाली अनुगतप्रतीतिगुणत्वजाति का साधक है। इसी प्रकार उत्क्षेपण-अपक्षेपण-आकुञ्चन आदि कर्मों के विषय में भों "इदंकर्म" "इदंकर्म" इत्यादि रूपसे होने वाली अनुगतप्रतीति कर्मत्वजाति का साधक है। एवं "अयंघट:" इस रूपसे होने वाली अनुगतप्रतीतिघटत्वजाति का साधक है। ऐसे ही "इयंपृथिवी" तथा "इदंजलम्" इत्यादि अनुगतप्रतीतियां पृथिवीत्व-जलत्व आदि जातियों का साधक हैं। इसी प्रकार और भी पटत्व-मठत्व आदि अपरजातियों में उनकी साधक प्रतीतियां हैं—"अनुवृत्तप्रत्ययासाधारण-कारणम्" कणादरहस्य

अनुवृत्तप्रत्यय=अनुगत=एकाकार=समानाकारप्रतीति का असाधारणकारण ही सामान्य है। जिसप्रकार एक गौ में "अयंगौ:" इसरूप से समान्य की प्रतीति होती है, उसी प्रकार दो गौवों में "इमौगौ" अथवा बहुतसी गौवों में "इमेगाव:" इसरूप से अनुगतप्रतीति होती है। इन सब अनुगतप्रतीतियों का असाधारण-कारण सामान्य ही है। द्वित्व-त्रित्व आदि से सामान्य में यही विशेषता है कि द्वित्व अपने नियामक पर्याप्तिसम्बन्ध से दो ही में रहता है। त्रित्व तीन ही में रहता है। सामान्य अपने समानरूप से एक-दो-तीन एवं अनेक व्यक्तियों में रहता है। प्रशस्तपाद के अनुसार "प्रतिपिण्डं समान्यापेक्षं प्रवन्धेन ज्ञानोत्पत्तौ अभ्यासप्रत्ययजनिताच्च संस्कारादतीतज्ञानप्रबन्धप्रत्यवेक्षणात् यदनुगतमस्ति तत् सामान्याम्" प्र. भा.।

प्रतिपिण्ड का अर्थ है प्रत्येकपिण्ड और पिण्डशब्द का अर्थ है कि व्यक्ति। प्रत्येकव्यक्ति में जिसरूप से सामान्य का ज्ञान होता है उसी रूप से जब समान्य

की बार-बार प्रतीति होती है तो उससे सामान्य को विषय करनेवाले भावनाख्य: दृढ़ संस्कार की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् दृढ़संस्कार से अतीतज्ञान-समुदाय की स्मृति होती। इसी स्मृति के द्वारा विभिन्न अपने आश्रयीभूतव्यक्तियों में जो अनुगतरूप से अर्थात् समानरूप से प्रतीयमान होता है, वही सामान्य है। वही अखण्ड है, अथवा वही अखण्ड सामान्य है। यही अखण्डसमान्य एक व्यक्ति अर्थात् एक पिण्ड में जब प्रतीयमान हो जाता है तब इसीकी पिण्ड में प्रत्यभिज्ञा होती है। प्रत्यभिज्ञा हो जाने के पश्चात् उसके विरोधी प्रमाण स्वयं निरस्त हो जाते हैं। यह भी अखण्ड सामान्य का ही एक लक्षण है "स्व-विषयसर्वगतमभिन्नात्मकमनेकवृत्ति एकद्विबहुष्वात्मस्वरूपानुगमप्रत्ययकारिस्वरूपाभे-देनाधारेषु प्रबन्धेनवर्तमानमनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्" प्र.भा.

अर्थात् सामान्य अपने सभी विषयों में (विशेष्यों में, आश्रयों में) समवाय सम्बन्ध से रहता है, क्योंकि उन सभी आश्रयभूतव्यक्तियों में उस अखण्ड समान्य की प्रतीति होती है। जो दूसरे उस सामान्य के अनाश्रयभूतव्यक्ति हैं उनमें प्रतीति नहीं होती हैं। इसलिये उन अनाश्रयभूत व्यक्तियों से वह सामन्य पृथक है। इसी कारण से "अभिन्नात्मकम्" यह विशेषण भी दिया गया है। इसका अर्थ है अभिन्नस्वभाववाला अर्थात् वह अखण्डसामान्य जिस स्वरूप से अपने एक आश्रय में रहता है उसी स्वरूप से वह अपने और दूसरे आश्रय में भी रहता है। अखण्ड सामान्य (घटत्व पटत्व आदि) अपने सभी आश्रयों में रहने के नाते जैसे अपने आदि एक आश्रय में रहते हैं। उसी प्रकार दूसरे आश्रयों में रहते हैं।

"अनुवृत्तिप्रत्ययासाधारणकारणवृत्तिपदार्थविभाजनकोपाधिमत्त्वं वा"

"द्रव्यवृत्तिगुणवृत्तिवृत्तिपदार्थ विभाजकोपाधिमत्त्वं वा"

"कर्मवृत्तिवृत्ति गुणवृत्तिवृत्ति पदार्थ विभाजकोपाधिमत्त्वं वा" कणादरहस्य--

जाति व्यावृत्ति का भी कारण है—

"समानप्रसवात्मिका जातिः" न्या० दर्शन। 'इयं गौ' 'इयं गौ' इस रूप से होनेवाली समानाकारक बुद्धि ही सामान्य है। इसी सामान्य के प्रभाव से समानाकारक वुद्धि उत्पन्न होती है। पाकक्रिया के आधार पर पाचकों में 'अयं पाचकः' 'अयं पाचकः' इस रूप से समानाकारबुद्धि उत्पन्न होती है। यह सामान्यात्मिका जाति समानाकार बुद्धि को उत्पन्न करने के साथ व्यावृत्ति

= इतरेतर पदार्थों से पारस्परिक भेद बुद्धि को भी उत्पन्न करती है। घट-पट आदि इतर पदार्थों से भिन्न है। इसमें हेतुभूत प्रमाण के रूप में घटत्व जाति को ही रख देने से घट का पट आदि पदार्थों से भेद सिद्ध हो जाता है।

'घट: पदादिभ्यो भिन्न: घटत्वजातिमत्त्वात्' इसी प्रकार—'पटो घटादिभ्यो भिन्न: पटत्वजातिमत्त्वात्, इस प्रकार समस्त जातिवाले घट-पट आदि पदार्थ अपनी-अपनी जाति के द्वारा (अपने-अपने अन्दर रहने वाली जो जातियाँ हैं, जैसे घट के अन्दर घटत्व, पट के अन्दर पटत्व, उनके द्वारा) दूसरे पदार्थों से अपना अपना भेद स्वयं करा लेते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि जयन्त भट्ट लिखते हैं "नहिविषयातिशयमन्तरेण-प्रतिभासातिशयोऽकल्पते" न्यायमंजरी—पृ. १२४ अर्थात् घट-पट आदि पदार्थों के ज्ञान में "अयंघट:-अयंघट:" इत्यादि रूप से होनेवाले ज्ञानों में जो परस्र में अन्तर = भेद (बैलक्षण्य वैजात्य) है वह विषयों में पहले अन्तर माने विना सिद्ध नहीं हो सकता है। सर्वप्रथम जब तक ज्ञान के विषयों में भेद नहीं माना जायेगा तब तक उन विषयों के ज्ञान में भी अन्तर नहीं हो सकता है। उदयनाचार्य ने भी कहा है "अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्" न्या.कु.। अर्थात् घट-पट आदि जो अर्थ हैं उनमें विशेषता (भेद) माने विना ज्ञान में अन्तर किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता है। उन-उन विषयों में अन्तर विना जाति के अन्तर के नहीं हो सकता। घटत्वजाति घट में ही रहेगी न कि पट में और पटत्वजाति पट में रहेगी न कि घट में। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जाति विषयों का भेदक है, और विषय अपने-अपने ज्ञान के भेदक हैं। इसप्रकार अनुवृत्तिप्रत्यय अथवा अनुगत प्रत्यय का असाधारणकारण जैसे जाति है उसी प्रकार व्यावृत्ति अर्थात् अपने आश्रयीभूतपदार्थों के भेद का कारण भी यही जाति है।

सामान्योपलब्धि व्यक्त्युपलब्धि के अधीन है। जाति और व्यक्ति के विषय में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जाति और व्यक्ति की उपलब्धि में कोई कालकृतभेद है या नहीं ? यदि जाति और व्यक्ति की उपलब्धि में भेद है तो जाति की उपलब्धि स्वतंत्ररूप से एवं स्वतंत्र काल में क्यों नहीं होती है ?

नैयायिकों का कहना है कि जाति की उपलब्धि व्यक्ति की उपलब्धि के साथ ही होती है, व्यक्ति की उपलब्धि के अतिरिक्ति स्वतंत्र रूप से स्वतंत्रकाल में देखने में नहीं आती है। 'अयं घट:' अथवा 'घट:' यही व्यक्ति की उपलब्धि

का स्वरूप है, इसका अर्थ है 'अयं घटत्ववान्'। यहाँ घटत्व जाति है और घटत्ववाला घट व्यक्ति है। इसलिये घटत्व जाति की उपलब्धि घटव्यक्ति के अधीन है, क्योंकि जातिमात्र व्यक्ति में समवेत है। इसी दृष्टिकोण के आधार पर नैयायिकों ने 'नित्यत्वेसति अनेकसमवेतत्वम्'

सामान्य का लक्षण किया। इस लक्षण में सन्निविष्ट 'अनेकसमवेतत्व' पद इसी बात बात को बतलाता है कि वह जाति अनेक व्यक्तियों में समवेत है, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से रहती है। समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध दो पदार्थों का ही होता है। उन अयुतसिद्ध दो पदार्थों के विषय में ऐसा नियम है कि एक पदार्थ का विनाश कथमपि नहीं होता है, और एक पदार्थ दूसरे के आश्रित ही होकर रहता है। इस प्रकार के आश्रयाश्रयी भाव-पक्ष में किस प्रकार आश्रयभूत व्यक्ति की उपलब्धि के बिना आश्रयीभूत सामान्य की उपलब्धि हो सकती है? दूसरी बात यह भी है कि सामान्य की उपलब्धि में जैसे संयुक्तसमवाय अथवा संयुक्त-समवेतसमवाय आदि सन्निकर्ष कारण हैं, एवं उद्भूत रूप-महत्त्व आदि कारण हैं, वैसे ही व्यक्ति की उपलब्धि में भी कारण हैं। सामान्योपलब्धि की कारण सामग्रीकुक्षी में व्यक्ति की उपलब्धि भी सन्निविष्ट है—

'न व्यक्त्या विना सामान्यस्फुरणं कारणाभावात्। व्यक्ति स्फुरण सामग्री निविष्टा हि जातिस्फुरण सामग्री 'न्या० कु० पृ २६२

प्रशस्तपादभाष्य पर न्यायकन्दली टीकाकार श्रीधराचार्य का इस विषय में कथन है कि सामान्य की उपलब्धि के दो कारण हैं—एक तो व्यक्ति जो इसका अभिव्यञ्जक है, आश्रय तथा आधारभूत है तथा दूसरा कारण है अवयव संस्थान विशेष। इसकी उपलब्धि कारणसापेक्ष है, पराधीन है, परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं।

सामान्योपलब्धि में भी हर एक सामान्य की तो उपलब्धि भी नहीं होती है, जैसे मनस्त्व-अणुत्व प्रभृति की। एकमात्र इन्द्रियग्राह्य विषयों में रहनेवाला सामान्य ही उपलब्ध होता है। जिन सामान्यों के आश्रय इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं उन सामान्यों की उपलब्धि नहीं होती है। उदयनाचार्य का भी इस विषय में यही कहना है कि सामान्योपलब्धि में स्वरूपयोग्यता है। स्वरूपयोग्यता का अर्थ है कि स्वरूपतः सामान्य में प्रत्यक्ष योग्यता है। इसलिये सामान्य की उपलब्धि इस मत में निराबाध है। परन्तु इसकी भी उपलब्धि व्यक्ति की

उपलब्धि पर ही आश्रित है। व्यक्ति की उपलब्धि न होने पर सामान्य की भी उपलब्धि नहीं होती है—"तस्माद् व्यक्तिग्रहणयोग्यतान्तरगतैव जाति-ग्रहणयोग्यतेति तदनुपलम्भे जातेरपि अनुपलम्भ एव"।

उदयानाचार्य के मत से सामान्म का विशेष विवेचन—

उदयनाचार्य का कहना है कि व्यक्ति का प्रत्यक्ष सामान्य के प्रत्यक्ष के प्रति कारण है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सामान्य के अस्तित्व के प्रति भी व्यक्ति की उपलब्धि कारण है। सामान्य की उपलब्धि के प्रति ही व्यक्ति की उपलब्धि कारण है न कि अस्तित्व के प्रति। सामान्य का अस्तित्व व्यक्ति के अनुपलब्धिकाल में भी बना रहता है। सामान्य नित्य है। व्यक्ति अनित्य है, उसकी उपलब्धि भी अनित्य है। नित्यवस्तु सर्वदा विद्यमान रहती है। इसलिये उसका अस्तित्व व्यक्ति की उपलब्धि से सर्वथा निरपेक्ष है। इसके अतिरिक्त सामान्यों के अस्तित्व की सिद्धि भी बहुत विलक्षण है। कतिपय सामान्यों का अस्तित्व प्रत्यक्षसिद्ध है तो कुछ का अनुमान प्रमाण गम्य है। घटत्व-पटत्व-मठत्व आदि सामान्य प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य हैं। इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों में रहने वाले सामान्य अनुमान प्रमाण गम्य हैं। आत्मा-मन-परमाणु आदि में समवेत आत्मत्व मनस्त्व परमाणुत्व आदि सामान्य दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। अतः इन सामान्यों का अस्तित्व अनुमान के आधार पर ही सिद्ध होता है। सुख-दुःख आदि की आत्मनिष्ठ समवायिकारणता का अवच्छेदक होने से आत्मत्व जाति की सिद्धि होती है। इसका अनुमान प्रकार यह है कि—"आत्मनिष्ठसमवायिकारणता–किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नाकारणतात्वात्–घट निष्ठ कार्यतानिरूपितकपालनिष्ठकारणतावत्"

जैसे घटकार्य के प्रति कपाल कपालत्व रूप से कारण माना गया है (इसलिये कपाल में रहने वाली कारणता कपालत्व से अवच्छिन्ना होती है) उसी प्रकार सुख-दुःख आदि कार्यों के प्रति आत्मा आत्मत्व रूप से कारण होता है। अतः आत्मनिष्ठकारणता का भी किसी अन्यून एवं अनतिरिक्तवृत्ति धर्म से अवच्छिन्ना अवश्य ही मानना होगा। ऐसा धर्म यहाँ "आत्मत्व" है, वही आत्मा में रहने वाला आत्मत्व सामान्य है। उसी का नाम आत्मत्व जाति है। जिस प्रकार सुख-दुःख आदि की आत्मनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक आत्मत्व होता है, उसी प्रकार सुख-दुःख-ज्ञान आदि को (जो 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' 'अहं जानामि'

'अहं इच्छामि' इस) का कारण मन होता है। उस कारणता का अवच्छेदक 'मनस्त्व' है। वही मनस्त्व सामान्य मन में रहने वाली जाति मानी गयी है। इसी प्रकार 'परमाणुत्व' जाति के विषय में भी है। उसकी सिद्धि 'द्वयणुक' की समवायिकारणता (जो परमाणु में है उस कारणता) का अवच्छेदक 'परमाणुत्व' ही होगा वही मनस्त्व सामान्य जाति है।

नैयायिक सामान्य की उपलब्धि की अपेक्षा उसकी तर्क-सिद्ध सत्ता पर अधिक जोर देते हैं। उनका कहना है कि किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ के अस्तित्व या उसकी कारणता आदि का अपलाप कदापि नहीं किया जा सकता है जब वह तर्क सिद्ध हो। तर्कमूलम ही अनुमान भी होता है। अनुमिति का कारणीभूत व्याप्तिग्रह तर्कमूलक है--

'तर्कस्य व्याप्तिग्रहमूलकत्वेनानवस्था' तत्त्वचिन्तामणि--

इस प्रकार उदयनाचार्य के कथनानुसार कारणवाद तथा तर्कवाद इन दो वादों के आधार पर जातिवाद का सिद्धान्त अकाट्य बन जाता है। किसी भी वस्तु की जाति (अवच्छेदक) की अनुभूति व्यावहारिक होती है, इसका अस्वीकार करना तो अनुभव का अपलाप करना है। जयन्तभट्ट कहते हैं जातिविहीन व्यक्ति की उपलब्धि हमें नहीं होती है—

"यथा रूपाद्यसम्बद्धा न व्यक्तिरूपलभ्यते।
तथैव जात्ययुक्तेति का ते व्यसनसन्ततिः' न्यायमञ्जरी—प्र० भा० पृ० २८६

जाति तथा उपाधि—

जाति जैसे व्यक्ति का एक धर्म विशेष है उसी प्रकार उपाधि भी व्यक्ति में रहने वाला धर्म विशेष माना गया है। घट में रहने वाले घटत्व को जाति माना गया है। उसी घट में रहने वाले कम्बुग्रीवादिमत्त्व को जाति न मानकर उपाधि माना गया है। गौ में रहने वाले गोत्व को जाति माना गया है और उसी में रहने वाले सास्नादिमत्त्व को उपाधि माना गया है। जाति को नित्य तथा अनेक व्यक्तियों में समवेत माना गया है, उपाधि न तो नित्य ही है और न वह अनेक व्यक्तियों में समवेत ही है। उपाधि कहीं संयोग सम्बन्ध से रहती हैं, कहीं स्वरूप सम्बन्ध से। सामान्य जाति केवल द्रव्य-गुण-कर्म तीन ही में रहती है, अन्यत्र सर्वत्र उपाधि ही रहती है। सामान्य में सामान्यत्व विशेष में विशेषत्व-समवाय में समवायत्व और अभाव में अभावत्व ये सब उपाधियां हैं।

नैयायिक तथा वैशेषिकों के यहाँ सात पदार्थों में से प्रथम तीन में जाति और अवशिष्ट चार में उपाधि का अङ्गीकार किया गया है। उनको जाति न मानने के कारण वे जातिबाधक हैं। उदयनाचार्य ने जाति के बाधक छः तत्व बतलाये हैं—

(१) व्यक्ति का अभेद,
(२) तुल्यत्व,
(३) सांकर्य,
(४) अनवस्था,
(५) रूपहानि,
(६) असम्बन्ध,

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्करः ॥कि०

१—व्यक्ति का अभेद—'स्वाश्रनिष्ठस्वाश्रयप्रतियोगिक भेदाभावः व्यक्त्यभेदः' कि.

आकाश-काल-दिशा इन तीन द्रव्यों में रहने वाले क्रमशः आकाशत्व-कालत्व-दिक्त्व इन तीनों को उपाधि माना गया है न कि जाति। इनमें जातित्व का बाधक व्यक्ति का अभेद दोष विद्यमान है। आकाश-काल आदि एक एक व्यक्ति हैं। यदि आकाश-काल आदि नाना व्यक्ति घटादि के समान होते तो एक आकाश में दूसरे आकाश का भेद अवश्य ही रहता, जैसे एक घट में दूसरे घट का भेद रहता है। इससे आकाश उस भेद का प्रतियोगी हो बन जाता, और भेदाभाव रूप व्यक्ति का अभेद उसमें न आता। परन्तु आकाश एक है। अतः उस आकाश में उसी आकाश का भेद कैसे आ सकता है? तब भेदाभाव रूप व्यक्ति का अभेद ही उसमें आकाशत्व के जातित्व का बाधक हो जाता है। इसी प्रकार काल में कालत्व, और दिशा में दिक्त्व ये भी जातियाँ नहीं हैं। वहाँ भी व्यक्ति का अभेद ही बाधक है।

२—तुल्यत्व—परस्पर में विजातीय नानाघटों के विषय में 'अयं घटः' 'अयं घटः' यह प्रतीति अनुगतरूप से होती है। उसी प्रकार उन नाना घटों का अवगाहन करने वाली 'अयं कलशः' 'अयं कलशः' यह प्रतीति भी अनुगत रूप से होती है। इन अनुगत प्रतीतियों के आधार पर घटत्व और कलशत्व ये दोनों घटों के धर्म सिद्ध होते हैं। परन्तु दोनों को जाति रूप धर्म नहीं माना जा

सकता है, क्योंकि दोनों ही धर्म तो तुल्य हैं। अतः तुल्यत्व ही जाति का बाधक बन जाता है। प्रसिद्ध होने के नाते घटत्व ही को जाति मान लिया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि—'स्वभिन्न जातिसमनियतत्वं तुल्यत्वम्' विलसिनी–

यह तुल्यत्व कलशत्व के ही जातित्व का बाधक है न कि घट में घटत्व जाति का भी बाधक है। घटत्व को तो जाति सिद्धान्त में माना ही गया है।

३—सङ्करदोष—'परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः' = विलासिनी। परस्पर में अत्यन्ताभाव के साथ समान अधिकरण में रहने वाले दो धर्मों का एक अधिकरण में रहने का नाम साङ्कर्य दोष है। भूतत्व और मूर्त्तत्व पपस्रर में विरोधी भी है (आकाश और मन को लेकर) तथा पृथिवी-जल-तेज-वायु इन चार अधिकरणों में भूतत्व और मूर्त्तत्व ये दोनों रहते भी हैं।

व्यवहार में भी माता ब्राह्मणी और पिता क्षत्रिय हो, तो दोनों के संयोग जन्य रज और वीर्य से पैदा हुई सन्तान को 'वर्ण सङ्कर' कहा जाता है। इस सङ्करदोष के कारण शरीरत्व एवं इन्द्रियत्व आदि को भी जाति नहीं माना गया है।

'पृथिवीत्वंविहाय शरीरत्वं जलीयशरीरे,शरीरत्वं विहाय पृथिवीत्वं घटे, उभयोः समावेशो मानुषशरीरे इत्यर्थः' वि० अर्थात् पृथिवीत्व को छोड़कर शरीरत्व जलीय शरीर में है, और शरीरत्व को छोड़कर पृथिवीत्व घट-पट आदि पृथिवी में है। दोनों का एक अधिकरण मनुष्य शरीर में समावेश है। इसी प्रकार इन्द्रियत्व के जातित्व में सङ्करदोष ही बाधक है—'इन्द्रियत्वं न जातिः, पृथिवीत्वादिना सांकर्यात्' सि० मु० इन्द्रित्व को छोड़कर पृथिवीत्व घट-पट आदि पृथिवी में हैं। पृथिवीत्व को छोड़कर इन्द्रियत्व रसनेन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय आदि में है। इन्द्रियत्व एवं पृथिवीत्व दोनों का समावेश एक अधिकरण घ्राणेन्द्रिय में है। घ्राणेन्द्रिय में इंद्रियत्व भी है और पृथिवीत्व भी। अब प्रश्न यह होता है कि जब न तो शरीरत्व ही जाति है और न इन्द्रियत्व ही जाति है तो ये दोनों क्या हैं? शरीर को चेष्टा का आश्रय माना गया है। समस्त क्रियात्मक चेष्टायें शरीर में ही निष्पन्न होती हैं। और 'शब्देतरोद्भूत-विशेषगुणाना श्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वं इन्द्रियत्वम्' अर्थात् शब्द से इतर उद्भूत विशेष गुणों का अनाश्रय होता हुआ जो ज्ञान के कारण

आत्मा और मन के संयोग का आश्रय हो वही इन्द्रिय कहलाता है। आश्रयत्व इन्द्रियत्व रूप है।

४—अनवस्था—जाति को एक अनुगत प्रतीति = अनुवृत्त प्रत्यय का कारण माना गया है। सत्ताजाति समस्त सत्तावाले सत पदार्थों का अनुगमक है द्रव्यत्वजाति निखिलद्रव्यों का अनुगमक है। इसी प्रकार गुणत्व और कर्मत्व जातियाँ भी सकल गुण और कर्मों का अनुगमक हैं। ऐसे ही और भी अन्यान्य पृथिवीत्व जलत्व-घटत्व-पटत्व रूपत्व-रसत्व-उत्क्षेपणत्व-अपक्षेपणत्व आदि जातियाँ भी स्वयं अनुगत प्रतीति का कारण हैं। तब फिर जाति में जाति मानने की क्या आवश्यकता है? समस्त घटों में जैसे एक घटत्व जाति मानते हैं उसी प्रकार सकल घट और घटत्व इन अनुयोगि-प्रतियोगिभूत दोनों व्यक्तियों का एक रूप से बोध करने के लिये उनमें 'घटत्वत्व' एक जाति मान लेनी चाहिये एवं घट-घटत्व, में रहने वाली जो घटत्वत्व जाति इन दोनों अनुयोगि तथा प्रतियोगिभूत व्यक्तियों का एक रूप से बोध करने के लिये इन दोनों में एक और घटत्वत्वत्व जाति माननी चाहिये। इस प्रकार अनवस्था स्पष्ट है—'अप्रामाणिक अनन्तपदार्थ कल्पनाऽविश्रान्तिनवस्था' वि०

५. रूपहानि—परमाणु एवं आकाश आदि नित्यद्रव्यों में समवायसम्बन्ध से विशेष पदार्थ रहता है। उस विशेष में यदि विशेषत्व जाति मानी जाय तो रूप-हानि हो जायेगी। विशेष में विशेषत्वजाति मानने में रूपहानिबाधक है। विशेषों में विशेषत्व जाति मानलेने पर वही विशेषत्व जाति व्यावर्त्तक हो जायेगी तो षिशेष का स्वतोव्यावर्त्तकत्वरूप नहीं रह जायेगा। अतः विशेष के स्वतोव्यार्त्तकत्वरूपकी हानि न हो इसलिये विशेष में विशेषत्व जाति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

६. असम्बन्ध—असम्बन्ध भी जाति का बाधक होता है। समवाय में समवायत्व, और अभाव में अभावत्व को जाति मानने में यही प्रतिबन्धक है। "प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्यतरसम्बधेन समवायाऽभावोऽसम्बधन" सि. मु. दिन—

अर्थात् जो न तो स्वयं ही समवायसम्बन्ध से कहीं रहता हो और न उसमें कोई पदार्थ मसवाय से रहता हों उसी का नाम असम्बन्ध है। समवाय और अभाव ये दोनों न तो स्वयं ही कहीं समवायसम्बन्ध से रहते हैं और न इनमें कोई समवायसम्बन्ध से रहता है। अतः समवाय में समवायत्व और अभावत्व जाति नहीं मानी जासकती है।

सामान्य के भेद

सामान्य को जातिवादी दार्शनिकों ने तीन विभागों में विभक्त किया है— (१) व्याप्य, (२) व्यापक, (३) व्याप्यव्यापक ।

व्याप्यजाति—सब जातियों से न्यूनदेश में रहनेवाली जाति को व्याप्य जाति माना गया है। घटत्व-पटत्व-मठत्व आदि जातियां सब की अपेक्षा न्यून-देशवृत्ति होने के नाते व्याप्यजातियां मानी गयी हैं। इन्हीं जातियों को विश्वनाथपञ्चानन ने अपर शब्द से भी कहा है—"सामान्यं द्विविधंप्रोक्तंपरं चापरमेव च" भा. प. इसप्रकार व्यापकजाति को पर तथा व्याप्यजाति को अपर शब्द से व्यहृत होने के नाते पर अपर इस संज्ञा से संज्ञित भी किया जा सकता है। "व्याप्यव्यापक" जाति को परापर इसरूप से कहने में भी कोई हानि नहीं है। भाषापरिच्छेदकार ने जाति के केवल दो भेद किये हैं, परन्तु जगदीशतर्कालङ्कार ने मध्यवर्त्ती जाति का एक भेद और बढ़ा दिया "परापर"। रूप से।

व्यापकजाति—सब जातियों से अधिकदेश में रहने वाली जाति को व्यापक जाति अर्थात् पर जाति कहा गया है। "व्यापकत्वात् पराऽपि स्यात्" भा.प.

द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों पदार्थों में रहने के नाते सत्ताजाति को व्यापक अर्थात् पर जाति माना गया है। द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्व जातियां अपने-अपने द्रव्यात्मक-गुणात्मक एवंकर्मात्मक क्षेत्र में ही रहती हैं। अतः वे सब जातियां सीमित हैं। सत्ता जाति द्रव्य-गुण-कर्म इन तीनों में रहती है। अतः वह उस सीमा को पार कर चुकी है। इससे सत्ताजाति इतर जातियों की अपेक्षा व्यापक है, पर है, सबसे अधिकदेशवृत्ति है। यह सत्ताजाति किसी भी जाति का व्याप्य नहीं है। यह सत्ताजाति अपने द्रव्य-गुण-कर्म इन प्रदेशों के अतिरिक्त सामान्य-विशेष-समवायात्मक प्रदेश में भी रहती है। पूर्वतीन प्रदेशों में विशुद्धसमवाय-सम्बन्ध से रहती है, और बाद के तीन प्रदेशों में एकार्थसमवायसम्बन्ध से रहती है। केवल अभावात्मकप्रदेश ही इसका निवास स्थान नहीं है।

व्याप्यव्यापकजाजाति—द्रव्यत्व-गुणत्व,कर्मत्व, एवं पृथिवीत्व जलत्व-तेजस्त्व, तथा रूपत्व-रसत्व-गन्धत्व आदि जातियां व्याप्यव्यापक अर्थात् परापर शब्द से कही जाती हैं। ये सब जातियां सत्ता जाति की अपेक्षा न्यूनदेश में रहने के नाते व्याप्य अर्थात् अपर जातियां कहलाती हैं, परन्तु अपने से न्यूनदेश में रहने-

वाली घटत्व-पटत्व, एवं मधुरत्व-आम्लत्व-लवणत्व आदि जातियों की अपेक्षा अधिक देश में रहने के नाते व्यापक अर्थात् पर जातियां कहलती हैं। इसलिये ये जातियाँ मध्यवर्त्ती होने के नाते "परापर" अर्थात् "व्याप्यव्यापकजाति" की संज्ञा से संज्ञित होती है।

घटत्व-पटत्व-मठत्व, एवं मधुरत्व-आम्लत्व-लवणत्व तथा उत्क्षेपणत्व-आकुञ्चत्व आदि जातियां सब जातियों से न्यूनदेश में वृत्ति होने के नाते व्याप्य (अपर) हैं! इन जातियों से न्यूनदेश वृत्ति कोई भी जाति नहीं है और सत्ता-जाति की अपेक्षा कोई अधिकदेश वृत्ति नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जातियों के व्याप्यव्यापकभाव एवं परापर भाव का निश्चय है।

जाति के विषय में मीमांसक मत

न्याय-वैशेषिक के समान मीमांसक भी वस्तुवादी हैं। मीमांसकों में भी भाट्ट तथा प्रकार दोनों ही जाति की नित्यता स्वीकार करते हैं। प्रभाकर का मत प्रायः न्याय-वैशेषिक के समान ही है। केवल विरोध एकमात्र समवाय को लेकर ही है जिसके आधार पर जाति और व्यक्ति में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। भाट्ट तथा न्याय-वैशेषिक मत में भेद इतना ही है कि भाट्ट लोग समवाय नहीं मानते हैं और वे (जहाँ न्याय तथा वैशेषिक समवाय मानते हैं) जाति-व्यक्ति एवं गुण-गुणी आदि स्थलों में भेदाभेद के सिद्धान्त को मानते हैं। कुमारिलभट्ट के अनुसार सामान्य (जाति) आकृतिरूप है, अर्थात् जाति और आकृति दोनों एक ही हैं। जाति के द्वारा ही किसी व्यक्ति का स्वरूप अवगत हो सकता है—

"जातिरेवाऽऽकृतिं प्राह व्यक्तिर्विज्ञायते तया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धि निबन्धनम्" ।। श्लो. वा, ३

उनका कहना है कि प्रत्येक पदार्थ एवं व्यक्ति के अन्दर सामान्य तथा विशेष दोनो तत्त्व रहते हैं जिससे उस पदार्थ का जातिगत एवं व्यक्तिगत स्वरूप जाना जाता है। जाति तथा व्यक्ति परस्पर आश्रित हैं। जाति के बिना व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं और व्यक्ति के बिना जाति का कोई अस्तित्व नहीं हैं। जाति के अङ्गीकार के बिना अनुमान तथा शाब्दबोध भी अनुपपन्न हो जायेगा। व्यक्ति असंख्य तथा अनन्त हैं जाति का आधार लिये बिना कोई भी साहचर्य सम्बन्ध हेतु-साध्य का नहीं बन पायेगा।

कुमारिल के अनुसार सामान्य सारूप्य नहीं है। यदि सारूप्य का अर्थ कुछ अर्थों में साम्य तथा कुछ अर्थों में वैषम्य है तो सारूप्य में सामान्य निहित है। यदि सारूप्य का अर्थ नितान्त भेद है तो यह कदापि सामान्यप्रततीति का आधार नहीं बन सकता है। यह सामान्यप्रतीति समष्टिरूप नहीं है, जैसे वन इत्यादि। वन वृक्षों का समष्टिरूप है। परन्तु गौ केवल गोमात्र की समष्टि नहीं। वन का सभी वृक्षों के लिये अलग-अलग व्यवहार नहीं होता, किन्तु "अयंगौः" इसरूप से गौ का व्यवहार अवश्य ही होता है। वन की उपलब्धि वृक्ष की उपलब्धि से भिन्न नहीं है। किन्तु एकगौ तथा सभी गौओं की उपलब्धि में भेद है। सामान्य की उपलब्धि पर भी कुमारिल ने विचार किया है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ इस प्रकार के लक्षण हैं जिनके कारण वह किसी जाति में समाहित हो जाता है तथा अन्य जाति से भिन्न सिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ गौ में गल-कम्बल का होना उसे दूसरी जाति के जानवरों से भेद करता है। अतःगोजाति का ज्ञान गल-कम्बल पर आधारित है।

जातिव्यक्ति का सम्बन्ध—कुमारिल के विचार न्याय तथा वैशेषिक से कुछ अंश में समान हैं, और कुछ अंश में भिन्न है। कुमारिल ने जाति और व्यक्ति का सम्बन्ध आन्तरिक माना है, वाह्य नहीं। आन्तरिक का अर्थ है स्वाभाविक= स्वभावसिद्ध—

"स्वाभाविकश्च संम्बन्धोजाव्यित्त-यो र्हेतुमान्" श्लो०वा०

जाति और व्यक्ति का यह स्वाभाविक सम्बन्ध तादात्म्य है। गोत्व एकमात्र गल-कम्बलवान् जानवरों में ही है। इसलिये अभेद है। इस अभेद की उपलब्धि के साथ-साथ भेद-उपलब्धि भी होती है। कुमारिल भट्ट के अनुसार वाह्य विषयों की उपलब्धि में किसी पदार्थ का जाति और व्यक्ति लक्षण दोनों ही कारण हैं। व्यक्ति से जाति-लक्षण नहीं हटाया जा सकता, परन्तु व्यक्ति की उपलब्धि में जाति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्ध-मत में सामान्य—

बौद्ध दार्शनिक जाति को नहीं मानते हैं। क्षणिकवादी बौद्ध पदार्थ की सत्ता क्षणिक मानते हैं—सर्वं क्षणिकम् सर्वं शून्यम्। अतः वे नैयायिकों का नित्य और अनेक-समवेत सामान्य नहीं स्वीकाार करते हैं। जब सब कुछ क्षणिक है तो जाति (सामान्य) भी क्षणिक है, नित्य नहीं है। बौद्धों के अनुसार सामान्य

केवल नाम-मात्र है, जाति केवल संज्ञा है। अतः बौद्ध-विचार के अनुसार सामान्य संज्ञा मात्र (nominalism) है। बौद्ध-दार्शनिक अनुवृत्ति-प्रत्यय या एकाकार-प्रतीति (सामान्य) के स्थान पर 'अपोह' मानते हैं। 'अपोह' का लक्षण 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। अनेकों घटो में जो अयं घटः, इत्याकारक अनुगत-प्रतीति होती है, उसका कारण है उनका 'अघटव्यावृत' या घट-भिन्न जगत् से भिन्न होना। अतः घटभिन्नभिन्नत्व समस्त घटों का अनुगमक धर्म है। पटभिन्नभिन्नत्व समस्त पटों का अनुगमक धर्म है। अतः सामान्य के स्थान पर अपोह को स्वीकार किया गया है। सामान्य तथा अपोह में अन्तर भी स्पष्टतः प्रतीत होता है। वैशेषिकों का सामान्य भावभूत नित्य पदार्थ है, परन्तु बौद्ध दार्शनिकों का अपोह 'अन्योन्याभावरूप' है। वैशेषिक का अन्योन्याभाव (अभाव का एक रूप) वौद्धों के यहाँ अपोह है जो एकाकार प्रतीति का कारण है। अतः सामान्य वास्तविक नहीं काल्पनिक है, संज्ञा मात्र हैं। विभिन्न गौ व्यक्तियों में उपलब्ध सामान्य अगोव्यावृत्तिरूप से हैं। अतः सभी गायों में गोत्व (सामान्य) का व्यवहार 'अतत् कार्य कारण व्यावृत्ति से होता है। जाति कल्पनाप्रसूत है, वाह्य सत् पदार्थ नहीं।

जैन-मत में सामान्य—

जैन-मत में भी सामान्य या जाति की सत्ता को स्वीकार किया गया है। जैनदार्शनिक बौद्धों की तरह सामान्य को नाम मात्र ही नही मानते। जैनों के अनुसार सामान्य अनुगत-प्रतीति का कारण है। सामान्य या जाति किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में पाया जाने वाला धर्म है, परन्तु वैशेषिक के सामान्य के समान जैनों का सामान्य व्यक्ति से भिन्न नहीं। तात्पर्य यह है कि जैन लोग व्यक्तियों में अनुस्यूत नित्य सामान्य को स्वीकार नहीं करते। जैन दार्शनिकों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष दोनों धर्म पाये जाते है, अतः प्रत्येक पदार्थ अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्त-प्रत्यय का विषय है। विभिन्न व्यक्तियों में एकाकार प्रतीति सादृश्यास्तित्व के आधार पर ही होता है। यह सादृश्यास्तित्व ही उनके यहां सादृश्यसामान्य या तिर्यक-सामान्य कहलाता है। सादृश्यास्तित्व वर्ग के व्यक्तियों से भिन्न नहीं। जैन दार्शनिकों का मत वैशेषिक तथा बौद्ध दोनों से भिन्न है। यह केवल नाम नहीं, तथा नित्य भी नही वरन् पदार्थ का एक धर्म है जो प्रत्यायात्मक (Conceptual) है।

वैशेषिक मत की समालोचना—

वैशेषिक का सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त वस्तुवादी (Realistic) कहलाता है। सामान्य नित्य विभिन्न व्यक्तियों में अनुस्यूत भावभूत पदार्थ हैं—नित्यत्वेसत्यनेकसमवेतत्वम्। ये सामान्य व्यक्ति की उपलब्धि में कारण है। गोत्व सामान्य के बिना गो व्यक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता। अतीन्द्रिय विषयों में रहनेवाला सामान्य अतीन्द्रिय है—अतीन्द्रियवृत्तीनियतीन्द्रियाणि। प्रत्यक्ष योग्य विषयों में अनुस्यूत सामान्य-प्रत्यक्षवृत्तीनि—का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा (अधिष्ठान-ज्ञान से) होता है। घटत्व, वृक्षत्व, मनुष्यत्व आदि सभी सामान्य हैं जो घट, वृक्ष, मनुष्य आदि में विद्यमान हैं। जब हमें घट आदि की उपलब्धि होती है तो घटत्व सामान्य की भी उसी के साथ उपलब्धि होती है। इस घटत्व सामान्य की उपलब्धि संयुक्त समवाय सन्निकर्ष से होती है। घटत्व और घट में समवाय सम्बन्ध है तथा घट और चक्षु का संयोग सम्बन्ध है। इसी प्रकार गुण, कर्म आदि के सामान्यों की उपलब्धि संयुक्तसमवेत समवाय से होती है। जब हमें चन्दन के सौरभ का ज्ञान होता है तो साथ-साथ सौरभत्व सामान्य का भी भान होता है।

संक्षेप में न्याय वैशेषिक के अनुसार गोत्व जाति के कारण ही गो व्यक्ति की उपलब्धि होती है। परन्तु घट-पट आदि में घटत्व-पटत्व आदि जातियाँ कहाँ से आईं? क्या उसी समय उत्पन्न हुईं? क्या अन्यत्र कहीं से आईं? क्या पहले से ही विद्यमान थीं? यदि कहा जाय कि उत्पन्न हुईं तो यह कहना सर्वथा गलत है। जाति को जातिवादियों (नैयायिकों) ने नित्य माना है। नित्य की उत्पत्ति होना सर्वथा असंभव है। उत्पत्तिपक्ष में एक यह भी प्रश्न हो सकता है कि जाति यदि उत्पन्न होती है तो क्या घट-पट आदि व्यक्तियों के उत्पन्न होने के साथ-साथ ही उत्पन्न होती है, अथवा व्यक्ति के उत्पन्न होने के पश्चात् जाति उत्पन्न होती है? जाति को नैयायिकों ने नित्य माना है। इसलिये नित्यपक्ष में उत्पत्ति पक्षीय प्रश्न ही सर्वथा निराधार हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि इस उत्पन्न होने वाले घट में घटत्वजाति किसी दूसरे घट से आयी है तो भी असंगति है। जाति के विषय में आने-जाने का प्रश्न ही सर्वथा असंगत है, क्योंकि क्रियामात्र का आधार द्रव्य ही होता है। यदि यह कहा जाय कि घट में घटत्व जाति घट उत्पन्न होने के पूर्वकाल से ही है तो यह भी उचित नहीं प्रतीत होता। घट-पट आदि व्यक्ति ही जब तक

उत्पन्न नहीं हुए हैं तब तक घटत्व-पटत्व आदि जातियाँ किसमें रहेंगी ? उन जातियों का आधार क्या है ? इसलिये घट-पट आदि व्यक्तियों की उत्पत्ति के पूर्व में घटत्व-पटत्व आदि जातियों की विद्यमानता उनमें असंभवदोषग्रस्त है।

न याति न च तत्रासीत् नचोत्पन्नं न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारम् अहो व्यसनसन्ततिः ।। उपस्कार—

दूसरी बात यह भी है कि घट-पट आदि व्यक्ति अनित्य होने से जब नष्ट हो गये तब घटत्व-पटत्व जातियाँ कहाँ चली गई ? जाति में गमनागमन आदि क्रियायें सर्वथा असंभव हैं।

सामान्य के विषय में पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य दर्शन में हमें सामान्य या जाति सम्बन्धी तीन प्रकार के सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं—प्लेटो का मत, ओकम का मत तथा अरस्तू का मत। प्लेटो का मत—प्लेटो सामान्य की सत्ता वास्तविक मानते हैं। अतः उनका मत वस्तुवादी (Realism) कहलाता है। प्लेटो के अनुसार सामान्य विज्ञान (Gdea) है जिसकी सत्ता स्वतंत्र है। विज्ञान वस्तुओं का सार-स्वरूप है। उदाहरणार्थ-सौन्दर्य विज्ञान सामान्य है जो सुन्दर वस्तुओं से भिन्न है। गुलाब का फूल, चाँदनी रात, प्राकृतिक दृश्य, रमणी का मुख इत्यादि सभी सुन्दर वस्तुए हैं। ये सभी सौन्दर्य विज्ञान की अभिव्यक्ति हैं अर्थात् सभी सुन्दर वस्तुओं में सौन्दर्य विज्ञान है। यह सौन्दर्य विज्ञान सामान्य, जाति या वर्गगत सिद्धान्त (Class Concept) है। सामान्य या विज्ञान अतीन्द्रिय लोक में रहते हैं। सामान्य का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता।

प्लेटो के अनुसार सामान्य वर्गगत धारणा है। परन्तु यह व्यक्तिगत मानसिक धारणा नहीं। इसकी सत्ता वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। ये सामान्य किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में पाये जाने वाले सामान्य तथा सार गुण हैं। उपर्युक्त सभी सुन्दर वस्तुओं में सौन्दर्य सामान्य तथा सार गुण है। इस सौन्दर्य विज्ञान का निर्माण विभिन्न सुन्दर वस्तुओं के साम्य-ग्रहण एवं वैषम्य-त्याग से होता है।[1] प्लेटो के अनुसार ये सामान्य द्रव्य (snbstance) हैं क्योंकि इनकी सत्ता स्वतन्त्र निरपेक्ष है। ये सामान्य व्यक्ति नहीं जाती हैं।

1. Acritical history of greek philosophy by. w, T. stace. p. 186.

अश्व व्यक्तिविशेष है परन्तु अश्वत्व सभी अश्वों में सामान्य जाति है। ये सामान्य वस्तु नहीं, विचार हैं। अश्वत्व नामक कोई भी वस्तु नहीं। परन्तु विचार कहने से प्लेटो का तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष या ईश्वर का भी विचार नहीं। विचार का जगत व्यक्ति संसार से भिन्न है। विचार (विज्ञान) अतीन्द्रिय लोक में निवास करते हैं। सामान्य सामञ्जस्य का सिद्धान्त है। सामञ्जस्य विभिन्न व्यक्तियों में साम्य है। मनुष्यत्व अनेक मनुष्यों में साम्य धर्म है। सामान्य नित्य अपरिणामी हैं। व्यक्ति मरता है, जीता है, उपचय अपचय को प्राप्त होता है, परन्तु सामान्य (मनुष्यत्व) वृद्धि, ह्रास से परे नित्य हैं। वृद्धि और ह्रास, जन्म और मरण तो व्यक्ति का होता है, जाति का नहीं। ये सामान्य सार-स्वरूप (essence) हैं। मनुष्यत्व मनुष्य मात्र का सार है। यह सार ही मनुष्य की परिभाषा है।

सामान्य और विशेष जाति और व्यक्ति में प्लेटो के अनुसार मूलतः द्वैत है। जाति नित्य, शाश्वत, अपरिणामी है। व्यक्ति अनित्य, परिवर्तनशील, असत् है। इस प्रकार प्लेटो सामान्य जगत् को नित्य जगत् स्वीकार करते हैं। यह नित्य जगत् अतीन्द्रिय है अर्थात् सामान्य का संसार मानव ज्ञान के परे है। वस्तु विशेष की व्याख्या सामान्य के अधीन है। व्यक्ति की सत्ता जाति-निर्भर है अर्थात् जाति की सत्ता ही व्यक्ति के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। वस्तु विज्ञान की प्रतिलिपि, मात्र है। विज्ञान से साम्य तथा वैषम्य ही वस्तु के सद् असद् स्वरूप का परिचायक है। सामान्यतः इन्द्रिय जगत् (वस्तु जगत्) अतीन्द्रिय जगत् (विज्ञान जगत्) की प्रतिलिपि, प्रतिच्छाया मात्र है। सौन्दर्य विज्ञान, सत् है, सुन्दर वस्तु उसकी प्रतिलिपि है। संक्षेप में प्लेटो के अनुसार सामान्य (विज्ञान) विश्वव्यापी एवं विश्वातीत दोनों है। विश्वव्यापी है क्योंकि इन्द्रिय जगत् में स्थित है। विश्वातीत है क्योंकि सामान्य का संसार अतीन्द्रिय है, जो इन्द्रिय जगत् से सर्वथा भिन्न है। मनुष्यत्व सामान्य है जो नित्य, निरपेक्ष, कालातीत अपरिणामी है। जन्म और मरण, उपचय और अपचय तो विशेष (मनुष्य) का होता है[1]!

विलियम ओकम (william occam) का मत-ओकम का सिद्धान्त प्लेटो के बिल्कुल विपरीत है। प्लेटो के अनुसार सामान्य सत् तथा निरपेक्ष है।

1. Acritical history of greek philosophy by W. T. stace. p. 194.

विशेष असत् तथा सामान्य-सापेक्ष है। विशेष की उपलब्धि सामान्य के माध्यम से होती हैं। मनुष्यत्व (सामान्य) मनुष्य (विशेष) की उपलब्धि में कारण है। इसके विपरीत ओकम के अनुसार विशेष ही सत् है। हमारा ज्ञान वस्तु-विशेष से ही प्रारम्भ होता है। सामान्य तो केवल एक बौद्धिक धारणा या कल्पना मात्र है। हमें इन्द्रियों के द्वारा सर्वदा वस्तु विशेष की ही उपलब्धि होती है। हम किसी वर्ग के विभिन्न वस्तुओं का अवलोकन करते हैं तथा वर्ग के सभी सदस्यों से उनके सामान्य एवं सार गुणों को पृथक् करते हैं। इन साम्य गुणों के आधार पर ही सामान्य का निर्माण करते हैं। अतः ये सामान्य केवल कल्पना प्रसूत है। इनका अस्तित्व बौद्धिक है, वास्तविक नहीं। बुद्धि से पृथक् इनका अस्तित्व हमें उपलब्ध नहीं होता। बुद्धि में सामान्य धारणाओं की शक्ति स्वाभाविक है। हम दो वस्तुओं में कुछ साम्य देखते हैं तथा सहज रूप से हम साम्य को वस्तु से पृथक कर लेते हैं। पुनः इस साम्य को कोई परम्परागत नाम दे देते हैं। अतः सामान्य केवल काल्पनिक नाम-मात्र है। ओकम के सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त को संज्ञात्मक (nominalistic) मत कह सकते हैं। सामान्य के विघटन के लिये ओकम की कर्त्तरिका (Occam's Razor) विख्यात है। ओकम के अनुसार सामान्य केवल संज्ञा मात्र है। इनके अनुसार व्यक्ति सत् है जाति काल्पनिक है तथा जाति की उपलब्धि व्यक्ति सापेक्ष है।[1]

अरस्तू का मत—प्लेटो के वस्तुवाद एवं ओकम के संज्ञावाद दोनों के बीच अरस्तू का मध्यममार्गी वस्तुवाद (Aristotelian Realism) है। अपने आकार तथा वस्तु के विश्लेषण में अरस्तू इस मत का प्रतिपादन करते हैं। यद्यपि अरस्तू का दर्शन प्लेटो के ही पश्चात् है तथा ओकम से पूर्व है परन्तु सामान्य सम्बन्धी अरस्तू का मत प्लेटो तथा ओकम का समन्वय है। अतः उनका मत विशिष्ट है जो न पूर्णतः वस्तुवादी है और न पूर्णतः संज्ञावादी ही। यदि ये दोनों वाद सामान्य सम्बन्धी दो अन्त हैं तो अरस्तू का विचार माध्यमिक कहा जा सकता है। अरस्तू प्लेटो के वस्तुवादी सानान्य में निम्न-लिखित दोष देते हैं।[2]

1, A short History of philosophy by F. Thiily.p,248

2. Greek phil. W. T. stace. p. 263-64.

(क) प्लेटो के सामान्य से विशेष (वस्तु) की व्याख्या नहीं हो पाती। श्वेत-सामान्य से श्वेत-वस्तु की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका समुचित उत्तर प्लेटो के दर्शन में नहीं प्राप्त होता।

(ख) सामान्य तथा विशेष का सम्बन्ध प्लेटो के दर्शन में स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं है। प्लेटो के अनुसार विशेष सामान्य की प्रतिलिपि मात्र है। परन्तु यह उक्ति मात्र है, इससे वस्तु निर्देश नहीं होता।

(ग) किसी वस्तु विशेष की उत्पत्ति के लिये गति की आवश्यकता है। प्लेटो के सामान्य स्थावर सामान्य हैं, उनसे जंगम वस्तु की उत्पत्ति कैसे? सौन्दर्य-विज्ञान सुन्दर वस्तुओं का कारण माना गया है। परन्तु इस कारण से कार्य की उत्पत्ति होती कैसे है? सौन्दर्य विज्ञान तो अचल गति शून्य है।

(घ) प्लेटो दृश्य जगत की व्याख्या के लिये अदृश्य जगत् की कल्पना करते हैं। परन्तु इससे केवल व्याख्या की भार दुगुनी हो जाती है। दृश्य की व्याख्या हो नहीं पाती और अदृश्य तो अव्याख्येय है ही। इन्द्रिय जगत की व्याख्या अतीन्द्रिय सिद्धान्त से सम्भव नहीं। वास्तव में अश्व (वस्तु) तथा अश्वत्व (सामान्य) में व्यक्ति और जाति, व्यावृत्ति और अनुवृत्ति में विभेदक गुण की उपलब्धि नहीं होती।

(ङ) प्लेटो का सामान्य विशेषों का सार स्वरूप है, परन्तु प्लेटो सार को वस्तु से पृथक कर देते है। यह भयङ्कर भूल है। जाति और व्यक्ति पृथक नहीं किये जा सकते। अश्वत्व अश्व से भिन्न वस्तु नहीं।

अरस्तू के सामान्य सम्बन्धी सिद्धान्त का आधार स्तम्भ यही है। अरस्तू सामान्य की सत्ता तो मानते हैं परन्तु निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष रूप से। सामान्य की उपलब्धि हमें विशेषों में ही होती है। जाति की सत्ता है, परन्तु व्यक्ति से भिन्न नहीं। मनुष्यत्व मनुष्य में ही रहता है। प्लेटो ने सामान्य को विशेष का कारण माना, ओकम ने विशेष को सामान्य का कारण माना। अरस्तू के अनुसार दोनों सापेक्ष हैं। संक्षेप में सामान्य (जाति) का निर्माण किसी वर्ग के सभी व्यक्तियों के सार गुणों पर ही होता है, परन्तु ये सार गुण (सामान्य) व्यक्ति में ही रहते है अर्थात् सामान्य की सत्ता विशेष में अन्तर्भूत है। जाति व्यक्ति निष्ठ है। यही अरस्तू का वस्तुवाद है।

—: * :—

सप्तम अध्याय

विशेष पदार्थ विचार

पदार्थों के विभाजन के अनुसार विशेष पाँचवाँ पदार्थ माना गया है। यह विशेष पदार्थ वैशेषिक संप्रदाय की एक देन है। इस संप्रदाय से अतिरिक्त संप्रदाय-वालों ने विशेष का सर्वथा अनङ्गीकार कर दिया है।

विशेष का लक्षण है—"निःसामान्यत्वे सति सामान्यभिन्नत्वे सति समवेतत्वं विशेषत्वम्" मु. वि.

अर्थात् सामान्य (जातिवाला) न हो, सामान्य स्वरूप भी न हो और समवेत अवश्य हो उसे विशेष कहते हैं। इसी का समर्थन तार्किकरक्षा में भी किया गया है—

"जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिः"। "तथाचोक्तम्-अजातिरेकवृत्तिश्च विशेष इति शिष्यते" ता. र.

अर्थात् जो जाति से रहित हो और परमाणु एवं आकाश आदि नित्यद्रव्य-मात्र में समवायसम्बन्ध से रहने वाला हो उसे विशेष कहते है। परमाणु एवं आकाशप्रभृति द्रव्यों में विशेष रहता है। इसीलिए विशेष को स्थान २ पर 'अन्त्य' शब्द से कहा है—

"अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्ति विशेषः" भा. प.

"अन्ते अवसाने वर्तत इत्यन्त्यः" सि.मु.

अर्थात् सबके अन्त में रहने वाले परमाणु आदि निरवयवःद्रव्यों में रहनेवाले पदार्थ को विशेष कहते हैं।

"अंतेषु भवा अंत्याः, स्वाश्रयविशेषकत्वाद् विशेषाः" प्रशस्त०

अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश के अन्त स्वरूप परमाणुओं में रहने वाला हो और आकाश आदि नित्यद्रव्यों में रहता हो उसे विशेष कहते हैं। प्रत्येक परमाणु में एक विशेष रहता है। अनन्त परमाणुओं में अनंतविशेष रहते हैं। असंख्यपरमाणुस्वरूप मन में असंख्य ही विशेष रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह

कि एक परमाणु में अथवा एक मन में या एक आकाशरूप नित्यद्रव्य में एक-एक विशेष पदार्थ को ही मानना उचित है। विशेष के आश्रय-भूत द्रव्य (परमाणु-आदि) में एक ही विशेष के स्वीकार कर लेने से उसी विशेष के आधार पर दूसरे सभी पदार्थों की भेदबुद्धि उत्पन्न हो जायेगी—

"अयं परमाणुः परमाण्वन्तरादिभिन्नः विशेषात्" सि.मु.

इस अनुमान से एक परमाणु का दूसरे परमाणु से भेद सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि दोनों परमाणुओं में विशेष अलग-अलग हैं। इसलिये विशेषरूप हेतु के द्वारा भेद सिद्ध होना निर्विवाद है। फिर किसलिये एक परमाणु आदि नित्यद्रव्य में नाना विशेषों का अस्तित्व स्वीकार किया जाय ? इसके अतरिक्त एक बात यह भी है कि साधारण पुरुषों को समस्त गो व्यक्तियों में समान आकृति और स्वरूप के कारण गौवों से भिन्न घोड़े आदि सम्पूर्ण पदार्थों में भेदबुद्धि होती है। उसी गौ में शुक्लरूप के कारण भी भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। कभी शीघ्र चलनात्मक क्रिया के आधार पर भी उसी गौ में भेदबुद्धि उत्पन्न होती है। यह वृहत् ककुद् वाली गौ है, ऐसा भी लोकव्यवहार देखने में आता हैं। अतः कभी-कभी ककुद्रूप अवयव के कारण भी भेदप्रतीति हुआ करती है। यह महाघंट वाला हाथीरूप पशु है—इस प्रतीति के आधार पर ही घंटे के संयोग के कारण भेदावगाहिनी बुद्धि हुआ करती है। इसी प्रकार हम लोगों की अपेक्षा विशेष शक्ति रखनेवाले प्रत्यक्षदर्शी योगी एवं सन्त महात्माओं को अत्यन्त दिव्यदृष्टि स्वरूप वैशिष्ट्य के कारण तुल्य आकृति एवं तुल्य ही गुण और क्रियावाले परमाणु प्रभृति द्रव्यों में परस्पर में भेद बुद्धि उत्पन्न होती है। योगी लोगों की उन भेद-बुद्धियों का कारण कोई और नहीं उपलब्ध होता है, क्योंकि परमाणु प्रभृति द्रव्य समान आकृति तथा समान ही गुण-क्रिया वाले हैं। अतः विना विशेष के वहाँ भेदोपलब्धि होना सर्वथा असंभव है। इसलिये उनमें भेद बुद्धि की उत्पत्ति के कारणीभूत विशेष ही हैं। इसी प्रकार घट-पट आदि में जैसे "सोऽयं घटः" "सोऽयं पटः" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होती है और उस समय उसी प्रत्यभिज्ञा से वे ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और कालों में रहनेवाले परमाणुओं में भी "ये वे ही परमाणु हैं" इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा योगियों को जिन कारणों से होती है वे ही कारण विशेष हैं। इसलिये यही कारण है कि परमाणुओं में भी भेद बुद्धि विशेष के सम्बन्ध से ही होती है। इसीलिये विशेष को भेदक माना गया—

"घटादीनां द्वयणुकपर्यन्तानां तत्तदवयवभेदात् परस्परं भेदः सिद्धयति। परमाणूनां परस्परं भेदको विशेष एव। स तु स्वत एव व्यावृत्तः तेन तत्र विशेषान्तरापेक्षा नास्ति इति भावः" न्या. सि. मु.

अर्थात् घट-पट आदि द्वयणुकपर्यंन्त पदार्थों का तो अपने-अपने अवयवों का भेद प्रयुक्त भेद हो ही जायेगा फिर परमाणुओं का भेदक कौन बनेगा ? इसका उत्तर दिया गया कि इन परमाणुओं का पारस्परिक भेद करने वाला ही विशेष पदार्थ माना गया है।

विशेष की आवश्यकता—कुछ लोग यहाँ यह शंका उपस्थित करते हैं कि जब परमाणुवृत्ति विशेष पदार्थ को परमाणुओं का भेदक माना जा रहा है तो परमाणुओं को ही परस्पर में स्वतः भिन्न क्यों न मान लिया जाय ? पुनः क्या आवश्यकता है परमाणु प्रभृति नित्यद्रव्य वृत्ति विशेष को भेदक के रूप में स्वीकार करने को ? ऐसी परिस्थिति में तो विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ अथवा अतिरिक्त पदार्थ मानने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है ? परमाणुओं का अङ्गीकार तो किसी न किसी रूप में सबको ही करना पड़ता[1] है। जगत् की उत्पत्ति ही इन परमाणुओं से है, तो इन्हीं को स्वलक्षण अर्थात् स्वयंभिन्न मान लेना उचित प्रतीत होता है।

इसका समाधान यही किया गया कि किसी भी घट-पट आदि धर्मी को हम स्वलक्षण अर्थात् स्वयंभिन्न नहीं पाते हैं। "घटः पटाद् भिन्नः घटत्वजातिमत्वात्" इस अनुमान प्रयोग के आधार पर हम घट में रहनेवाली घटत्वजाति के द्वारा ही घट को पट आदि धर्मियों से भिन्न समझ सकते हैं। इसी प्रकार परमाणु भी धर्मी है इसलिये वह स्वयं अपना भेदक न होकर अपने में रहने वाले धर्म को ही अपना भेदक बना सकता है। अतः वही परमाणुओं का परस्पर में भेदक विशेष पदार्थ माना गया है—

"विनाशारम्भरहितेषु नित्येषु अण्वाकाशकालदिगात्ममनःसु प्रतिद्रव्यमेकैकशो वर्तमाना अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धि हेतवः" प्रशस्तपाद भाष्य

अर्थात् सभी प्रकार के परमाणु-आकाश-काल-दिशा आत्मा तथा मन ये समस्त द्रव्य नित्य होने के नाते उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं। इसलिये इन सबों में विशेष नामक एक स्वतन्त्र पदार्थ का अङ्गीकार सर्वथा आवश्यक है।

१. (परमाणुओं को परमाणुरूप में या पञ्चतन्मात्रा के रूप में)

अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धि का कारणीभूत और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं। मुक्त आत्माओं में सर्वदा साम्य रहते हुए भी चैत्रशरीरावच्छिन्न आत्मा मैत्रशरीरावच्छिन्न आत्मा से सर्वथा भिन्न है, इस प्रकार की व्यावृत्त बुद्धि का कारण भी एकमात्र यही विशेष है। इस विशेष में इतनी विशेषता है कि यह स्वयं परमाणु-प्रभृति नित्यद्रव्यों का व्यावर्त्तक होता हुआ अपना व्यावर्त्तक है। दूसरे परमाणु में रहने वाले विशेष से इस परमाणु में रहने वाले विशेष से इस परमाणु में रहने वाले विशेष की भेदसिद्धि के लिये विशेष में विशेषान्तर की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा वहाँ अनवस्था का प्रसङ्ग आ पड़ता है। इसीलिये विशेष को स्वतोव्यावृत्त माना गया है।

वास्तव में यह न्याय वैशेषिक दर्शन भेद सिद्धान्तमार्गानुयायी है। इसके अनुसार सभी पदार्थों के अन्दर भेद का अङ्गीकार सर्वथा आवश्यक हो जाता है। इन अपरिदृश्यमान पदार्थों का भेद भी किसी कारण विशेष को लेकर ही सम्पन्न हो सकता है, वही कारणविशेष 'विशेष' पदार्थ है।

अष्टम् अध्याय

समवाय विचार

दो पदार्थों का सम्बन्ध नैयायिक तथा वैशेषिकों के यहाँ कहीं संयोग माना गया है, कहीं तादात्म्य (अभेद) माना गया है, कहीं स्वरूप माना गया है। "घटवद् भूतलम्" इत्यादि प्रत्यक्षस्थल में वह संयोग चक्षु आदि प्रत्यक्ष प्रमाण गम्य होता है। "पर्वतो वन्हिमान्" इत्यादि अनुमितिस्थल में उसी संयोग को परामर्शगम्य माना गया है। नीलोघटः इत्यादि शाब्दबोधस्थल में नील और घटात्मक पदार्थ द्वय के सम्वन्ध को (तादात्म्य) आकाङ्क्षाभास्य माना गया है। "घटाभाववद्भूतलम्" में घटाभाव एवं भूतल इन दोनों पदार्थों का सम्बन्ध स्वरूप माना गया है। इसी प्रकार पदार्थ और पदार्थतावच्छेदक का सम्बन्ध "समवाय" माना गया है। उदाहरणार्थ 'घ:ट' यहाँ पर घटरूप पदार्थ और घटत्वरूप पदार्थतावच्केदक इन दोनों का सम्बन्ध "समवाय" माना गया है। समवायसम्बन्ध स्वयं अप्रत्यक्षरूप होने के नाते अनुमानप्रमाणगम्य है—

"गुणक्रियादिविशिष्ट बुद्धिः विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध विषयाविशिष्टबुद्धित्वात् दण्डोपुरुषः इति विशिष्टबुद्धिवत्" सि० मु० पृ. ६६

अर्थात् 'रूपवान् घटः' 'क्रियावान् घटः' इत्यादि रूप से सम्पन्न होने वाली विशिष्टबुद्धि विशेषण (जो रूप तथा कर्म हैं) और विशेष्य (जो घट है) इन दोनों के सम्बन्ध को बतलाती है। इस विशिष्टबुद्धि में बतलाया जाने वाला वह सम्बन्ध समवाय है। गुण-क्रियादि-विशिष्ट बुद्धिस्थल में गुण और द्रव्य का, क्रिया और द्रव्य का संयोग आदि समस्त सम्बन्ध बाधित हैं। अतः पारिशेष्यात् समवाय सम्बन्ध ही रह जाता है। यही समवाय सम्बन्ध गुण क्रियादि विशिष्ट बुद्धि का नियामक माना गया है। बिना इस समवायसम्बन्ध के गुण-क्रिया आदि से विशिष्ट द्रव्य की बुद्धि हो नहीं सकती। जाति और व्यक्ति, अवयव और अवयवी, नित्य द्रव्य और विशेष इनकी विशिष्टबुद्धि का नियामक इसी समवाय-सम्बन्ध को माना गया है। कहा भी है श्री विश्वनाथपञ्चानन ने—

> घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणोः।
> तेषु जातेश्च सम्बन्धः समवायः प्रकीर्त्तितः॥ भा० प०,११.

'अवयव-अवयविनो र्जातिव्यक्त्यो गुंरा गुणिनोः, क्रियाक्रियवतोर्नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः' सि० मु० ६५

अर्थात् अवयव-अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया एवं क्रियावान्, नित्यद्रव्य और विशेष, इनके आधार पर होनेवाली विशिष्टबुद्धि का नियामक समवाय सम्बन्ध माना गया है जो सम्बन्ध नित्य है—'नित्यसम्बन्धत्वं समवायत्वम् सि० मु० ६६.

इसकी नित्यता का प्रमाण यही है कि यह समवाय-सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध पदार्थों का होता है। युतसिद्ध दो पदार्थों के होने वाले संयोग आदि सम्बन्धों को अनित्य माना जाता है—

'तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, अन्ययोस्तु संयोग एव' त० भा० २३८

संयोग अनित्य है, क्योंकि संयोग का विभाग से नाश हो जाता है। 'संयोग-नाशको गुणो विभागः' अर्थात् विभाग उस गुण को कहते हैं जो संयोग का नाशक है। इससे संयोग की अनित्यता ध्रुव है।

महर्षिप्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में 'समवाय' की परिभाषा इस प्रकार की है—

'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः'

अर्थात् आश्रय और आश्रयी (आश्रित) भाव सम्पन्न दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है, और वह समवाय 'इह' इस प्रतीति का कारण होता है। 'इह' इस प्रतीति का अभिप्राय यह है कि—

'इह तन्तुषु पट' 'इह बीरणेषु कटः' 'इह द्रव्ये गुणकर्मणी' 'इह द्रव्य-गुण-कर्मसु सत्ता' 'इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्' 'इह गुणे गुणत्वम्' इह कर्मणि कर्मत्वम्' 'इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषाः' इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते' प्र०भा०७७५

अर्था इन तन्तुओं में पट रहता है, इन तृण विशेषों के अन्दर चटाई है, इस द्रव्य में गुण और कर्म रहते हैं, और उन द्रव्य-गुण-कर्म में सत्ताजाति रहती है, एवं द्रव्य में द्रव्यत्व, गुण में गुणत्व, कर्म में कर्मत्व, तथा नित्य द्रव्य में विशेष रहते हैं, इस प्रकार की प्रतीतियों के देखने से स्पष्ट सिद्ध है कि इन आश्रय और आश्रयीभूत दो पदार्थों का कोई सम्बन्ध (समवाय) अवश्य है। ये पूर्व कथित प्रतीतियां संयोग सम्बन्ध के आधार पर उपपन्न क्या कर दी जा सकती हैं? यह सर्वथा असम्भव है, कारण कि उन प्रतीतियों में विशेषण एवं

विशेष्य रूप से भासमान होने वाले प्रतियोगी तथा अनुयोगी अयुत सिद्ध दो पदार्थों में ही होता है। अयुतसिद्ध दो पदार्थों का संयोग ही मान लिया जाय ? यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि संयोग कर्म से तो उत्पन्न होता है और विभाग से नाश्य होता है। कहीं संयोग से भी संयोग उत्पन्न होता है। परन्तु समवाय में ऐसा नहीं देखने में आता कि वह कर्म से अथवा संयोग से उत्पन्न होता हो और विभाग से उसका नाश होता हो, क्योंकि समवाय नित्य माना गया है। उसके विषय में उत्पत्ति और विनाश का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता है।

समवाय का अयुत सिद्धत्व—

केशवमिश्र ने भी समवाय को अयुतसिद्ध माना है—

'तत्रायुतसिद्धयोः समवायः सम्बन्धः, अन्ययोस्तु संयोग एव त० भा० २३८

अर्थात् अयुतसिद्ध दो पदार्थों का समवाय सम्बन्ध होता है तथा इनसे अतिरिक्तों का संयोग ही होता है। अब यहां प्रश्न होता है कि वे दो अयुतसिद्ध पदार्थ कौन हैं जिनका समवाय-सम्बन्ध माना गया है ? इसका उत्तर है कि जिन दो पदार्थों में एक पदार्थ अपने विनाश की अनुपस्थिति अवस्था में दूसरे के आश्रित होकर रहता है, वे दोनों आश्रयाश्रयीभूत पदार्थ अयुतसिद्ध माने गये हैं। "अयुतसिद्ध" शब्द 'अ' 'युत' 'सिद्ध' इन तीन शब्दों के आधार पर संपन्न होता है। 'युत' शब्द का अर्थ है अमिश्रण अर्थात् असम्बन्ध। 'यु' मिश्रणामिश्रणयोः 'धातु से 'क्त'प्रत्यय होकर 'युत' शब्द बना है। जिसका अर्थ होता है सम्बन्ध के पूर्व में अमिश्रित अर्थात् असम्बद्ध होकर रहनेवाले अतः जो दो पदार्थ बिना मिले हुए भी किसी दशाविशेष में रह सकें वे दोनों पदार्थ 'युतसिद्ध' कहे जाते है। 'घट और भूतल' 'दण्ड और पुरुष' 'पर्वत और वन्हि, 'महानस और अग्नि' युतसिद्ध है। ये पदार्थ प्रथमतः परस्पर में असम्बद्ध होते हुए भी पश्चात् संयोगसम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं। संयोग-विनाश के पश्चात् उनका मिलन समाप्त हो जाता है। 'युत' शब्द के पहले लगा हुआ "अ" उसके भिन्नत्व का बोध करता है। अतः 'नयुतसिद्ध' इति "अयुतसिद्धः" इस नञ्समास के आधार पर युतसिद्ध पदार्थों से भिन्न जो पदार्थ हुए वे "अयुत-सिद्ध" पदार्थ है। अर्थात् जिन दो पदार्थों का मिश्रण सर्वदा बना रहे। इन अयुतसिद्ध" दो पदार्थों का ऐसा कोई भी क्षण नहीं होता जिस क्षण में ये आपस में सम्बद्ध न पाये जाय। इसलिए अयुतसिद्ध का यही अर्थ है कि जिन दो पदार्थों में एक पदार्थ विनाश की अवस्था को प्राप्त न होकर दूसरे के आश्रित रहे वे ही

'अवयव-अवयविनो र्जातिव्यक्त्यो र्गुण गुणिनोः, क्रियाक्रियवतोर्नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च यः सम्बन्धः स समवायः' सि० मु० ६५

अर्थात् अवयव-अवयवी, जाति और व्यक्ति, गुण और गुणी, क्रिया एवं क्रियावान्, नित्यद्रव्य और विशेष, इनके आधार पर होनेवाली विशिष्टवुद्धि का नियामक समवाय सम्बन्ध माना गया है जो सम्बन्ध नित्य है—'नित्यसम्बन्धत्वं समवायत्वम् सि० मु० ६६.

इसकी नित्यता का प्रमाण यही है कि यह समवाय-सम्बन्ध दो अयुतसिद्ध पदार्थों का होता है। युतसिद्ध दो पदार्थों के होने वाले संयोग आदि सम्बन्धों को अनित्य माना जाता है—

'तत्रायुतसिद्धयोः सम्बन्धः समवायः, अन्ययोस्तु संयोग एव' त० भा० २३८

संयोग अनित्य है, क्योंकि संयोग का विभाग से नाश हो जाता है। 'संयोग-नाशको गुणो विभागः' अर्थात् विभाग उस गुण को कहते हैं जो संयोग का नाशक है। इससे संयोग की अनित्यता ध्रुव है।

महर्षिप्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में 'समवाय' की परिभाषा इस प्रकार की है—

'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह प्रत्ययहेतुः स समवायः'

अर्थात् आश्रय और आश्रयी (आश्रित) भाव सम्पन्न दो अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध 'समवाय' माना गया है, और वह समवाय 'इह' इस प्रतीति का कारण होता है। 'इह' इस प्रतीति का अभिप्राय यह है कि—

'इह तन्तुषु पट' 'इह बीरणेषु कटः' 'इह द्रव्ये गुणकर्मणी' 'इह द्रव्य-गुण-कर्मसु सत्ता' 'इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्' 'इह गुणे गुणत्वम्' इह कर्मणि कर्मत्वम्' 'इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषाः' इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते' प्र०भा०७७५

अर्था इन तन्तुओं में पट रहता है, इन तृण विशेषों के अन्दर चटाई है, इस द्रव्य में गुण और कर्म रहते हैं, और उन द्रव्य-गुण-कर्म में सत्ताजाति रहती है, एवं द्रव्य में द्रव्यत्व, गुण में गुणत्व, कर्म में कर्मत्व, तथा नित्य द्रव्य में विशेष रहते हैं, इस प्रकार की प्रतीतियों के देखने से स्पष्ट सिद्ध है कि इन आश्रय और आश्रयीभूत दो पदार्थों का कोई सम्बन्ध (समवाय) अवश्य है। ये पूर्व कथित प्रतीतियां संयोग सम्बन्ध के आधार पर उपपन्न क्या कर दी जा सकती हैं ? यह सर्वथा असम्भव है, कारण कि उन प्रतीतियों में विशेषण एवं

विशेष्य रूप से भासमान होने वाले प्रतियोगी तथा अनुयोगी अयुत सिद्ध दो पदार्थों में ही होता है। अयुतसिद्ध दो पदार्थों का संयोग ही मान लिया जाय ? यह कहना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि संयोग कर्म से तो उत्पन्न होता हैं और विभाग से नाश्य होता है। कहीं संयोग से भी संयोग उत्पन्न होता है। परन्तु समवाय में ऐसा नहीं देखने में आता कि वह कर्म से अथवा संयोग से उत्पन्न होता हो और विभाग से उसका नाश होता हो, क्योंकि समवाय नित्य माना गया है। उसके विषय में उत्पत्ति और विनाश का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता है।

समवाय का अयुत सिद्धत्व—

केशवमिश्र ने भी समवाय को अयुतसिद्ध माना है—

'तत्रायुतसिद्धयोः समवायः सम्बन्धः, अन्ययोस्तु संयोग एव त० भा० २३८

अर्थात् अयुतसिद्ध दो पदार्थों का समवाय सम्बन्ध होता है तथा इनसे अतिरिक्तों का संयोग ही होता है। अब यहां प्रश्न होता है कि वे दो अयुतसिद्ध पदार्थ कौन हैं जिनका समवाय-सम्बन्ध माना गया है ? इसका उत्तर है कि जिन दो पदार्थों में एक पदार्थ अपने विनाश की अनुपस्थिति अवस्था में दूसरे के आश्रित होकर रहता है, वे दोनों आश्रयाश्रयीभूत पदार्थ अयुतसिद्ध माने गये हैं। "अयुतसिद्ध" शब्द 'अ' 'युत' 'सिद्ध' इन तीन शब्दों के आधार पर संपन्न होता है। 'युत' शब्द का अर्थ है अमिश्रण अर्थात् असम्बन्ध। 'यु' मिश्रणामिश्रणयोः 'धातु से 'क्त'प्रत्यय होकर 'युत' शब्द बना है। जिसका अर्थ होता है सम्बन्ध के पूर्व में अमिश्रित अर्थात् असम्बद्ध होकर रहनेवाले अतः जो दो पदार्थ बिना मिले हुए भी किसी दशाविशेष में रह सकें वे दोनों पदार्थ 'युतसिद्ध' कहे जाते है। 'घट और भूतल' 'दण्ड और पुरुष' 'पर्वत और वन्हि, 'महानस और अग्नि' युतसिद्ध है। ये पदार्थ प्रथमतः परस्पर में असम्बध होते हुए भी पश्चात् संयोगसम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध हो जाते हैं। संयोग-विनाश के पश्चात् उनका मिलन समाप्त हो जाता है। 'युत' शब्द के पहले लगा हुआ "अ" उसके भिन्नत्व का बोध करता है। अतः 'नयुतसिद्ध' इति "अयुतसिद्धः" इस नञ्समास के आधार पर युतसिद्ध पदार्थों से भिन्न जो पदार्थ हुए वे "अयुत-सिद्ध" पदार्थ हैं। अर्थात् जिन दो पदार्थों का मिश्रण सर्वदा बना रहे। इन अयुतसिद्ध" दो पदार्थों का ऐसा कोई भी क्षण नहीं होता जिस क्षण में ये आपस में सम्बद्ध न पाये जाय। इसलिए अयुतसिद्ध का यही अर्थ है कि जिन दो पदार्थों में एक पदार्थ विनाश की अवस्था को प्राप्त न होकर दूसरे के आश्रित रहे वे ही

आश्रय और आश्रित भावापन्न दोनों पदार्थ अयुतसिद्ध माने गये हैं। उदाहरणार्थ घट और घटत्व इन दोनों में घटत्व का विनाश कभी भी नहीं होता है और वह सर्वदा घट के आश्रित ही होकर रहता है। ये अवयव और अवयवी भी हैं, जैसे घट अवयवी है और कपाल अवयव है। इनमें घट के नष्ट हो जाने पर भी घट का अवयव कपाल अपनी अविनाश की दशा में रहता है, और घट उसी के आश्रित रहता है। कपाल के नष्ट हो जाने पर भी अन्ततोगत्वा परमाणु के आश्रित रहता है, वह भी घट का परम्परया अवयव है। परमाणु नित्य होने के नाते अविनाशी है।

दो कपालों से उत्पन्न होने वाला घट उन दोनों कपालों से सर्वथा भिन्न है, और उन्हीं दोनों कपालों में समवायसम्बन्ध से रहता है। यह मान्यसिद्धान्त नहीं क्योंकि समवायसम्बन्ध स्वयं प्रमाणों का अविषय होने के नाते सर्वथा उनसे (प्रमाणों से) अगम्य है। यह कथन सर्वथा अप्रामाणिक है। गुण-क्रियादि-विशिष्टबुद्धि पक्ष में विविष्टबुद्धित्व का हेतु है–विशेषणविशेष्यसम्बन्ध विषयकत्व यह विधेयक पूर्व कथित अनुमिति के द्वारा संयोगसम्बन्धविषयकत्व का बाध है। इस लिये समवाय को ही विषय मानना सर्वथा आवश्यक होगा। अतः यह कहना कि समवाय किसी प्रमाण का विषय नहीं है सर्वथा गलत है। पुनः अनुमिति के द्वारा समवायसम्बन्ध को विषय न मानकर स्वरूपसम्बन्ध को ही गुण-गुणी, क्रिया एवं क्रियावान् द्रव्य का सम्बन्ध मानलिया जाय ? इससे समवायसम्बन्ध वस्तुओं का स्वरूप होने के नाते वस्तुओं के आनन्त्य से स्वरूप सम्बन्ध भी अनन्त ही मानने भी अनन्त ही मानने पड़ेंगे। अतः उस अनुमिति के द्वारा अनन्त स्वरूप सम्बन्धों को विषय मानने की अपेक्षा एक समवायसंबन्ध को ही विषय मानने में लाधव है। "शब्दवत् आकाशम्" "अयंगौः" "घटवत् कपालम्" "ज्ञानवान् आत्मा" इत्यादिस्थलों में सर्वत्र शब्द और आकाश का जैसे समवाय सम्बन्ध माना गया है उसी प्रकार गौ और गोत्व का, ज्ञान और आत्मा का, घट और कपाल का समवायसम्बन्ध माना गया है। यह समवाय सम्बन्ध एक तथा नित्य है। समवाय की एकता पक्षमें यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि समवाय एक है तो जो स्पर्श एवं गन्ध आदि का समवाय है वही रूप का भी समवाय है। अतः रूप रस गन्ध स्पर्श आदि समस्त समवेत पदार्थों का समवाय एक ही है। ऐसी परिस्थिति में "रूपवान वायुः" यह प्रमात्मिका प्रतीति क्यों नहीं होती ? भ्रमात्मिका प्रतीति में कोई आपत्ति नहीं क्योंकि वह तो

भ्रमसामग्री के उपस्थित होने पर सर्वत्र हो सकती है। शुक्ति में "इदं रजतम् रज्जु में "अयं सर्पः" इत्यादि प्रतीतियां होती ही हैं। दूसरी बात यह है कि सम्बन्ध के अस्तित्व को ही सम्बन्धी की प्रतीति का नियामक माना गया है। जिसमें जिसका सम्बन्ध है उसमें उसकी उस सम्बन्ध से प्रतीति अवश्य होती है। भूतल में घट की प्रतीति होती है। इसी प्रकार वायु में जब स्पर्श का समवाय है तो रूप का भी समवाय है क्योंकि समवाय एक है, तो वायु में रूप नहीं है अर्थात् वायु रूप के अभाव वाला है. यह कहना कहाँ तक उचित है ?

इसके अतिरिक्त यह भी है कि—यो यदीययत् सम्बन्धवान् स तत्सम्बन्धेन तद्वान् अर्थात् जो जिसके सम्बन्धवाला होता है वह उसी सम्बन्ध से उस सम्बन्धी वाला होता है। पर्वत वन्हि के संयोग सम्बन्ध वाला होता है। अतः पर्वत संयोग सम्बन्ध से वन्हि वाला-होता है। इस अनुभवसिद्ध व्याप्ति के बल से वायु में अनुप्रमाण के आधार पर भी रूप साध्यक अनुमिति की आपत्ति लग जायेगी ? वायुः समवायेन रूपवान् रूपसमवायात् इस प्रकार की रूपसाध्यक प्रमानुमिति न होते हुए भी अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि कारण सामग्री विद्यमान है। यहां पर नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि पूर्वोक्त व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान की व्यवस्था की गयी है वह ठीक नहीं हैं। उस पूर्वोक्त व्याप्ति के आधार पर जैसे पर्वतः संयोगेन वन्हिमान् इस प्रमात्मक अनुमिति की आपत्ति हो रही है वैसे ही तुल्यन्याय से आपत्ति हो सकती है कि वन्हि संयोगेन पर्वतवानुयोगिक संयोगात्"। जैसे वन्हि का संयोग पर्वत में है वैसे ही पर्वत का संयोग वन्हि में है। अतः पर्वत में वन्हि के संयोग के आधार पर जैसे पर्वतो वन्हिमान् यह अनुमिति होती है उसी प्रकार वन्हि में भी पर्वत का संयोग होने से "वन्हिः पर्वतवान्" यह अनुमिति भी। कोई भी दार्शनिक इसे स्वीकार नहीं करता। इस विषय में वेदान्ती लोग भी एक आक्षेप करते हैं—समवाय में रूपप्रतियोगिकत्व, और वायु में समवाय की प्रसिद्धि है तो वायु में रूप प्रतियो गिकत्व विशिष्ट समवायत्वावच्छिन्न आधेयतानिरूपित अधिकरणता क्यों न स्वीकार किया जाय ? अर्थात् समवायसम्बन्ध से वायु को रूपवाला क्यों न मान लिया जाय ? इसका कारण है कि विशेषण अथवा विशेष्य के अभाव में विशिष्ट की अधिकरणता नहीं मानी जा सकती है। गुणकर्म भेद विशिष्ट सत्ता की अधिकरणता समवायसम्बन्ध से द्रव्य ही में माना जाती है न

तो गुण और कर्म में, और न सामान्य विशेष आदि पदार्थों में। गुण—कर्म में तो विशेषण गुण कर्मान्यत्व (गुण कर्म भेद) नहीं है। सामान्य-विशेष आदि पदार्थों में सत्तारूप विशेष्य नहीं है। गुणकर्मान्यत्व रूप विशेषण एवं सत्ता रूप विशेष्य ये दोनों द्रव्य ही में है। अतः द्रव्य ही में गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ता की अधिकरणता मानी जाती है। परन्तु यह वेदान्तियों का आक्षेप ठीक नहीं है। वेदान्तियों ने स्वतः अविद्या में आवरण शक्ति को और ब्रह्म में अविद्या की अक्षुण्णता रहते हुए भी विशिष्ट की अकिकरणता (अर्थात् आवरण शक्ति विशिष्ट अविद्यात्वावच्छिन्न आधेयता निरुपित अधिकरणता) ब्रह्म में नहीं माना हैं। ब्रह्म में विशिष्ट अविद्या की अधिकरणता स्वीकार कर लेने पर तो वेदान्त-सिद्धान्त ही भङ्ग हो जाता है। ब्रह्म को अज्ञान प्रधान अर्थात् अज्ञ मानना पड़ जायेगा। अतः जिस प्रकार वेदान्ती लोग विशिष्ट अविद्या की अधिकरणता ब्रह्म में नहीं मान सकते इसी प्रकार न्याय वैशेषिक लोग रूप प्रतियोगिकत्व-विशिष्ट समवाय की अधिकरणता वायु में नहीं मान सकते हैं। दूसरी बात यह है वेदान्तियों के यहाँ एकमात्र वेदान्त-सिद्धान्त ही भङ्ग होता है, परन्तु वायु में रूपविशिष्ट समवाय की अधिकरणता मान लेने से सभी का सिद्धान्त भङ्ग हो जायेगा, क्योंकि वायु रूपवाला है ऐसा कोई भी नहीं मानता है। वेदान्तीप्रभृति दार्शनिकों ने समवाय के विषय में यह प्रश्न किया था कि गुण-गुणी का, अथवा अवयव-अवयवी का क्रिया-क्रियावान् आदि का स्वरूप ही सम्बन्ध मान लिया जाय, समवाय मानने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार प्रश्न के उपस्थित होने पर स्वरूप सम्बन्धवादी से प्रश्न है कि वह स्वरूपात्मक सम्बन्ध कि स्वरूप है ? क्या वह विशेषण स्वरूप है अथवा विशेष्य रूप है ? ऐसी युक्ति नहीं है जिसके आधार पर उस स्वरूवसम्बन्ध को विशेषण अथवा विशेष्य रूप कह सकें ? यदि उसे विशेषण रूप मानते हैं तो वह विशेष्य रूप क्यों नहीं, और यदि उसे विशेष्यरूप मानते हैं तो वह विशेषण स्वरूप क्यों नहीं ? इसी प्रकार के विनिगमनाविरह के भय से विशेष्य और विशेषण इन दोनों से अतिरिक्त ही एक समवाय लघुभूत तथा नित्य सम्बन्ध की कल्पना ही उचित एवं श्रेयस्कर होगी। इसीलिये समवाय के लक्षण में "सम्बन्धभिन्नत्व" विशेषण भी दिया गया है। इसलिये वह समवान सम्बन्ध घट-घटत्व, अथवा रूप और घट, घट एवं कपाल, इन दोनों सम्बन्धियों से अत्यन्तभिन्न है। विशेष्य और विशेषण इन दोनों सम्बन्धियों से सर्वथा भिन्न होता हुआ भी यही 'समवाय'

उन दोनों सम्बन्धियों को परस्पर में सम्बन्धित भी करता है। अब प्रश्न है कि उन घट-घटत्व प्रभृति दो समवेतसम्बन्धियों को सम्बन्धित करने वाला यह समवायसम्बन्ध स्वयं सम्बद्ध होकर उन्हें परस्पर में सम्बन्धित करता है अथवा असम्बद्ध होकर ? यदि असम्बद्ध होकर करता है तब समस्त इस चराचर विश्व को ही परस्पर में सम्बद्ध क्यों नहीं कर देता ? परन्तु तब अनवस्था दोष आ रहा हैं, क्योंकि सम्बद्ध पक्ष में सम्बन्धान्तर से सापेक्ष होकर ही समवाय उन दोनों पूर्वोक्त सम्बन्धियों को सम्बन्धित करने में समर्थ हो सकता है। वह सम्बन्धान्तर भी स्वयं सम्बद्ध होकर ही दोनों सम्बन्धियों को परस्पर में सम्बन्धित कर सकेगा। इस प्रकार अनवस्था स्पस्ट ही है। अपने दोनों सम्बन्धियों का परस्पर में सम्मेलन करा देना ही प्रमाणों की महिमा है और इस महिमा के बल पर ही समवाय सम्बन्ध की सिद्धि होती है। वह समवाय सम्बन्ध सम्बम्धान्तरों से सर्वथा निरपेक्ष होता हुआ ही अपने दोनों घट-घट, रूप-घट, आदि समस्त सम्बन्धियों की व्यवस्था करता है। केवल सम्बन्धी का संघटन कर देना ही समवाय की कल्पना का परम प्रयोजन नहीं समझना चाहिये क्योंकि संयोगसम्बन्ध समवायनिरपेक्ष होकर ही घट और भूतल इन दोनों सम्बन्धियों का सम्मेलक हो जायेगा। संयोगसम्बन्ध में संसर्गता नियामक सम्बन्धत्व समवाय में सिद्ध नहीं हो पायेगा। यह कथन ठीक नहीं है कारण कि स्वरूप सम्बन्ध के द्वारा ही घट-घटत्व आदि सम्बन्धियों से सम्बद्ध होकर समवाय अपने पूर्वोक्त दोनों सम्बन्धियों के पारस्परिक सम्मेलन का साधक बनता है। इससे समवाय में संसर्गतानियामक सम्बन्धत्व आ जायेगा तो कोई हानि नहीं होगा। पुनः प्रश्न हो सकता है कि संयोगसम्बन्ध भी स्वरुप सम्बन्ध के द्वारा ही अपने सम्बन्धियों से सम्बद्ध होकर संसर्गता नियामक सम्बन्ध बन जायेगा, तो समवायसम्बन्ध के द्वारा संयोग को उसके सम्बन्धियों से सम्बद्ध क्यों माना जाय ? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। संयोग के स्वरूप असंख्य हैं, इसलिये उन असंख्य संयोगों का सम्बन्ध स्वरूप सम्बन्ध मानना महागौरव है क्योंकि यह भी तो असंख्य ही होगा। समवाय एक है तथा नित्य है। अतः समवाय-स्थलीय विशिष्ट बुद्धि का नियामक सम्बन्ध स्वरूप ही को मानना उचित है और संयोगस्थलीय विशिष्टबुद्धि का नियामक समवाय को ही मानना ठीक है, क्योंकि संयोग आदि गुणमात्र को विशिष्ट बुद्धि का नियामक समवाय ही माना गया है—"गुणगुणिनोः समवायात्" सि० मु० ६६.

यह कोई नियम नहीं है कि संसार के अन्दर जैसा कोई एक पदार्थ हो अन्य पदार्थों को भी उसी रूप से माना जाय। ऐसा स्वीकार करने पर वेदान्तियों ने ब्रह्म को चेतन माना है तो उसके समान सभी को चेतन मान लिया जाय? जगत् को उन्होंने मिथ्या माना तो सभी को मिथ्या मान लिया जाय? पुनः प्रश्न उपस्थित होता है कि समवायसम्बन्ध का नियामक (अथवा समवायसम्बन्ध की संसर्गता का नियामक) जब स्वरूपसम्बन्ध को मान लिया गया तो "घटत्व-समवायवान् घटः" "रूपसमवायवान् घटः" इत्यादि स्थलीय प्रतीतियां सभी समाप्त हो जायेंगी? इसका कारण है कि समवाय का स्वरूप सम्बन्ध समवायात्म सम्बन्धित स्वरूप होने मे समवाय से सर्वथा अभिन्न हैं। इस प्रकार समवाय में सम्बन्धित्व और स्वरूपसम्बन्ध में सम्बन्धत्व कैसे उपपन्न हो पायेंगे। सम्बन्धित्व और सम्बन्धत्व ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थों के देखने में आते हैं इसका उत्तर यही है, कि स्वरूपसम्बन्ध का "सम्बन्धितावच्छेदक समवायत्व" तथा "सम्बन्धतावच्छेदक स्वरूपत्व ये दोनों परस्पर में भिन्न-भिन्न हैं। इसलिये इसी भेदव्यवस्था के आधार पर सम्बन्धत्व और सम्बन्धित्व ये दोनों सम्पन्न हो जायेंगे।

वेदान्त में प्रश्न हो सकता है कि समवाय जब एक है तो वह सम्बन्ध कैसे हो सकता है? वह समवाय एक होता हुआ नित्य है अथवा अनित्य? यदि वह एक है और अनित्य है तब तो घट के रूपनाशकाल में समवाय के नष्ट हो जाने से जगत की समवायशून्यता ही से सर्वत्र जगत् के अन्दर समवेतत्व व्यवहार ही समाप्त हो जायेगा। यदि समवाय को एक मानते हुए नित्य स्वीकार किया जाय तो कारण के अन्दर जो कार्य का समवाय है वही उत्पत्ति पदार्थ भी है। ऐसी परिस्थिति में उत्पत्ति पदार्थ भी समवायरूप होने के नाते ही है। वह घट-पट कार्यभूतपदार्थों के पूर्व भी विद्यमान है, अतः कारणों का अथवा कारण सामग्री का कार्योत्पत्ति के लिए व्यापार ही व्यर्थ हो जाता है। इसका नैयायिक तथा वैशेषिकों ने उत्तर दिया कि यहां प्रथम क्षण के साथ जो घट-पट आदि कार्यों का सम्बन्ध है वही उत्पत्ति पदार्थ है। वह सम्बन्धस्वरूपा उत्पत्ति अनित्य है तथा वह समवाय रूप नहीं है। अतः पूर्वोक्तदोष नहीं है।

पुनः समवाय की नित्यता का सिद्धान्त तो असंङ्गत है क्योंकि सम्बन्धि-द्वय की सत्ता के अधीन ही सम्बन्ध की सत्ता का व्याप्य सम्बन्धत्व माना गया है। घट-पट आदि किसी भी सम्बन्धी पदार्थ के विनाश हो जाने के पश्चात्

समवाय का भी विनाश मानना आवश्यक है। इसका नैयायिकों ने उत्तर दिया कि सभी समवायी पदार्थ अनित्य नहीं हैं। द्वयणुक समवायी परमाणु, शब्द समवायी आकाश, विशेष समवायी नित्यद्रव्य, एवं जाति तथा अत्यन्ताभाव आदि नित्यपदार्थ प्रलयकाल में भी रहते हैं। इसलिये इन नित्य द्रव्य अथवा नित्यपदार्थों के आधार पर सम्बन्धिद्वय की संज्ञा की व्याप्यता समवाय सम्बन्ध में सम्पन्न हो जायेगी। पूर्वोक्त नियम का कथमपि भंग नहीं हो सकता है।

कुछ दार्शनिकों ने द्रव्य और गुण आदि का तादात्म्य सम्बन्ध ही स्वीकार किया है। "रूपवान् घटः" "स्पर्शवान् घटः" "घटत्ववान् घटः" इत्यादि स्थलीय विशिष्ट बुद्धि का नियामक सर्वत्र तादात्म्य सम्बन्ध ही है। परन्तु यहां भी नैयायिक तथा वैशेषिकों का कहना है कि गुण गुणी आदि का तादात्म्य मानना महाभ्रम है। यदि गुण आदि समवेत पदार्थद्रव्य आदि से अभिन्न हैं तो गुण आदि पदार्थों के विनाश से घट-पट आदि द्रव्यों का भी विनाश हो जाना चाहिये, ऐसा होता नहीं है क्योंकि हम देखते हैं कि घट-पट आदि पदार्थों के संयोग के नष्ट हो जाने पर भी घट-पट आदि स्वयं नष्ट नहीं होते हैं। अग्नि संयोग आदि कारण के द्वारा घटके श्याम रूप का विनाश होने के पश्चात् भी अथवा अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व के नाश हो जाने पर भी घट-पट आदि द्रव्य स्वयं भी नष्ट नहीं हो जाते है। अतः गुण और गुणी (द्रव्य) का जाति-व्यक्ति का, अवयव और अवयवी आदि पदार्थों का तादात्म्य है, समवाय नहीं। यह कथन सर्वथा भ्रमपूर्ण है। स्व का स्व के साथ अभेद होता है न कि स्वातिरिक्त के साथ। दूसरी बात यह है कि घट-पट आदि गुणीभूत द्रव्य पदार्थ यदि अपने-रूप-स्पर्श आदि गुणों से सर्वथा भिन्न नहीं हैं तो अन्धकार में जैसे घट-पट आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उस घट में रहनेवाले शुक्ल-नील आदि गुणों का प्रत्यक्ष भी क्यों नहीं होता है ? यह कहा जा सकता है कि अन्धकार में घट-पट आदि का प्रत्यक्ष त्वचा इन्द्रिय से होता है और उन घट-पट आदि के अन्दर रहने वाले शुक्ल-नील आदि गुणों का प्रत्यक्ष करने में त्वक् इन्द्रिय का सामर्थ्य नहीं है। उनके ग्रहण का सामर्थ्य तो एकमात्र चक्षु इन्द्रिय में ही है। वह चक्षु इन्द्रिय अन्धकार में शुक्लादि गुणों का अथवा शुक्लादि गुण विशिष्ट घट-पट आदि द्रव्यों का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं है। वहाँ प्रकाशात्मक सहकारी कारण का वैकल्प है। चाक्षुषप्रत्यक्ष की सामग्री में आलोक संयोग अर्थात्

महत्त्वावच्छिन्न—उद्भूत रूपावच्छिन्न-आलोकसंयोगावच्छिन्न चक्षुः संयोग ही कारण माना गया है। अन्धकार में आलोकसंयोगावच्छिन्न चक्षुः संयोग नहीं है। यह भी कह सकते हैं कि घनान्धकार में चक्षु का संयोग ही घट—पट आदि पदार्थों के साथ नहीं है, आलोक संयोग नहीं होने से और आलोक के द्वारा ही चक्षु विषय देश में जा पाता है।

नैयायिक का कहना है कि गुण-गुणी का, अवयव-अवयवी का, क्रिया-क्रियावान् आदि पदार्थों का तादात्म्य अभेद पक्ष सर्वथा निर्युक्तिक है। इसका कारण है कि जब गुण-गुणी प्रभृति उन दो पदार्थों का अभेद है तो घट-पट आदि का प्रत्यक्ष त्वक् इन्द्रिय से अन्धकार में हो जाता है, उसी तरह घट-पट आदि से अभिन्न शुक्ल-नील रूप आदि गुण का प्रत्यक्ष त्वक्-इन्द्रिय से क्यों नहीं होता है? अन्धकार में भी शुक्ल आदि गुण घटाद्यात्मना तो प्रत्यक्ष के विषय हैं। गुण-गुणी के अभेद पक्ष में एक दोष यह भी है कि रूप का प्रत्यक्ष जैसे चक्षु इन्द्रिय से होता है उसी प्रकार स्पर्श का प्रत्यक्ष चक्षु से क्यों नहीं होता? जिस प्रकार स्पर्श का प्रत्यक्ष स्पार्शन इन्द्रिय से होता है चक्षु से क्यों नहीं होता है? जिस घट के अन्दर रूप है उसी पट के अन्दर स्पर्श भी है, रूप एवं स्पर्श ये दोनों एक के आश्रिय हैं तथा आश्रय से सर्वथा अभिन्न हैं तो क्या कारण है कि रूप का प्रत्यक्ष चक्षु कर लेता है और स्पर्श का नहीं? इसलिये गुण और गुणी का भेद यद्यपि अभेदवादी को अभीष्ट नहीं तो भी युक्ति-तर्क एवं प्रमाण सिद्ध भेद स्वीकार करना पड़ता है।

किसी दूसरे दार्शनिक का कथन है कि गुण-गुणी के अभेद से अत्यन्त अभेद विवक्षित नहीं है, किन्तु भेद सहिष्णु अभेद अर्थात् भेद समानाधिकरण अभेद विवक्षित है। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। पूर्वोक्त दोषों का किसी प्रकार निराकरण हो भी जाय तो भी भेद और अभेद इन दोनों का परस्पर विरोध होने के नाते भेद समानाधिकरण अभेद सर्वथा असम्भव है। अन्यथा घोड़े और हाथी में, मनुष्य और पशु में भी अभेद प्रतीति होने लग जायेगी। इस प्रकार कहीं भी भेद नाममात्र को भी न रह जायेगा। भेद सहिष्णु अभेदवादी का हार्दिक अभिप्राय यह है कि नैयायिक तथा वैशेषिक जिन जिन का समवाय सम्बन्ध मानते हैं, (जैसे—गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि का) उन्हीं पदार्थों का भेद समानाधिकरण अभेद (तादात्म्य) माना जा सकता है अन्यत्र गज-तुरग आदि का पारस्परिक भेद तो है ही।

उनका तादात्म्य अर्थात् अभेद तो किसी को अभीष्ट नहीं है। घटो घट: नहीं होता हैं, कारण कि यहाँ अत्यन्त अभेद है। "नीलो घट:" यह अभेद की अवगाहिनी प्रतीति अवश्य है। इसे भेद समानाधिकरण अभेद की अवगाहिनी प्रतीति ही कह सकते हैं। परन्तु यह पक्ष भी अमान्य है, कारण कि जैसे "घटे रूपम्" यह भेद का अवगाहन करने वाली अबाधित प्रतीति होती है, उसी प्रकार "घटो रूपम्" यह अभेदावगाहिनी भी अबाधित प्रतीति क्यों नहीं होती है ? इसका कारण यह है कि समानाधिकरण्य प्रतीति का प्रयोजक रूप और घट का अभेद विद्यमान है। भेद समानाधिकरण अभेद पक्ष में यह भी दोष आ जाता है कि "नीलो घट:" इस बुद्धि के प्रति "नीलो न घट:" इस निश्चय को सभी लोग विरोधी मानते हैं। परन्तु इस मतानुसार "नीलो न घट:" यह निश्चय प्रतिबन्धक नहीं हो सकता क्योंकि "नील" पद गुण और गुणी दोनों परक है। गुणरूप से नील का भेद है घट में और गुणी रूप से अभेद है। इसलिये घट में नील का भेद भी है और अभेद भी। अत: यहां यह अभेद भेद समानाधिरण ही है। इस प्रकार "नीलो न घट:" यह निश्चय "नीलो घट:" इस निश्चय का प्रतिबन्धक कैसे हो सकेगा ? दोनों विरोधी ही नहीं है तो दोनों का प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव कैसा ? अत: गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् का पदार्थों का समवाय ही स्वीकार करना होगा।

—: * :—

नवम् अध्याय

अभाव पदार्थ विचार

अभाव वैशेषिक दर्शन का सातवाँ पदार्थ है। अभाव सम्बन्धी बहुत से तर्क वितर्क का उल्लेख मैं प्रथम अध्याय (पदार्थों के भेद) में कर चुका हूँ। सामान्यतः भाव और अभाव रूप से 'भावोऽभावश्च' पदार्थों का द्वैविध्य मान्य है। किसी स्थान पर चैत्र के विद्यमान रहने पर 'चैत्रो अस्ति' प्रतीति होती है वैसे ही चैत्र के अविद्यमान रहने पर 'चैत्रो नास्ति' यह प्रतीति होती है। यहाँ नास्ति शब्द से बोध्य सातवाँ पदार्थ अभाव ही है। यद्यपि यह प्रतीति बहुत सबल प्रमाण नहीं है फिर भी सामान्यतः मान्य है। अभाव की भी अस्तित्वेन प्रतीति होती है यथा अत्र घटो नास्ति या अत्र घटाऽभावो अस्ति। 'यहाँ घट नहीं है अथवा यहाँ घट का अभाव विद्यमान है। इस वाक्य में अभाव अस्तित्व-परक है। महर्षि कणाद ने पदार्थ सूची में अभाव को नहीं रखा तथा प्रशस्तपाद ने भी छः भाव पदार्थों का ही लक्षण किया—षराणामपि पदार्थानामस्तित्वाभि-धेय-त्वज्ञ`यत्वानि—पदार्थ धर्म संग्रह, अर्थात् अस्तित्व, अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व ये तीनों लक्षण भावभूत ६ पदार्थों के ही हैं। परन्तु इन भावभूत पदार्थों का जैसे अस्तित्व है वैसे ही अभाव का भी अस्तित्व है। अतः अस्तित्वेन अभाव का निषेध नहीं हो सकता। इसलिये वैशेषिक दार्शनिकों को स्वीकार हैं कि अभाव नामक सातवें पदार्थ का भी अस्तित्व है जो 'नास्ति' शब्द से बोध्य है। अभाव का लक्षण है—

निषेधमुखप्रमाणगम्योऽभावः—त० भा० ३३९.

अर्थात् निषेधार्थक 'नञ्' शब्द से अभिलाप किये जाने वाले ज्ञान का विषय अभाव है। उदहरणार्थ 'इदं इह नास्ति' में नास्ति निषेधार्थक है जिससे गम्य या बोध्य अभाव है। अर्थात् अभाव निषेधमुख प्रत्यय स्वीकार किया गया हैं। श्री शिवादित्य के अनुसार—प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञानोऽभावः स० प०

अर्थात् प्रतियोगी (विरोधी) के बिना जो ज्ञान न हो उसे अभाव कहते हैं। इसका तात्पर्य है अभाव ज्ञान प्रतियोगिरूप भाव ज्ञान सापेक्ष है। जिस

व्यक्ति या वस्तु के भाव का ज्ञान हमें नहीं है उसके अभाव का भी ज्ञान हमें नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ 'चैत्रो नास्ति' ज्ञान चैत्रो अस्ति' की अपेक्षा करता है।

अभाव सम्बन्धी विशेष विचार—

महर्षि कणाद पर आक्षेप तथा परिहार—

महर्षि कणाद के ऊपर यह आक्षेप किया जाता है कि उन्होने अभाव को पदार्थ नहीं माना है—

"द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां षण्णां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" वैशेषिक सूत्र—प्र. भा. १५.

इस निःश्रेयसाधिगम सूचक सूत्र में साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा छः भाव पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ साधर्म्य का अभाव ही वैधर्म्य है। साधर्म्य-वैधर्म्य प्रकरण में विश्वनाथ पञ्चानन ने स्पष्ट कहा है कि—

"यदुक्तं यस्य साधर्म्यं वैधर्म्यमितरस्य तत्" भा. प. २६.

घटत्व घटमात्र का साधर्म्य अर्थात् समानधर्म है और वही पटादि का वैधर्म्य है, क्योंकि पटादि में घटत्व नहीं रहता है। नहीं रहना ही 'अभाव' है। इस "वैधर्म्य" शब्द प्रयोक्ता महर्षि को कैसे कहा जा सकता है कि उन्हें अभाव पदार्थ अमान्य है। इसके अतिरिक्त और सूत्रों के द्वारा भी अभाव की मान्यता उन्होंने स्वीकार की है। सूत्र में ६ः भावभूत पदार्थों का परिगणन तत्वज्ञान के उपयोग की दृष्टि से किया गया है। अभाव पदार्थ होते हुए भी तत्वज्ञान का उपयोगी नहीं हैं, अतः इसका उल्लेख भी नहीं है। परन्तु प्रकारान्तर से (साधर्म्य-बैधर्म्य विचार से) अभाव सिद्ध है।

अभाव किसी का उपादानकारण नहीं है

शून्यवाद दार्शनिकों का कहना है कि प्रत्येक भावभूत वस्तु की उत्पत्ति अभाव से ही होती है अतः अभाव ही उनका उपादानकारण हैं। उनका कहना है कि बीजध्वंस से अङ्कुरोत्पत्ति होती है। इस प्रकार बीजध्वंस अङ्कुरोत्पत्ति द्वारा (गेहूँ-चना-जौ-मटर आदि) भावभूत पदार्थों का उपादानकारण बनता है। पिण्ड के आकार में परिणत हुई मृत्तिका का ध्वंस ही घट कम्बोली आदि भावभूत पदार्थों का उपादानकारण बनता है। ध्वंस अभाव ही है। इसलिये इन दृष्टान्तों के आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध है कि सर्वत्र समस्त

भावभूतपदार्थों का उपादानकारण ध्वंसरूप अभाव ही है। इसलिये अभाव को ही इस समस्त चराचर विश्व का उपादानकारण मानना उचित है।

खण्डन—यह शून्यवादपक्ष सर्वथा हेय और अनुपादेय है। अभाव जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता है। किसी न किसी वस्तु का कोई न कोई अभाव तो सर्वत्र ही सुगम और सुलभ है। अभाव से भावजगत् की उत्पत्ति होती तो सर्वत्र एवं सर्वदा भावकार्य उत्पन्न होते रहते। उनकी धारा का कभी भी विच्छेद ही न होने पाता। उत्पत्ति का धारावाहिक रूप सर्वदा ही चलता रहता, परन्तु यह धारावाहिकरूप सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। अतः भावजगत् का उपादान कारण अभाव नहीं हो सकता है। अभाव को उपादान-कारण स्वीकार न करने में एक कारण यह भी है कि जगत् में दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों का पारस्परिक वैचित्र्य वैलक्षण्य = भेदभाव ही समाप्त हो जायेगा। संसार की प्रत्येक वस्तु का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। दूसरी बात यह भी है कि सामान्यतः अभाव चार प्रकार का है ध्वंस-प्रागभाव-अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इनमें से किस अभाव को उपादान कारण माना जाय ? एक किसी को मानने पर अन्य तीन में विनिगमनाविरह उपस्थित हो जाता है। अतः मानें तो चारों को अन्यथा किसी को नहीं। चारों को मानने पर कारणतावाहुल्य दोष आरहा है, अन्यथा अभाव को कारणत्वानुपपत्ति हो रही है। उस अनुपपत्ति में इष्टापत्ति ही श्रेयस्कर प्रतीत होती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अभाव उपादान कारण नहीं हो सकता है। इसके अतिरिक्त कारण वह होता तो कार्य की उत्पत्ति के पूर्वकाल में नियम से रहता और कार्य से सर्वथा सम्बद्ध होकर रहता। अभाव को उपादानकारण स्वीकार करने पर पट काल में तन्तु का अभाव ये दोनों कैसे रह सकते हैं ? इसी प्रकार घटकाल में कपाल और कपाल का अभाव ये दोनों कैसे रह सकते हैं ? यह एक अनुभवसिद्ध विषय है कि जब तक घट अथवा पट की स्थिति है तब तक घट के साथ कपाल अथवा मिट्टी का सम्बन्ध अवश्य है। पट के साथ तन्तु आदि का सम्बन्ध बना रहता है। घट-कपाल या मिट्टी इन्हीं का उपादानोपादेय सम्बन्ध मानना चाहिये, न कि घट और कपाल के अथवा मिट्टी के अभाव का, या कपास के अभाव का।

इस विषय में एक विचारणीय बात यह भी है कि यह उपादानोपादेयभाव सम्बन्ध सभी भाव कार्यों के साथ सभी अभावों का नहीं होता है। इस

उपादानोपादेय भाव सम्बन्ध को उपपन्न करने के लिये एक विशेषरूप साजात्य अपेक्षित होता है। घट-तन्तु का, पट-कपाल का उपादानोपादेयभाव बाधित है पार्थिव एवं जलीयपदार्थों का तो उपादानोपादेय भाव सम्बन्ध का प्रश्न नहीं क्योंकि ये तो समानजातीय नहीं हैं। पार्थिवपदार्थ के समानजातीय जलीयपदार्थ नहीं है। एक में पृथिवीत्व है तो दूसरे में जलत्व है। न तो पृथिवी से जल की उत्पत्ति है और न जल से पृथिवी की ही उत्पत्ति होती है। अतः परस्पर में अत्यन्त विजातीय पदार्थों का उपादानोपादेयभाव सम्बन्ध तो सर्वथा अनुपपन्न है। भाव और अभाव ये दोनों तमः प्रकाश (अन्धकार और प्रकाश) के समान विरुद्ध = विजातीय स्वभाव वाले हैं। इनका साजात्य सर्वथा असंभव है। इस प्रकार भाव और अभाव का उपादानोपादेयभाव सम्बन्ध भी सर्वथा बाधित है। अतः अभाव भावकार्य का उपादानकारण नहीं बन सकता है। शून्यवादियों का कथन है कि बीज के विनाश से ही अङ्कुर की उत्पत्ति देखने में आती है, प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता है ? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि बीज का विनाश अर्थात् ध्वंस ही यदि अङ्कुर रूपभावकार्य का उपादानकारण है तो गेहूँ के एवं चने आदि बीजों के आटे से भी अङ्कुर आदि कार्य उत्पन्न होते क्योंकि आटा भी तो बीजविनाश अथवा बीजध्वंसरूप है। आटे का पिण्ड, फिर पिण्ड से बनी हुई (रोटियाँ आदि) सभी तो बीजध्वंसरूप हैं, इन सबसे अङ्कुरोत्पत्ति क्यों नहीं होती है। इसीलिये नैयायिक तथा वैशेषिकों ने पट का उपादानकारण रुई अथवा कपास को न मानकर तन्तुओं को माना है। घट का उपादानकारण मिट्टी को न मानकर कपालों को माना है। इसलिये इन सब युक्तियों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि अभाव भावभूत कार्यों का उपादानकारण कदापि नहीं हो सकता है।

अभाव कौन कारण हो सकता है।

कतिपय दार्शनिकों का इस अभाव के कारणत्व के विषय में ऐसा विचार है कि अभाव कोई भी कारण नहीं हो सकता है। अभाव ;जैसे उपादान कारण अर्थात् समवायिकारण नहीं हो सकता है वैसे ही वह असमवायिकारण और निमित्त कारण भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार उन्हों ने अभाव के कारणत्वसामान्य का खण्डन किया है। परन्तु उनके इस कथन को हमारे प्राच्य पदार्थ शास्त्री लोगों ने सर्वथा अस्वीकार किया है। उनका इस विषय में यही कहना है कि—"भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः" न्या. कु. १०.

अर्थात् भावपदार्थों को जैसे कार्य और कारण दोनों माना गया है उसी प्रकार अभाव को भी कार्य की तरह कारण भी मानना चाहिए। हमें इसमें कोई विनिगमन नहीं मालूम होता कि अभाव को कार्य तो माना जाय और उसे कारण न माना जाय। प्रत्युत् हमें इसी में विनिगमक प्रतीत होता है कि अभाव को कारण भी अवश्य ही मानना चाहिये। हम यह अनुभव करते हैं कि किसी भी कार्य को उत्पन्न करने के लिये कारण सामग्री अपेक्षित होती है। कारण सामग्री नाम है कारणकूट का और कारणकूट नाम है समस्त कारणों का। उन समस्त कारणों में जैसे भावात्मककारण हैं उसी प्रकार अभाव भी एक कारण है। उसे प्रतिबन्धकाभाव के रूप में लोगों ने स्वीकार किया है। भावात्मकसमस्तकारणों के रहते हुए भी यदि उस कार्य का कोई प्रतिबन्धक है तो वह कार्य उत्पन्न नहीं होता है। अग्नि से संपन्न होने वाला दाहात्मककार्य तब तक संपन्न नहीं हो सकेगा जब तक प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि उपस्थित रहेगी। अतः अग्नि से दाहकार्य को संपन्न करने के लिए वहां प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि का अभाव[1] भी आवश्यक है। अतः सामान्यतः प्रतिबन्धक के अभाव को भी प्रतिबन्धकाभावरूप में कार्योत्पतिमात्र के प्रति अवश्य ही एक कारण मानना होगा। इसी प्रकार घट पट आदि अन्यकार्यों के प्रति भी भावात्मक कारणों के रहते हुए यदि किसी प्रतिबन्धक के उपस्थित हो जाने के कारण घट पट आदि कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं तो वहाँ भी उस प्रतिबन्धक के अभाव को अवश्य ही कारण कहना होगा। सामन्यतः कार्यकारणभाव के नियामक अन्वयसहचार तथा व्यतिरेकसहचार की उपपत्ति जैसे भावभूतकारणों के साथ देखने में आती है उसी प्रकार अभावरूप कारण के साथ भी। अतः जैसे किसी भी कार्य के प्रति भावपदार्थ कारण हो सकता है वैसे ही अभाव भी कारण क्यों नहीं? इस प्रकार की स्थिति में प्रतिबन्धक के अभाव को भी कारण स्वीकार करना सर्वथा आवश्यक है।

"प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः" न्या. कु. १०

किसी कार्य का न होना ही प्रतिबन्ध शब्दार्थ कहलाता है उस प्रतिबन्ध के हेतु को प्रतिबन्धक कहा गया है। कुछ विद्वानों का ऐसा भी कहना है कि

---

१. उत्तेजकाभावविशिष्ट मण्यभावस्य स्वातन्त्र्येण मण्यभावादेरेव वा हेतुत्वं कल्प्यते. न्या. सि. मु. ४२.

अभावत्व एक भावाभावसाधारण वस्तु है। अतः अभावत्व भाव और अभाव दोनों में रहने वाला धर्म है। इसलिए यह कहना होगा कि अभाव २ तो है ही किन्तु भाव भी है। जैसे द्रव्यत्व पृथिवी में भी रहता है और जल में भी इसलिए द्रव्यत्व के पृथिवी जल-साधारण होने से पृथिवी को भी द्रव्य कहते हैं और जल को भी। इसी प्रकार पृथिवीत्व के घट-पट साधारण होने से घट को भी पृथिवी कहते हैं और पट को भी। उदाहरण के लिए हम यह कह सकते हैं कि जिस स्थान में घट रहता है वहां घटाभाव नहीं रहता, अपि तु वहां हम "घटाभावो नास्ति,' यह उल्लेख अभ्रान्तरूप से करते हैं। इससे फलित अर्थ यही हुआ कि जिस घटवाले भूतल आदि स्थानों में हम "अत्र भूतले घटोऽस्ति" इस का प्रयोग करते हैं उन्हीं स्थानों में घटाभावो नास्ति का भी प्रयोग देखते हैं। इससे घट और घटाभावाभाव ये दोनों समान अधिकरणवाले होने के कारण एक ही हैं। इसलिये घट और घटाभावाभाव इन दोनों को एक तत्त्व स्वीकार कर लेने में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं प्रतीत होती है। इसी दृष्टि-कोण के आधार पर कहते हैं कि घट और घटाभावाभाव ये दोनों अर्थतः एक ही हैं। इन्हें दो अथवा भिन्न नहीं समझना चाहिए। इसमें लाघव भी है।

परन्तु उन विद्वानों का यह दृष्टिकोण न्याय की दृष्टि से उचित नहीं प्रतीत होता है। इसका कारण है कि सामनैयत्य अथवा नियतसामानाधिकरण्य दो वस्तुओं की एकता का प्रयोजक नहीं है, अपितु वह दो अभावों की एकता का प्रयोजक है। घट और घटाभावाभाव ये दोनों समनियत अथवा नियतसमाना-धिकरण होते हुए भी अर्थात् नियम से एक ही स्थान में अपनी २ स्थिति से अथवा अस्तित्व से संपन्न होते हुए भी एक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि घट में घटाभावाभावत्व, और घटाभावाभाव में घटत्व की प्रतीत होने लगेगी। नियम ऐसा है कि किसी भी वस्तु अथवा पदार्थ का व्यवहार या प्रतोति उस वस्तु अथवा पदार्थ के अन्दर रहने वाले असाधारण धर्म के द्वारा ही हुआ करता है। घट का आसाधारणधर्म घटत्व है. और घटाभावाभाव का घटाभावाभावत्व है। अतः घट की प्रतीति "घटोऽस्ति" इस आकारवाली जैसे घटत्वरूप से होती है, उसी प्रकार "अत्र घटाभावो नास्ति" इस आकारवाली घटाभावाभाव की प्रतीति भी घटाभावाभावत्व रूप ही है। अतः इस सर्वानुभवसिद्ध प्रत्यक्षात्मक प्रतीति के आधार पर घट और घटाभावाभाव इन दोनों को एक तत्त्व नहीं माना जा सकता है, भलेही दोनों को एक मानने में लाघव हो। यदि लाघव के

आधार पर तथा नियम से एक स्थान में रहने के कारण परस्पर विरोधी धर्मवाले दो वस्तुओं को एक मानना उचित है तो घट के अन्दर रहनेवाली रूप-रस-गन्ध-स्पर्श इन्हें भी एक ही तत्त्व मान लिया जाय। इसी प्रकार दिशारूपी तथा कालरूपी एक आधार में अथवा घररूपी एक आधार में नियम से रहनेवाली दो वस्तु या दो व्यक्ति हैं, उन्हें भी एक ही मान लिया जाय, इसलिये घट और घटाभावाभाव ये दोनों एक तत्त्व नहीं माने जा सकते हैं। अतः अभाव को भावरूपता का अङ्गीकार सर्वानुभव विरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त "किं नाम अभावत्वम्" ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर मिलता है कि "भावभिन्नत्वम् अभावत्वम्" अर्थात् भाव से भिन्न जो हो वही अभाव होता है। अतः घटाभावाभाव और घट इन दोनों को एक तत्त्व कैसे माना जा सकता है, एक भाव है तो दूसरा अभाव है ? इससे भी अभाव को भावस्वरूप नहीं माना जा सकता है। एक प्रश्न और उपस्थित हो जाता है कि घट और घटाभावाभाव इन दोनों को यदि एक तत्त्व न मानकर भिन्न २ माना जाता है तो अनवस्था दोष का भी प्रसङ्ग आ जाता है। घट को यदि घटाभाव से भिन्न माना जाता है तो घटाभावाभाव के भेद को फिर घटस्वरूप मानना होगा। यदि घटाभावाभाव के भेद को घट रूप न मानकर भिन्न ही माना जाता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि घटाभावाभाव के भेद का भेद घटस्वरूप है। यदि वह भी भिन्न है तो घटाभावाभाव के भेद के भेद का भेद घटरूप है। इस रूप से चलनेवाले इस प्रवाह का कभी भी कहीं अन्त न हो सकेगा। यह अप्रामाणिक रूप से अनन्त पदार्थों की कल्पना की धारा बराबर चलती रहेगी और इसकी कभी भी समाप्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये यही अच्छा होगा कि घटाभावाभाव को घटरूप ही मान लिया जाय।

परन्तु इस अनवस्था दोष के परिहार के लिये घट को घटाभावाभावरूप अथवा घटाभावाभाव को घटरूप न मानकर प्रथम अभाव (घटाभाव) को ही तृतीय अभाव अर्थात् घटाभावाभावाभाव स्वरूप मान लेना उचित है। अनवस्थादोष का परिहार तथा भावाभाव के विरोध का परिहार बड़े ही सुन्दर ढंग से तृतीय अभाव को प्रथम अभावरूप मानकर हो जाता है। अभाव की 'भावभिन्नत्व' रूप परिभाषा भी समन्वित पूर्णतया हो जाती है।

अभाव की अधिकरणरूपता का खण्डन

कुछ दार्शनिकों ने अभाव को अधिकरण रूप ही माना है। जहाँ

भावभूत अधिकरण है वहाँ अभाव भावरूप है, और अभावस्थल में अभावरूप है। उदाहरण के लिये "घटाभाववद् भूतलम्" यहाँ घटाभाव भूतलरूप है, क्योंकि घट से शून्य भूतल में ही घटाभाव की प्रतीति होती है। वहाँ भूतल से अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु को हम आँखों से नहीं देख पाते हैं। जैसे—

न ते तत्रालिकान्तोऽस्ति तदभावोऽपि किं सखि। ७८
न सोऽस्ति पृथगेणाक्षि कुञ्जमात्रं विलोक्यते॥ विलासिनी—

इसके अतिरिक्त "घटवद्भूतलम्" यहाँ घटाधिकरण भूतल से अतिरिक्त घट भी आँखों से देखने में आता है, परन्तु अभावस्थल में ऐसा नहीं है। अतः वहां अभाव को अधिकरण भूतल आदि स्वरूप ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसी प्रकार घटाभाव को पटाभाव से भिन्न मानना होगा, और पटाभाव को घटाभाव से भिन्न, क्योंकि एक घटत्वावाच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव है और पटाभाव पटत्वावाच्छिन्न प्रतियोगिताक है। अतः अनुभव के आधार पर यह कहना होगा कि अवच्छेदक भेद से, तथा प्रतियोगिता के भेद से दोनों अभाव भिन्न हैं। परन्तु यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता है। "घटाभाववद् भूतलम्" अर्थात् घट के अभाववाला भूतल है, यहाँ दो तत्त्व हैं। एक आधारभूत तत्त्व और दूसरा आधेयभूत तत्त्व। आधार तत्त्व भावभूत है और आधेयतत्त्व अभावरूप है। यह हम पहले ही कह आये हैं कि भाव और अभाव ये दोनों तत्त्व एक नहीं हो सकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि आधार और आधेय ये दोनों तत्त्व परस्पर में भिन्न-भिन्न देखने में आते हैं। 'घटाभाववद् भूतलम्' यहाँ पर घटाभाव आधेय ही रहेगा, और भूतल आधार ही रहेगा। आधेयता आधेय में ही रहेगी, वह आधार में नहीं रह सकती है। उसका अवच्छेदक धर्म भी भिन्न ही होगा जो आधेय में ही रहेगा आधार में नहीं रहेगा। आधारता आधार में ही रहेगी आधेय में नहीं और उसका अवच्छेदक धर्म भी आधार में ही रहेगा आधेय में नहीं। इस प्रकार दोनों तत्त्व अत्यन्त ही विजातीय होने से एक कैसे हो सकते हैं ?

इसके अतिरिक्त अभाव को अधिकरणस्वरूप नहीं माना जा सकता है क्योंकि मानने पर 'घटाभावो भूतलम्' यही अभावविषयिणी प्रतीति का आकार होगा, जो सर्वानुभवविरुद्ध है। "घटाभाववद् भूतलम्" इत्याकारक जो सार्वजनीन अभावविषयक अनुभव है उसका अपलाप भी हो जायेगा। इसके अतिरिक्त अभाव का अधिकरण स्वरूप न मानने का एक कारण और भी है। जैसे वायु

में रूप न रहने के कारण "रूपाभाववान् वायुः" यह प्रतीति होती है। यहाँ इस रूपाभाव को अधिकरण वायु स्वरूप ही मानना होगा। वायु का प्रत्यक्ष न होने से रूपाभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। नियम ऐसा है कि—यो गुणो येनेन्द्रियेण गृह्यते तन्निष्ठा जातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते" मु० वि० ८

अर्थात् जिस गुण का जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उस गुण में रहनेवाली जाति तथा उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। रूप का प्रत्यक्ष चक्षु इन्द्रिय से होने के नाते रूपाभाव का भी उसी इन्द्रिय से होगा, परन्तु रूपाभाव को वायु स्वरूप मानने पर यह प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जायेगा। तीसरी बात यह भी है कि रस मे रहनेवाला रूपाभाव, तथा रूप में रहनेवाला रसाभाव, घट-पट आदि द्रव्यों मे रहनेवाला शब्दाभाव, जल में रहनेवाला गन्धाभाव तत्तद्अधिकरण स्वरूप होने से उन उन इन्द्रियों से अग्राह्य होने लग जायेंगे। वस्तुस्थिति ऐसी है कि जो गुण जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है उसका अभाव भी उसी इन्द्रिय से गृहीत हुआ करता है। इसी प्रकार अभावों को यदि अधिकरण स्वरूप माना जायेगा तो उनका प्रत्यक्ष ही नहीं हो पायेगा जो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है।

कुछ लोग अभाव को ज्ञानस्वरूप और कुछ लोग अभाव को कालस्वरूप भी मानते हैं। परन्तु यह मत भी सर्वथा असंगत है। काल तो सर्वथा किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है। अतः कालस्वरूप घटाभाव पटाभाव शब्दाभाव रूपाभाव आदि अभावों का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। ज्ञान सर्वथा इन्द्रियों से अग्राह्य न होते हुए भी बाह्य इन्द्रिय चक्षु आदि से तो अग्राह्य हैं ही। इसलिये ज्ञानस्वरूप अभाव का भी चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिये अभाव जैसे अधिकरण स्वरूप नहीं वैसे काल स्वरूप भी नहीं मान सकते हैं—"एतेन ज्ञानविशेषकालविशेषाद्यात्मकत्वमभावस्येत्यपि प्रत्युक्तमप्रत्यक्षत्वापत्तेः" सि० मु० ७६.

अभावप्रामाण्यखण्डन—

प्रमाण शब्दार्थ है 'प्रमायाः करणम्' अर्थात् किसी भी प्रमा का जो करण हो वही प्रमाण कहलाता है। घट-पट आदि विषयक प्रमा का करण चक्षु आदि इन्द्रियां होती हैं, अतः वे प्रमाण हैं। इसी प्रकार अभाव विषयिणी प्रमा का करण अनुपलब्धि भी प्रमाण है। जिस समय किसी भी घट-पट आदि

वस्तु को किसी भूतल आदि अधिकरण में नहीं उपलब्ध कर पाते हैं तो वहाँ उस अधिकरण में घट-पट आदि के अभाव का यथार्थ रूप से निश्चय करते हैं "घटाभाववद् भूतलम्"। घट-पट आदि वस्तु को वहाँ न देखना ही उनका अभाव है। जिस भूतल आदि अधिकरण में हम घट-पट आदि वस्तुओं को नहीं देख पाते हैं वहाँ उस अधिकरण से हम उन घट-पट आदि वस्तुओं के अभाव का निश्चय कर लेते हैं। यही अनुपलब्धि प्रमाण है। चक्षु आदि इन्द्रियां से घट-पट आदि वस्तुओं की प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, इसीलिए घट-पट आदि वस्तुओं की प्रमा का करण होने से ही वे इन्द्रियां प्रमाण होती हैं। वैसे ही अभाव विषयक प्रमा का करण अनुपलब्धि है। अनुपलब्धि प्रमाण है, इसका अर्थ है अभावप्रमाण है। इसलिये अनुपलब्धि रूप अभाव को भी प्रमाण मानना अनिवार्य है। भले ही अभाव किसी कार्य के प्रति उपादान न हो, परन्तु उसे कारण मानना आवश्यक है। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। अन्धे मनुष्यों को तो सभी पदार्थों की अनुपलब्धि रहती है। घट-पट आदि पदार्थों की उन्हें अनुपलब्धि रहती है क्योंकि उन्हें किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने से घट-पट आदि पदार्थों का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः घटानुपलब्धि के नाते घटाभाव का प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु यह होना सर्वथा गलत है। यदि वहाँ अभावज्ञानार्थ चक्षु सहकृत अनुपलब्धि को कारण माना जाय तो चक्षु को ही प्रमाण मान लिया जाय। क्या आवश्यकता है स्वतन्त्र अनुपलब्धि को प्रमाण मानने की ? अभाव ज्ञान के लिये भी चक्षु आदि इन्द्रियां ही पर्याप्त है। केवल सन्निकर्षमात्र में ही अन्तर है। भावस्थल में जैसे संयोग समवायादि सन्निकर्ष अपेक्षित होते हैं, अभावस्थल में कहीं संयुक्त विशेषणता, कहीं संयुक्त समवेत विशेषणता, कहीं संयुक्त समवेत समवेत विशेषणता। अतः अभाव के साथ ये सब सन्निकर्ष चक्षु आदि इन्द्रियों से ही अभाव का प्रत्यक्ष स्वीकर करना होगा। उसके लिए अनुपलब्धि सर्वथा अनावश्यक है।

अभाव के भेद—

भाव पदार्थों की तरह अभाव की भी संख्या अनन्त है घटाभावः पटाभावः मठाभावः इत्यादि। सामान्यतः अभाव को दो भागों में विभाजित किया गया है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। भेदशब्द से व्यवहृत होनेवाले परस्पर के अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे घटः पटो न, घटो पटो न इत्यादि। अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। यह संसर्गाभाव तीन

प्रकार का होता हैं—प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। इनमें उत्पत्ति के पूर्वकालीन अभाव को प्रागभाव कहते हैं, जैसे—इह कपाले घटो भविष्यति, अर्थात् इस कपाल में घट उत्पन्न होगा। द्वितीय अभाव को पश्चादभाव-घात-विघात-नाश-विनाश आदि शब्दों से कहा गया है, जैसे "घटो ध्वस्तः" "घटो नष्टः" "घटो विनष्टः" इत्यादि। एवं तृतीय अभाव को त्रैकालिक अभाव अर्थात् त्रिकालवृत्ति अभाव। कुछ दार्शनिक लोगों ने इन तीन अभावों से अतिरिक्त एक किञ्चित्कालिक अभाव भी माना है जिसे सामयिकाभाव कहते हैं। कुछ काल के लिये प्रतीत होने वाले अभाव का किञ्चित्कालिकाभाव कहते हैं, जैसे भूतल में पहले घट नहीं, बाद में घट को ले आये, पुनः फिर घट को हटा लिया, यही सामयिकाभावपद से वाच्य किञ्चित्कालिकाभाव है।

अन्योन्याभाव—जिस अभाव की प्रतियोगिता का अवच्छेदक (नियामक) तादात्म्य सम्बन्ध हो उस अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं, जैसे—"घटः पटो न" अर्थात् घट पट नहीं है। घट का काम घट ही करता है पट नहीं,। अतः घट का तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध घट में ही है अन्य में नहीं। पट में पट का ही तादात्म्य है न कि घट का। इसी अन्योन्य के अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं। अन्योन्य नाम है परस्पर का, अर्थात् परस्पर का जो अभाव जैसे घट का पट में, और पट का घट में, इसी को अन्योन्याभाव कहते हैं। कुछ दार्शनिकों ने स्वरूप भेद को ही अन्योन्याभाव शब्द से कहा है। स्वरूप शब्द का अर्थ है आकार। इससे आकारभेद भी स्वरूपभेद के समान अन्योन्याभाव सिद्ध हुआ। घटः पटो न अर्थात् घट पट नहीं है। इसका फलित अर्थ यह हुआ कि घट और पट का आकार एक नहीं है। फलतः घट और पट आदि का पारस्परिकभेद अनुभव सिद्ध है। आकार के अर्थात् स्वरूप के भिन्न होने से उनदोनों का तादात्म्य सुतरां बाधित हो जाता है। कुछ लोगों का ऐसा भी कहना है कि अन्योन्याभाव नाम है वैधर्म्य अर्थात् विरुद्धधर्म का। घटः पटो न अर्थात् घट पट नहीं है, इसका अर्थ यह है कि घट पट के विरुद्ध धर्मवाला होने से पट नहीं हो सकता है। घट के अन्दर पटत्वरूप वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) रहता है। पट के अन्दर घटत्वरूप वैधर्म्य रहता है। इसलिये वे दोनों परस्पर के भेदवाले हैं। घट में जैसे पट का पटत्व रूप भेदात्मक वैधर्म्य है उसी प्रकार पट में घट का घटत्वरूप भेदात्मकवैधर्म्य रहता है।

प्रागभाव

प्रागभाव संसर्गाभाव का एक भेद है। कुछ दार्शनिकों ने संसर्गाभाव को अनन्योन्याभाव शब्द से भी कहा है। न अन्योन्याभाव इति अनन्योन्याभाव इस व्युत्पत्ति के आधार पर अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव संसर्गाभाव होता है। यह अनन्योन्याभावरूप संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है।

प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते ॥ भा० प० १२

तीन प्रकार के संसर्गाभाव में प्राथम्य प्रागभाव का है। प्रागभाव एक यौगिक शब्द है। उत्पतेः प्राग योऽभावः स प्रागभावः अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व में प्रतीत होनेवाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं। कपाल में घट के उत्पन्न होने के पूर्व कहा जाता है कि घट उत्पन्न होने ही वाला है, अभी उत्पन्न नहीं हुआ। अर्थात् घटो भविष्यति अथवा "घट उत्पत्स्यते" यही कहा जाता है। उत्पन्न हो जाने के पश्चात् भविष्यति अथवा उत्पत्स्यते न कहकर "घट उत्पन्न" अथवा "घटो जातः" यह वाग व्यवहार होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि इस अभाव की प्रतीति एक मात्र प्रतियोगिभूत वस्तु की उत्पत्ति के पूर्वकाल में ही होती है। घट पट आदि के उत्पन्न हो जाने पर उनकी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में वह नष्ट हो जाता है। इसी लिए प्रागभाव का लक्षण है—

विनाश्यभावात्वं प्रागभावत्वम् ॥ सि० मु० ७३

अर्थात् विनाशी अभाव ही प्रागभाव है। समस्त अभावों से इस प्रागभाव में यही एक विशेषता भी है। कोई भी अभाव विनाशी नहीं हैं। कोई नित्य है तो कोई केवल उपत्तिमान् ही है। परन्तु उनमें विनाशशील कोई भी नहीं हैं। इस प्रागभाव में एक विशेषता यह भी है कि यह अपने विरोधी प्रतियोगी की उत्पत्ति में स्वयं कारण भी होता है। प्रतियोगी की उत्पत्ति में यदि इसे कारण न माना जाय तो उत्पन्न हुए प्रतियोगी घट पट आदि पदार्थ पुनः क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं? यह अनुभवसिद्ध विषय है कि जो घट पट आदि पदार्थ एक बार उत्पन्न हो गये हैं वे पुनः उत्पन्न नहीं होते। पुनः उत्पन्न तो उनके सजातीय घट पट आदि ही पदार्थ होते हैं न कि वे ही स्वयं उत्पन्न होते हैं। एवं घट कपाल में ही क्यों उत्पन्न होता है, कपाल से अतिरिक्त प्रदेश में क्यों नहीं उत्पन्न होता? पट तन्तुओं से भिन्न देश में क्यों नहीं उत्पन्न

होता जो घट-पट आदि पदार्थ अपने उपादान कपाल या तन्तु रूप कारणों में उत्पन्न होते हैं उनसे भिन्न दूसरे कपाल या तन्तुओं से क्यों नहीं उत्पन्न होते है ? प्रागभाव को न मानने से यह एक अव्यवस्था होने लग जायेगी। उत्पत्तिशाली पदार्थों की उत्पति व्यवस्था ही स्थिर नहीं हो पायेगी। प्रागभाव की प्रतीति इह कपाले घटो भविष्यति अर्थात् इस कपाल में घट उत्पन्न होगा, न कि सामान्यतः कपाले घटो भविष्यति अर्थात् कपाल में घट उत्पन्न होगा। इसका अभिप्राय यही है जिस घट का प्रागभाव जिस कपाल में रहता है उस घट की उत्पत्ति उसी कापल में होगी न दूसरे कपाल में अथवा न दूसरे प्रदेश में।

प्रध्वंसाभाव

यह ध्वंसात्मक अभाव जन्य अर्थात् उत्पत्तिशील होता है। यह प्रागभाव की तरह स्वयं विनाशी नहीं होता है। ध्वंस का ध्वंस अथवा विनाश सर्वथा अप्रसिद्ध है। यदि ध्वंस का ध्वंस अथवा विनाश माना जायेगा तो इसका अर्थ हुआ कि जिस घट का ध्वंस हो गया उस घट की पुनः उत्पत्ति होगी, तभी ध्वंस का ध्वंस या ध्वंस का विनाश सार्थक हो सकता हैं। इस अभाव को विनाशी नहीं कहा जा सकता, बल्कि इसे उत्पत्तिशील ही कहा जाता है। घट के ऊपर किसी प्रकार भी डण्डे से प्रहार हो गया तो घट नष्ट हो जाता है उस नष्ट होने का नाम ही ध्वंस अथवा विनाश है। विद्यमानवस्तु के विषय में ध्वस्त एवं विनष्ट आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता है।

अत्यन्ताभाव

अन्योन्याभाव से भिन्न अभाव संसर्गाभाव कहा गया है जिसमें तृतीय स्थान अत्यन्ताभाव का है। यह अत्यन्ताभाव त्रैकालिक अर्थात् त्रिकालवृत्ति (तीनों कालों में रहनेवाला) माना गया है। अत्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी अथवा प्रतियोगीभूत वस्तु के शून्य देश में रहता है जैसे, रूपात्यन्ताभाव अपने प्रतियोगी रूप से सर्वथा शून्य प्रदेश वायु में रहता है। इसीलिए "रूपात्यन्ता भाववान् वायुः" यह प्रतीति निराबाध रूप से होती है। वायु में रुप न पहले था, और न आज भी है और न आगे होगा। "अत्यन्त" पद इस अभाव के साथ इसीलिए जोड़ा गया है कि बिना "अत्यन्त" पद के "वायुः रूपात्यन्ता भाववान् यह दृष्टान्त सङ्गत नहीं हो पाता है। यहाँ अत्यन्तपद व्याप्यवृत्तित्व का सूचक है, अर्थात् वायु में रूप का अभाव व्याप्यवृत्ति है। व्याप्यवृत्ति शब्द का अर्थ

है व्याप्त होकर रहना। वृक्ष में संयोग का अभाव व्याप्यवृत्ति नहीं है, क्योंकि वृक्ष के मूल प्रदेश में कापि के संयोग का अभाव होने पर भी शाखा प्रदेश में कपि आदि का संयोग है ही। इसीलिए वृक्ष में "मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोग भाववान्" यह प्रतीति निराबाध है।

कहीं किसी एक सम्बंध से घट-पट आदि प्रतियोगीभूत वस्तु के रहते हुए भी दूसरे सम्बन्ध से उसका अभाव भी रहता है। भूतल आदि प्रदेश में संयोग सम्बन्ध से घट पट आदि के रहते भी वहीं समवाय सम्बन्ध से उसका अत्यन्ता-भाव भी रहता है और वह व्याप्यवृत्ति है। इसी प्रकार कपाल में समवाय सम्बन्ध से घट के रहते भी संयोग सम्बन्ध से उसका अत्यन्ताभाव भी है।

प्रागभाव और ध्वंस से अत्यन्ताभाव की यही विशेषता है कि प्रागभाव का प्रतियोगी उत्तरकाल से सम्बन्धित होता है। ध्वंस का प्रतियोगी पूर्वकाल से सम्बन्धित है। परन्तु अत्यन्ताभाव त्रैकालिक है अर्थात् त्रिकाल सम्बन्धित है। यह प्रतियोगी शून्य प्रदेश में तीनों कालों में रहनेवाला है। प्रतियोगिता के अवच्छेदक (नियामक) सम्बन्ध से जिस प्रदेश में प्रतियागी रहता है वहाँ उस प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव कभी भी नहीं रह सकता। इसलिए अत्यन्ताभाव की स्थिति प्रतियोगी शून्य देश में मानी गयी है।

अत्यन्ताभाव की ध्वंस और प्रागभाव से एक यह भी विशेषता है कि ध्वंस अथवा प्रागभाव की प्रतियोगिता न तो किसी धर्म से ही अवच्छिन्ना (आबद्ध) मानी गयी है और न किसी सम्बन्ध से ही, परन्तु अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता धर्म और सम्बन्ध दोनों से सीमित मानी गया है।

"ध्वंसादिप्रतियोगितायां सामान्यधर्मावच्छिन्नत्वे मानाभावः गौर्नष्टेत्यादि प्रतीतेर्गोप्रतियोगिकध्वंसाद्यवगाहितयैवोपपत्तेः। बाधनिश्चयाद्यनुरोधेनैव भेदाऽ-त्यन्ताभावयोर्गोत्वाद्यवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वोपगमात्" सिद्धान्तलक्षण जाग ।-११३

घटभेद का अर्थ होता है घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद, एवं घटात्यन्ता—भाव का अर्थ होता है घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगीताक अभाव। परन्तु घटध्वंस अथवा घटप्रागभाव का यह अर्थ नहीं है—घटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकध्वंस, अथवा घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकप्रागभाव। कुछ दार्शनिको ने ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता को सम्बन्ध से अवच्छिन्न (आबद्ध-सीमित) तो माना है परन्तु धर्म अवच्छिन्न नहीं माना है। प्रागभाव की प्रतियोगिता का नियामक

सम्बन्ध पूर्वकाल को माना गया है और ध्वंस की प्रतियोगिता का अवच्छेदक सम्बन्ध उत्तर काल माना गया है।

सामयिका भाव

भूतल में जैसे पहले घट था, इसके बाद घट को हटा लिया, पुनः ले आये, वहां घट ले आने के बाद घटात्यन्ताभाव बुद्धि नहीं होती है, परन्तु होनी चाहिये क्योंकि घट के ले आने से घटात्यन्ताभाव तो नष्ट हुआ नहीं, वह तो नित्य है। कुछ दर्शनिकों ने इस अभाव को सामयिक अभाव=सामयिकाऽभाव नाम से कहा है। यह भी संसर्गाभाव ही है। यह चतुर्थ सामायिकाभाव नामक संसर्गाभाव है। इतनी ही विशेषता है कि इसे उन्होंने उत्पाद-विनाशशाली चतुर्थ अभाव माना है। प्रतियोगी के सम्बन्ध से उत्पादशाली एवं प्रतियोगी के संसर्ग के ध्वंस से विनाशशाली होने से इसे उत्पादविनाशशाली कहा गया है। इसके विषय में कुछ दार्शनिकों का ऐसा भी कथन है कि "समये-भवः सामयिकः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर समयविशेष में प्रतीत होने-वाला अभाव ही सामयिकाभाव है। इस प्रकार का अभाव कभी भी किसी भी आश्रय में हमेशा नहीं रहता है। समयविशेष में ही रहता है। पूर्वदृष्टान्त में घटाभाव भी हमेशा अपने आश्रयभूत भूतल में घट लाने के पहले अथवा घट को वहां से हटा लेने के पश्चात् ही प्रतीयमान होता है। इस प्रकार का घटाभाव वायु में रहने वाले रूपाभाव के समान भूत-भविष्यत्-वर्तमान (त्रिकाल) वृत्ति नहीं है। जैसे रूपाभाव वायु में तीनों कालों में रहनेवाला है, उसी प्रकार यह घटाभाव तीनों कालों में रहने वाला नहीं है। कुछ विद्वानों का कहना है कि यह समयविशेष पर प्रतीयमान होनेवाला घटाभाव अत्यन्ता-भाव से अतिरिक्त चतुर्थ सामयिकाभाव विशुद्ध अत्यन्ताभाव ही है। यदि यह कहा जाय कि कल्पना के आधार पर वह अतिरिक्त चतुर्थ सिद्ध हो रहा है तो यह बात ठीक नहीं है। जब कल्पना ही करनी है तो उसके अतिरिक्तत्व की कल्पना न कर वह भी अत्यन्ताभाव ही है ऐसी ही कल्पना क्यों न करली जाय? परन्तु एक यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जैसे रूपात्यन्ताभाव वायु में त्रैकालिक है, वैसे ही समयविशेष में होनेवाले इस घटाभाव को भी त्रैकालिक ही होना चाहिये? परन्तु यह सर्वथा अनुभव विरुद्ध है। समय विशेष में होनेवाले घटाभाव को त्रैकालिक स्वीकार किया जाय, तो जिस समय भूतल आदि में घट है उस समय घटाभाव कैसे वहां माना जा सकता है?

अत्यन्ताभाव नित्य एवं व्यापक माना गया है, सामयिकाभाव न नित्य हैं और न व्यापक ही है। इससे भी सामयिकाभाव को अत्यन्ताभावस्वरूप नहीं माना जा सकता है। अतः अत्यन्ताभाव सर्वथा सीमोल्लङ्घित है अर्थात् वह देश-काल आदि के सीमाबन्धन से बहिर्भूत होने से असीम है। इसी कारण से उसका नित्यत्व व्यापकत्व भी माना गया है। सामयिकाभाव सीमाबद्ध होने से सीमित है। इसीलिए सामयिकाभाववादी दार्शनिकों ने इसे अत्यन्ताभाव से पृथक् एक चतुर्थ अभाव माना है और इसकी विशेष परिस्थिति के आधार पर इसे उत्पाद-विनाशशाली माना है।

उभयाभाव का विचार

उभय अर्थात् दो वस्तुओं के अभाव को उभयाभाव कहा जाता है। यह उभयाभाव दो प्रकार से संपन्न होता है। एक प्रकार तो यही है कि जहां दोनों ही व्यक्ति हैं वहां "दोनों नहीं है" अर्थात् उभयं नास्ति इस प्रकार का वाक्यप्रयोग होता है। दूसरा प्रकार यह है कि जहां एक व्यक्ति अथवा वस्तु है वहां भी "उभयं नास्ति" अर्थात् दोनों नहीं हैं, यह वाक्यप्रयोग अथवा व्यवहार होता है। देवदत्त यहां पर है परन्तु यदि किसी से यह पूछा जाय कि क्या यज्ञदत्त और देवदत्त दोनों यहां पर हैं? इस प्रश्न का उत्तर यही होगा कि दोनों तो नहीं हैं। तन्मूलक ही नियम है कि—

"एकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्ति"

अर्थात् एक के होने पर भी दोनों नहीं है "द्वयंनास्ति" अर्थात् "उभयं नास्ति" इसी का नाम उभयाभाव है। इसी प्रकार किसी आधार में दो वस्तुओं के रहने पर भी "त्रितयं नास्ति" अर्थात् तीन नहीं हैं। तीन के रहने पर भी "चतुष्टयं नास्ति" अर्थात् चार नहीं हैं इत्यादि प्रतीतियां अबाधित रूप से चलती रहती हैं। कुछ दार्शनिकों ने उभय (दो) को एकविशिष्टअपर स्वरूप माना है। यज्ञदत्त देवदत्त दोनों का अर्थ है यज्ञदत्तसहितदेवदत्त, अर्थात् यज्ञदत्त-विशिष्टदेवदत्त। ऐसी परिस्थिति में जब कि उभय शब्दार्थ एकविशिष्ट अपर हुआ तो सिद्ध है कि उभयाभाव एकविशिष्टअपराभावरूप हुआ। विशिष्टाभावरूप होने से उभयाभाव का विशिष्टाभाव में ही पर्यवसान हो गया। इस प्रकार से उभया भाव की विशिष्टाभावरूपता स्पष्ट है—

"उभयत्वमेकविशिष्टापरत्वम्,विशिष्टं च केवलादन्यत्" जाग.सिद्धन्तलक्षरा और भी—वैशिष्ट्यातिरिक्तत्वम् उभयत्वं नास्ति" वही लक्ष्मी टीका—१००

एवम्—"विशिष्टत्वावच्छिन्नाभावस्योभयत्वावच्छिन्नाभावान तिरेकात्" सि. ल.

अर्थात् जब उभय और विशिष्ट एक हैं, अर्थात् उभय एक विशिष्टअपर स्वरूप है, तब इससे सुतरां सिद्ध है कि उभयत्व विशिष्टत्व (वैशिष्ट्य) से अतिरिक्त नहीं है। उभयत्व एकविशिष्टअपरत्व रूप है। इधर उभय और विशिष्ट जब एक होगये तो उभयाभाव औरविशिष्टाभाव एक होगये। जहां यज्ञदत्तदेवदत्तो-भयं नास्ति, यह प्रतीति होती है, वहीं यज्ञदत्तविशिष्टदेवदत्तो नास्ति, यह भी प्रतीति होती है। अतः जहां उभयाभाव की प्रतीति होती है वहीं विशिष्टाभाव की भी प्रतीति होती है। अतः समनियत अभाव को जैसे सिद्धान्त में एक माना है उसी प्रकार उभयाभाव और विशिष्टाभाव भी समनियत होने से एक ही हैं।

इस विशिष्टाभाव के प्रयोजक तीन माने गये है। कहीं विशेषण के अभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभाव होता है। कही विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव माना गया है। कहीं उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव को स्वीकार किया गया है।

व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव

कुछदार्शनिकों ने व्यधिकरण-धर्म प्रयोज्य भी एक स्वतन्त्र अभाव माना है। व्यधिकरणधर्म का अर्थ है कि अभाव के प्रतियोगी में न रहनेवाला धर्म। घटत्व पट का व्यधिकरणधर्म है और पटत्व घट का। व्यधिकरणधर्म के द्वारा प्रयुक्त होनेवाला अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव माना गया है। विभिन्नधर्म के प्रतियोगी से विशेषित अभाव ही व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न अभाव कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी अपने आधार में कोई भी आधेयभूत वस्तु जो भी रहती है वह स्वगत धर्म से पुरस्कृत होकर ही रहती है। घट अपने आधारभूत भूतल में अथवा कपाल में घटत्व रूप से ही रहेगा न कि पटत्वरूप से। इसी प्रकार पट पटत्वरूप से इत्यादि। परन्तु घटत्वरूप से पट या पटत्वरूप से घट कहीं भी नहीं रहता है। अतः घटत्व रूप से जब पट कहीं नहीं रहता है तो सिद्ध है कि घटत्वरूप से उसका (पट का) अभाव सर्वत्र रहेगा। इसका कारण है कि किसी भी व्यधिकरण धर्म के द्वारा भासमान होनेवाले प्रतियोगी का अभाव केवलान्वयी (सर्वत्र रहनेवाला) माना गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी। परन्तु यह अभावपक्ष ठीक नहीं प्रतीत होता। प्रतियोगिता का अवच्छेदक धर्म वही होता है जो प्रतियोगी में रहनेवाला होता है, जैसे घट में घटत्व, क्योंकि घटत्व घटाभाव के प्रतियोगी घट में रहता है। इसी प्रकार पट में पटत्व, क्योंकि वह भी पटाभाव के प्रतियोगी

पट से रहनेवाला धर्म है। तात्पर्य यह है कि जैसे साध्य में रहनेवाला धर्म साध्यतावच्छेदक होता है, पक्ष में रहनेवाला धर्म पक्षतावच्छेदक होता है, आधेय में रहनेवाला धर्म आधेयता-वच्छेदक इत्यादि। इसी प्रकार प्रतियोगी में रहनेवाला धर्म प्रतियोगितावच्छेदक होता है। परन्तु प्रतियोगी में न रहनेवाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं होता है—प्रतियोग्यवृत्तिश्च धर्मो न प्रतियोगितावच्छेदकः।'' व्यधिकरण

यहाँ व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नाभाव का समर्थन प्रतियोगी में न रहनेवाले धर्म के द्वारा ही किया जाता है, यह कैसे संगत हो सकता है, क्योंकि पूर्वोक्त कथन से प्रतियोगी में न रहनेवाला धर्म प्रतियोगिता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है ? 'घटत्वरूप से पट नहीं' और पटत्वरूप से घट नहीं अर्थात् ''घटत्वेन पटोनास्ति'' और ''पटत्वेन घटो नास्ति'' इत्यादि अबाधित प्रतीतियाँ देखने में आती हैं। इसका उत्तर यही है कि ये अप्रामाणिक प्रतीतियाँ हैं, जैसे— ''शशश्रृङ्ग नास्ति'' ''वन्ध्यापुत्रो नास्ति'' ये प्रतीतियाँ अप्रमाणिक है। उसी प्रकार यह व्यधिकरण से पुरस्कृत अभाव की प्रतीतियाँ भी सर्वथा अप्रामाणिक है।

—: * :—

दशम अध्याय

ईश्वर-विचार

ईश्वर विचार प्राच्य दर्शन का प्रमुख विषय है। यदि भारतीय दर्शन को ईश्वर केन्द्रित कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं। प्रायः भारतीय दर्शनिक ईश्वर का अस्तित्व निर्विवाद स्वीकार करते हैं। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों में से किसी एक भी पुरुषार्थ को चाहनेवाले लोगों ने किसी न किसी रूप में परमात्मा को अवश्य ही स्वीकार किया है। उसमें किसी भी दार्शनिक को सन्देह नहीं। उदयनाचार्य ने कहा है—

"तस्मिन्नेवं जाति-गोत्र-प्रवर-चरण-कुछ-धर्मादिवदासंसारं सुप्रसिद्धानुभवे भगवति-भवे सन्देह एव कुतः ? इति किं निरूपणीयम् तथापि" न्या. कु. १७.

अद्वैतवेदान्ती लोगों ने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले को ही ईश्वर माना है। कपिलमतानुयायी सांख्यदार्शनिकों ने आदि विद्वान् एवं सिद्ध अर्थात् अणिमा-महिमा आदि आठ प्रकार के ऐश्वर्यों से संपन्न को ही ईश्वर माना है। पतञ्जलि-मतानुयायी योगदर्शन वालों ने क्लेश कर्म-विपाक (कर्मफल = भोग) आशय (धर्मा-धर्म) से सर्वथा विनिर्मुक्त, तथा जगत् के निर्माण के लिये शरीर धारण कर वेदादिसंप्रदाय के द्योतक एवं सृष्टि के आरम्भ में घट-पट आदि निर्माण कला के शिक्षक को ही ईश्वर स्वीकार किया है। महापाशुपतमतानुयायी दार्शनिकों ने लोकविरुद्ध (सर्प आदि को धारण करना) वेद विरुद्ध अर्थात् लिंग पुराण के १९ वें अध्याय में वर्णित दारु-बन-द्विज-वधू-विध्वंसन आदि से उपलक्षित होता हुआ भी जो निर्लेप (पापात्मकलेप से रहित) है वही ईश्वर है। शैवदार्शनिकों ने शिव को ही ईश्वर स्वीकार किया है। वैष्णवदार्शनिकों ने विष्णु को पुरुषोत्तम कहकर ईश्वरमाना है। इसी प्रकार पौराणिकों ने "पिता-मह" के रूप में ही ईश्वर का अंगीकार किया है। याज्ञिक लोगों ने "यज्ञपुरुष" को ही ईश्वर स्वीकार किया है। बौद्धदार्शनिकों ने 'क्षणिक सर्वज्ञ' के रूप में ही ईश्वर को माना है। जैन दार्शनिकों ने "निरावरण" अर्थात् क्लेश से सर्वथा शून्यतत्त्व को ही ईश्वर कहा है। मीमांसकों ने उपासनीयमंत्र आदि को ही ईश्वर स्वीकार किया है—चार्वाक दार्शनिकों ने लोकव्यवहार

सिद्ध राजा आदि को ही ईश्वर माना है। नैयायिक लोगों ने इन सब कहे हुए में जो प्रामाणिक हो उसी को ईश्वर माना है। शिल्पी (कारीगर लोग) भी जिस ईश्वर को विश्वकर्मा के रूप में पूजते हैं तथा उपासना करते हैं वही ईश्वर है। अतः ईश्वर के अस्तित्व में तो किसी को भी सन्देह नहीं है। ईश्वर तत्त्व तो सर्वथा असंदिग्ध विषय है।

"श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुति स्मृतीतिहास पुराणादिषु" न्या. कु. १७

जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है ईश्वर विचार भारतीन दर्शन का प्रमुख अंग है, परन्तु न्याय वैशेषिक की विशेषता यह है कि जहाँ अन्य आस्तिक दार्शनिक ईश्वर को केवल श्रुतिगम्य मानते हैं वहाँ नैयायिक ईश्वर को अनुमान गम्य भी मानता है। तात्पर्य यह है कि अन्य दर्शनों में ईश्र को श्रुति साध्य माना गया है। नैयायिक चारों प्रमाण से ईश्वर की सत्ता सिद्ध करते हैं। इन प्रमाणों में भी अनुमान पर अधिक बल देकर ईश्वर को अनुमानगम्य सिद्ध किया गया है।[1] श्री उदयनाचार्य ने तो 'प्रमाणैकगम्यं शिवं' कहकर अवाङ्मन-सगोचर अप्रमेय (यो बुद्धे परतस्तु सः-गीता) ईश्वर को भी प्रमाणगम्य अर्थात् प्रमेय सिद्ध किया है। अन्य आस्तिकों के लिए ईश्वर या तो श्रुतिगम्य या अनुभूतिगम्य है। श्रुतिगम्य—यदानिः श्वसितम् वेदाः, अमुमूतिगम्य—स्वानु भूत्येकमानाय—भर्तृहरि। न्याय वैशेषिक में ईश्वर पुरुष विशेष को माना गया है। ईश्वर तीनों लोकों का निर्माणकर्त्ता है। वह नित्य आनन्दमूर्ति, कृपाधाम है। वह लौकिक कर्त्ता नहीं वरन् क्लेश, कर्म आदि से रहित पुरुष विशेष है—

वेदस्त्र पुरुषः कर्त्ता न हि यादृशतादृशः।
किन्तु त्रैलोक्य निर्माणनिपुणः परमेश्वरः॥
स देवः परमो ज्ञाता नित्यानन्दः कृपान्वितः।
क्लेशकर्मविपाकादिपरामर्शविवर्जितः॥ न्या मं पृ १७५

---

1. One special point about God as understood here is that his ezistence is extablished through infernce and not through revelation as in the vedanta. The doctrine thus gives prominence to reason as elsewhere. Out lines of Indian phil by M. Hiriy anna p. 243.

न्याय और वैशेषिक का प्रारम्भिक स्वरूप सम्भवतः ईश्वरवादी नहीं प्रतीत होता। वैशेषिक सूत्रों में कहीं भी ईश्वर का उल्लेख नहीं, न्यासूत्र में भी बहुत ही अल्पमात्रा में ईश्वर विचार है। परन्तु प्रशस्तपादभाष्य तथा वात्स्यायनभाष्य में ईश्वर विचार है। बाद के व्याख्याकारों ने कुछ सूत्रों का संकलन किया है जिनसे सूत्रों में ईश्वर वर्णन की झलक मिलती है—तद्वचनादाम्नायस्य प्रमाण्यम् ।१।१।३, संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्, प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मणः २।१।१८१०, सामयिकः शब्दार्थ सम्प्रययः ६।२।२० इस प्रकार सूत्रों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध प्रायः समझी जाती है। सत्य चाहे जो भी हो इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूत्रकाल में ईश्वर विचार गौण विषय था। प्रशस्तपाद तथा वात्स्यायन ने इसको प्रधान विषय बनाया। बाद के न्याय वैशेषिक दर्शन के अवलोकन से सिद्ध है कि ईश्वर सर्वप्रमुख विषय है। श्रीधर जयन्तभट्ट, उदयनाचार्य प्रभृति विद्वानों के दर्शन में ईश्वर विचार केन्द्रीय विचार है।

नैयायिक तथा वैशेषिकों ने आत्मा को जीवात्मा तथा परमात्मा इन दो भागों में विभाजित किया है। उनमें से परमात्मा अर्थात् ईश्वर को जगन्नियन्ता जगदीश्वर-जगत्पिता आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। दोनों आत्माओं में अन्तर इतना ही है कि जीव के ज्ञान-इच्छा एवं प्रयत्न आदि गुण अनित्य हैं, ईश्वर के नित्य हैं। इसीलिये नित्य ज्ञानाद्यधिकरणमीश्वरः" यह ईश्वर का लक्षण किया जाता है। ईश्वर को ही जीवकृतकर्मों के फल का दाता भी माना गया है—

"ईश्वरः करणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" गौतमसूत्र—४।१।१९

"पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति। तेनाऽनुमीयते—'पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम्' इति, यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणम्।" वात्स्यायनभाष्य— ६८१

अर्थात् पुरुष जो कुछ भी कार्य अथवा प्रयत्न करता है वह सर्वथा सफल ही हो ऐसा देखने में नहीं आता है। इससे यह निश्चित है कि पुरुष (जीव) का कर्मफल पराधीन है। जिस के अधीन है वही ईश्वर है। इस प्रकार के गुणगण से विशिष्ट होने के नाते ही वह पुरुषोत्तम कहलाता है। कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है, शास्त्रोचित कर्म और अनुचित दोनों में। परन्तु उन कर्मों का

तदनुसार फल देना ईश्वर के हाथ है। अतः फलदाता वही है। इसीलिये ईश्वर सर्वज्ञ है। वह जीव के समस्त कर्मों को जानता है—किस जीव ने कौन-कौन कर्म किये और उन २ कर्मों के कौन-कौन से फल हैं इत्यादि—

"पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृण्हाति, फलाय पुरुषस्य
यतमानस्येश्वरः फलं संपादयति" वात्स्यायन ४।१।२१

इतना ही नहीं है—ईश्वर स्वयं फल के लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुष (जीव) का सहायक बनता है। उसके फलप्रदान के लिये अनुग्रह करता है। जब प्रयत्नशील जीव को अनुकूल फल प्राप्त नहीं होता तो उस जीव के ऊपर ईश्वर अनुग्रह नहीं है। ईश्वर के अन्दर धर्मसमाधि के फलभूत अणिमा-गरिमा-लघिमा आदि आठों प्रकार के ऐश्वर्य रहते हैं, जिनका जीव में सर्वथा अत्यन्ताभाव है। ईश्वर जीव के संकल्पानुसार करने अथवा न करने में पूर्ण समर्थ है। वह प्रत्येक आत्मा में रहनेवाले धर्म तथा अधर्म को पृथिव्यादि भूतों में प्रवर्तित करता है—

"प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति।" वा.भा.६८४

वास्तव में जगन्निर्माण का हेतु भी जीवकृतकर्म के फल को ही समझना चाहिए। ईश्वर आप्तकाम है तथा आप्तकल्प है। जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के लिये निःस्वार्थ अनुग्रह करता रहता है उसी प्रकार ईश्वर भी विश्व के प्राणियों पर बराबर अनुग्रह करता रहता है। परन्तु वह अनुग्रह भी उन्हीं प्राणियों के ऊपर वह करता है जो प्राणी उसके आदेश पर चलते हैं। शास्त्र ही उसका आदेश है—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" गीता—

ईश्वर के विषय में प्रमाण

ईश्वर ही इस चराचर विश्व का रचयिता है; और वही पालन तथा संहार कर्त्ता है—

"द्यावाभूमी जनयन् देव एक विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्यगोप्ता" सि. मु. ३१ में

वह इस विश्व की रचना शून्य से नहीं करता है बल्कि नित्यपरमाणुओं से काल-दिशा-आकाश तथा मन एवं आत्माओं से करता है। ईश्वर से सम्बन्धित नित्य सत्ताओं का जगद् में रूपान्तर को प्राप्त हो जाना ही विश्वनिर्माण अथवा संसार की रचना कहलाती है। ईश्वर इस विश्व का आदि निर्माता है न कि

उपादानकारण है। पालन और संहार का कर्त्ता भी वही है। उसी की इच्छारूपी आदेश के अनुसार यह विश्व सुस्थिर रहनेवाला है। ईश्वर सिद्धि के लिये श्री जयन्त भट्ट तथा श्री उदयन का नाम विशेष प्रसिद्ध है। दोनों ने सबसे पहले पूर्णपक्ष उपस्थित किया है पुनः ईश्वर मंडन ।

श्री जयन्त भट्ट कहते हैं कि ईश्वर किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? 'त्रैलोक्य निर्माणनिपुण' ईश्वर की सत्ता में प्रमाण क्या है ? ईश्वर प्रत्यक्षप्रमाणगम्य नहीं क्योंकि रूपादि के समान ईश्वर चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं। सुखादि के समान ईश्वर मानस प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं। ईश्वर का योगज प्रत्यक्ष भी अप्रसिद्ध ही है। अनुमान तो प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। अतः यदि ईश्वर प्रत्यक्षगम्य नहीं तो अनुमानगम्य भी नहीं। ईश्वरानुमान में कोई व्याप्ति नहीं बनती। घटादि के प्रति कुलाल-कर्तृत्व सिद्ध है वैसे पृथ्वी आदि कार्यों के प्रति ईश्वर कर्तृत्व सिद्ध नहीं। ईश्वर परमकारुणिक भी नहीं क्योंकि जगत् में दारुण दुख भी है। यदि अनुमान में ईश्वरसिद्धि का सामर्थ्य नहीं तो उपमान की कथा ? आगम प्रमाण से भी ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। आगम तो ईश्वर प्रणीत है। अतः आगम से ईश्वर सिद्धि तो अन्योन्याश्रय दोष ग्रस्त है। इस प्रकार चारो प्रमाणों से ईश्वर असिद्ध है—

तत्रा हीश्वरसद्भावो न प्रत्यक्षप्रमाणकः ।
न ह्यसावक्षविज्ञाने रूपादिरिव भासते ।।
न च मानसविज्ञान संवेद्योऽयं सुखादिवत् ।
भोगिनाम प्रसिद्धत्वान्न तत्प्रत्यक्षगोचरः ।।
प्रत्यक्षप्रतिषेधेनतत्पूर्वकमपाकृतम् ।
अनुमानमविज्ञाते तस्मिन् व्याप्त्यनुपग्रहात् ।।
न च सामान्यतोदृष्टं लिंगमस्यास्ति किंचन ।
क्षित्यादीनां तु कार्यत्वमसिद्धं सुधियः प्रति ।।
करूणाऽमृत संसिक्तहृदयो वा जगत् सृजन् ।
कथं सृजति दुर्वारदुःखप्राग्भारदारूणम् ।।
नानुमानस्य सामर्थ्यमुपमाने तु का कथा ।
किं चागमस्य प्रामाण्यं तत्प्रणीतत्वहेतुकम्
तत्प्रामाण्याच्च तत्सिद्धिरित्योन्याश्रयं भवेत् ।। न्या० मं० १७५.

इसी प्रकार श्री उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जली में ईश्वर विरोधी तर्कों को पाँच विप्रतिपत्तियों में दर्शाया है ।

न्यायकुसुमाञ्जली में पाँच स्तवक हैं । प्रत्येक स्तवक में पूर्वपक्ष रूप में एक एक विप्रतिपत्ति उपस्थित की गयी है । प्रत्येक स्तवक में उनका उचित समाधान भी दिया गया है । सर्व प्रथम विप्रतिपत्ति चार्वाकमत से—अलौकिकस्य परलोक साधनस्याभावात् । दूसरी विप्रतिपत्ति मीमांसक की दृष्टि से है—अन्यथापि परलोकसाधनानुष्ठानसम्भवात् । तीसरी विप्रतिपत्ति बौद्ध मत से है—तदभावा-वेदक प्रमाणसद्भावात् । चौथी विप्रतिपत्ति जैन दृष्टिकोण से है—सत्त्वेऽपि तस्याप्रमाणत्वात् । पाँचवी विप्रतिपत्ति सांख्यमतानुसार है—तत्साधकप्रमाणा-भावाच्चेति ।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर के साधक अनेक प्रमाण हैं, जैसे—प्रत्यक्षप्रमाण, अनुमानप्रमाण-एवं शब्द प्रमाण । योगी पुरुष अपने योग-समाधिजन्य प्रत्यक्ष के आधार पर भूतभावी समस्त परोक्ष विषयों का तथा ईश्वर का दर्शन करने में समर्थ देखे जाते हैं । इससे ईश्वर भी प्रत्यक्षप्रमाणगम्य सिद्ध होता है—

तदेवं क्षीणदोषाणां ध्यानावहितचेतसाम् ।
निर्मलं सर्वविषयं ज्ञानं भवति योगिनाम् ॥ न्यायमञ्जरी— ९८

ईश्वर की अनुमानप्रमाणगम्यता

ईश्वर की उदयनाचार्य ने सिद्धि निम्नलिखित कारिका के आधार पर नव अनुमानों के द्वारा की है ।

कार्यायोजनधृत्यादेःपदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः । न्यायकुसुमाञ्जलि—पं. स्त.

(१) कार्यत्व
(२) आयोजन (कर्म)
(३) धृति (गुरुभूतपदार्थों का पतनाभाव)
(४) विनाश-(प्रलयकाल में ब्रह्माण्ड विनाश)
(५) पद-व्यवहार, (घट-पट आदि शब्द रूप व्यवहार)
(६) प्रत्यय-प्रामाण्य, (वेदजन्या शाब्दीप्रमा)
(७) श्रुति-वेद, (ऋगादि वेद)

(८) वाक्यत्व—(ऋगादिवेद वाक्यत्वं)

(६) संख्याविशेष—(द्व्यणुकपरिमाणजनिका संख्या)

इन नौ हेतुओं से अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है।

(१) कार्यत्व—कार्यत्वात्, अनुमान यह निष्पन्न हुआ कि -'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत्, सकर्तृकत्वं च उपादान गोचर-अपरोक्ष ज्ञान चिकीर्षा कृतिमज्जन्यत्वम्—अर्थात् पृथ्वी आदि पदार्थ सकर्तृक हैं, कार्य होने से। पृथ्वी आदि पदार्थों का जो भी कर्ता है वही ईश्वर है। साधारण रूप से कर्त्ता वही होता है जो किसी कार्य के उपादानकारण का अपरोक्षज्ञान रखता हो, एवं उस कार्य को करने की इच्छा रूप चिकीर्षा जिसे हो, तथा उस कार्य को करने का प्रयत्न (कृति) वाला हो। कुलाल (कुम्हार) घटरूपकार्य के उपादान-कारण मृत्तिका आदि का अपरोक्ष ज्ञान भी रखता है और उस मृत्तिका से घट को जब बनाने की इच्छा एवं प्रयत्न करता है तभी वह उस घट का कर्त्ता हो पाता है। उसी प्रकार इस जगत् रूप कार्य के उपादानकारण पृथ्वी आदि के परमाणु हैं। उन परमाणुओं के प्रत्यक्षज्ञानवाला, तथा उन परमाणुओं से स्थूलपृथ्वी आदि कार्यों को उत्पन्न करने की इच्छारूप चिकीर्षावाला एवं उसके निर्माण के लिये प्रयत्न अर्थात् कृतिवाला जो भी हो वही जगत् का कर्त्ता ईश्वर है। नवीननैयायिकों ने केवल लाघव की दृष्टि से "कृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्" ही स्वीकार किया है। इससे भी जगद्विषयक कृतिवाला अर्थात् इस चराचर विश्व को उत्पन्न करने में प्रयत्नशील जो हो वही ईश्वर है।

(२) "आयोजन" नाम कर्म का है। यह ईश्वर का साधक दूसरा हेतु है। अर्थात् "सर्गाद्यकालीनद्व्यणुकारम्भक परमाणुद्वयसंयोगजनकं कर्म-चेतनप्रयत्न-पूर्वकम्-कर्मत्वात्-अस्मदादि कर्मवत्"

प्रलय के बाद सर्गाद्यकालीनद्व्यणुक का आरम्भक परमाणुद्वयसंयोग है। उस संयोग का कारणीभूत कर्म किसी चेतनपुरुष के प्रयत्न से जन्य है, कर्म होने से, हम लोगों के प्रयत्न से जन्य कर्म के समान। अतः उन दोनों परमाणुओं के संयोग का कारणीभूत कर्म जिस किसी भी चेतनपुरुष के प्रयत्न से जन्य है वही चेतनपुरुष ईश्वर है।

(३) "धृति" नाम है गुरुभूत पदार्थों के पतन का अभाव। "ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकीभूतप्रयत्नवदधिष्ठितम् धृतिमत्त्वात् वियति विहङ्गमधृत-काष्ठवत्" कु० हरि०

ऊपर के ब्रह्माण्ड आदि पतन के प्रतिबन्धक किसी चेतन महापुरुष के प्रयत्न से अधिष्ठित हैं—धृति वाला होने से आकाश में जैसे पक्षी काष्ठ तिनका आदि किसी गुरुभूतपदार्थ को लेकर घूमते रहते हैं और उसे गिरने नहीं देते। उसी प्रकार ऊपर के ब्रह्माण्ड एवं लोक-लोकान्तर भी किसी चेतन पुरुष के ही प्रयत्न से धारण किये गये हैं जो प्रयत्न इन्हें नीचे गिरने नहीं देता। यह प्रयत्न वाला पुरुष ईश्वर है।

(४) "विनाश" अर्थात् ब्रह्माण्ड आदि का विनाश।

"ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यं विनाशित्वात् पाट्यमानपटवत्" कु. १७०

प्रलकाल में जब समस्त जन्यपदार्थों अथवा जन्यद्रव्यों का विनाश होता है तो ये समस्त ब्रह्माण्ड अथवा यत्किञ्चित (कोई एक) ब्रह्माण्ड किसी चेतन पुरुष के प्रयत्न से ही विनाश्य हैं। यह ब्रह्माण्ड विनाश जिस चेतन पुरुष के प्रयत्न से जन्य है वही चेतन पुरुष ईश्वर है। किसी भी जीवात्मा का प्रयत्न ब्रह्माण्ड के विनाश का कारण नहीं हो सकता है। पारिशेष्यात् ईश्वर के प्रयत्न को ही ब्रह्माण्डनाश का कारण मानना उचित है।

(५) "पद" नाम है व्यवहार का

"पद्यते (ज्ञायते) ऽनेनेति पदं व्यवहारः" कु. हरि: १७१

अर्थात्—"पटादिसम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्यः
व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादि व्यवहारवत्"

पट शब्द को सुनकर लोगों को आतात-वितान भावापन्न पट रूप अर्थ का ही ज्ञान होता है न कि घट रूप अर्थ का। इसी प्रकार घट शब्द को सुनकर कम्बुग्रीवादिमान घटरूप अर्थ का ज्ञान होता है न कि पटरूप अर्थ का। इस प्रकार उन-उन शब्दों को सुनकर लोगों को उन्हीं २ अर्थों का ज्ञान होता है जिन २ अर्थों में उन २ शब्दों का संकेत देखने में आता है। इस प्रकार अनुमान से यह सिद्ध होता है कि उन २ अर्थों में जो उन २ शब्दों का यह व्यवहार देखने में आता है वह किसी सर्वज्ञ एवं स्वतन्त्र पुरुष से प्रयोज्य है। यह व्यवहार-प्रयोजकता जीवात्मा में संभव नहीं है, अतः जो इस व्यवहार का प्रायोजक है वही स्वतन्त्र पुरुष ईश्वर है।

(६) "प्रत्यय" नाम है प्रामाण्य का।

"वेदजन्यज्ञानं कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादि प्रमावत्" कु० हरि० १७१.

अर्थात् वेदवाक्य से होनेवाला यथार्थज्ञान उस वाक्य के उच्चारयिता किसी पुरुष विशेष के यथार्थ ज्ञानरूप गुण से जायमान है प्रमाज्ञान होने से प्रत्यज्ञादि प्रमाज्ञान की तरह। इसलिए वह जो भी वेद का वक्ता पुरुष है उसी के यथार्थ ज्ञान से जन्य हैं। ऋगादिवेदों का वक्तृत्व जीव में कदापि संभव नहीं है कारण कि बीच-२ में प्रलय होने से अध्यापक परम्परा भी संभव नहीं है। अतः वेद का वक्ता सूक्ष्मातिसूक्ष्मदर्शी ईश्वर को ही मानना होगा।

(७) "श्रुति" नाम है वेद का।

"वेदः पौरुषेयः वेदत्वात् आयुर्वेदवत्,, हरि० १७१.

अर्थात् ऋगादि चारों वेद पुरुषनिर्मित अथवा पुरुषोच्चरित हैं वेदरूपहोने से आयुर्वेद की तरह। जिस प्रकार आयुर्वेद को जन्म देनेवाले धन्वन्तरि प्रभृति हैं, उसी प्रकार विशुद्ध वेद को जन्म देनेवाले जो भी है अथवा वेद का उच्चारण करने वाले सृष्टि के प्रारम्भ में जो भी है वही ईश्वर है।

(८) "वाक्यत्व" नाम है ऋगादिवेदवाक्यत्व का।

"वेदः पौरुषेयः वाक्यत्वात् भारतादिवत्"

"वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्,, हरि. १७२.

ऋक्-यजु आदि चारों वेद अथवा वेदवाक्य पौरुषेय हैं, अर्थात् पुरुषोच्चरित या पुरुषनिर्मित हैं, हमलोगों के वाक्य की तरह। अतः इनका उच्चारयिता अथवा निर्माता जो भी है वही ईश्वर है।

(९) "संख्याविशेष" नाम है द्वयणुक आदि के परिमाण के करणीभूत संख्या का—द्वयणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणप्रचयाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् तुल्यपरिमाणक कपालद्वयारब्धघटपरिमाणवत्, प्रकृष्ट तादृशकपालत्रयारब्ध घटपरिमाणवद् वा" हरि. १७२.

अर्थात् द्वयणुकादि परिमाण दो परमाणुओं में रहने वाली द्वित्वसंख्या से जन्य है। वह परिमाण परिमाण से भी जन्य नहीं है, प्रचय से भी जन्य नहीं है। अतः पारिशेष्यात् उसे संख्या जन्य ही मानना होगा। वह द्वयणुक परिमाण का कारणीभूत दो परमाणुओं में रहनेवाली द्वित्व संख्या अपेक्षा बुद्धि जन्य है। परमाणुओं में रहनेवाली द्वित्व संख्या ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से जन्य है। सृष्टि के प्रारंभ में न तो स्थूलपदार्थ द्रष्टा शरीरधारी जीवात्मा ही है, और

न कोई सादियोगी हो है। अत. पारिशेष्यात् उस अपेक्षाबुद्धि का कारण अथवा आश्रय ईश्वर ही को मानना होगा।

ईश्वर में शब्द प्रमाण

ईश्वर के विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण का उल्लेख हो चुका है। उनके आधार पर यह निर्विवाद विषय है कि ईश्वर है। वही प्राणिमात्र को उनके अच्छे बुरे कर्मों का फल देनेवाला है तथा जगन्नियन्ता जगत्पिता जगदीश्वर है। वही इस चराचर विश्व का कर्ता-धर्त्ता एवं गोप्ता है। इस प्रकार के गुणगणविशिष्ट ईश्वर में शब्द का प्रामाण्य भी—

"द्यावाभूमी जनयन् देव एकः विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" सि.मु.३१मेंउद्धृत। स्वर्ग और भूमि को उत्पन्न करनेवाला एक ईश्वर है। वह विश्व का कर्त्ता तथा गोप्ता है।: ईश्वर मुपासीत—ईश्वर की उपासना करनी चाहिए। यः सर्वज्ञः स सर्ववित् सामान्य तथा विशेष रुप से वह सबको जाननेवाला अर्थात् सर्वज्ञ है। यस्य ज्ञानमयं तपः—जिस ईश्वर का ज्ञानमय ही तप है।

सोऽकामयत—उस ईश्वर ने इच्छा की इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

एवं—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।

सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमिजनयन देव एक ॥ नारायणोपनिषद मं २

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति सर्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तमिति ॥ श्वेत १९

अपिच—पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक् साम यजुरेव च ॥ गीता ९–१७

हे अर्जुन ? इस समस्त चराचर विश्व का धाता अर्थात् धारण-पालन करनेवाला मैं ही हूँ। एवं समस्त कर्मों का फल देनेवाला भी मैं ही हूँ। इस जगत् का पिता-माता तथा पितामह भी मैं ही हूँ। एवं ज्ञानगम्य तथा ज्ञानस्वरूप पवित्र ओंकार और ऋग्वेद सामवेद-यजुर्वेद भी मैं ही हूँ। इत्यादि रूप से ऊपर निर्दिष्ट ईश्वर शब्द प्रमाण के आधार पर सिद्ध है।

अन्त में श्री जयन्त भट्ट कहते हैं कि आचार्य उदयन की युक्तियों के आधार पर त्रैलोक्यनिर्माण परमेश्वर का अस्तित्व सिद्ध है। कुतर्क के आधार पर कुतार्किक नास्तिकों का ईश्वर का असत्त्व सिद्ध करना अर्थात् 'नेश्वरो जन्मिनां हेतुरुत्पत्ति विकलत्वतः' इत्यादि रूप से कथन करना सर्वथा प्रलाप मात्र है। निरपवाद

रूप से दृढ़ प्रमाण से सिद्धस्वरूप उस ईश्वर का अनङ्गीकार करना एक मात्र उनकी मूर्खता है—

तस्मात् कुतार्किकोद्गगीत दूषणाभासवारणात् ।
सिद्धस्त्रैलोक्य निर्माण निपुणः परमेश्वरः ॥
ये त्वीश्वरं निरपवाद दृढ़ प्रमाण सिद्ध स्वरूपमपि नाभ्युपयन्ति मूढ़ाः ।
पापाय तैः सह कथापि वितन्यमाना जायते नूनमिति युक्तमतो विरन्तुम्
न्या० मं० १८७ ॥

ईश्वर—शरीर का विचार—

आत्मा को पहले नैयायिक तथा वैशेषिकों ने दो भागों में विभाजित किया है—जीवात्मा तथा परमात्मा। उनमें जीवात्मा तो सशरीर है, परन्तु ईश्वर शरीरवाला है या नहीं यह एक विचारणीय विषय है। यदि ईश्वर शरीरवाला है तो वहां यह प्रश्न होता है कि ईश्वर का शरीर आकाश आदि के समान परममहत्त्व परिमाणवाला है, अथवा घट-पट आदि की तरह मध्यम-परिणामवाला है, या परमाणु आदि की तरह अणुत्व परिमाणवाला है ? परममहत्त्व परिमाणवाला यदि ईश्वर को शरीर मानते हैं तो वहां यह एक कठिनाई उपस्थित हो जाती है कि (गूलर आदि) फलों के अन्दर जो जीव पैदा होते है उनके शरीर का निर्माण उन फलों के अन्दर ईश्वर कैसे करता ह ? कार्यमात्र का उत्पादक होने से ईश्वर ही उस शरीर का भी उत्पादक है। यदि मध्यममहत्त्व परिमाणवाला ईश्वर का शरीर मानते हैं तो घट-पट आदि के समान उसे अनित्य मानना होगा, क्यों कि मध्यम परिमाणवाली सभी वस्तुएँ अनित्य मानी गयी हैं। हमलोगों का शरीर भी मध्यम परिमाणवाला होने के नाते ही अनित्य माना गया है। इश्वर के शरीर को अनित्य कहना तो सर्वथा असंभव है क्योंकि अनित्य शरीरवाला ईश्वर द्वचणुक आदि का कर्ता कैसे हो सकता है ? दूसरी बात यह भी है कि मध्यम परिमाणवाला वह ईश्वर का शरीर जिस देश में रहेगा वह उसी देश में कार्य का उत्पादन भी कर सकता है अन्य देश में नहीं। इससे ईश्वर का मध्यम परिमाणवाला शरीर भी नहीं माना जा सकता है। यदि ईश्वर का अणु परिमाणवाला शरीर माना जाय तो वह भी नहीं बनता है, क्योंकि ईश्वरएक ही काल में सब देशों में सब कार्यों की उत्पत्ति करता है। अणु शरीरावच्छिन्न ईश्वर एक काल में किसी एक देश विशेष में ही कार्य की उत्पत्ति कर सकता है

उससे अतिरिक्त देश में नहीं। एवं अणु शरीर मानने पर दूरस्थ कार्य के उत्पादकत्व की भी उपपत्ति नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त शरीर का लक्षण भी अणु शरीर पक्ष में समन्वित नहीं हो पारहा है। चेष्टावान् अन्त्यावयवी ही शरीर का लक्षण है। यह लक्षण अनित्य शरीर में ही समन्वित हो पायेगा न कि नित्य शरीर में। चेष्टावदन्त्यावयवित्व रूपशरीरत्व चेष्टवान् जो अन्त्यावयवी शरीर होगा उसी में जा सकता है न कि नित्य शरीर में। नित्यमात्र अन्त्यावयवी नहीं हो सकता है, क्योंकि अवयवी मात्र को दीधितिकार ने विनाशी बतलाया है तथा अवयवी का विनाशी होना अनुभव सिद्ध भी है। दूसरी बात यह भी है कि ईश्वर का यदि शरीर माना जायेगा तो उसमें चेष्टा भी अवश्य माननी होगी। चेष्टा शरीर का धर्म है। चेष्टा शरीर में ही होती है। कर्त्ता होने के लिये चेष्टा का होना भी परमावश्यक है। जिस प्रकार घट का कर्त्ता होने के लिये कुम्भकार के शरीर में चेष्टा का होना सर्वथा आवश्यक है। चेष्टा के बिना वह घट का कर्त्ता नहीं हो सकता है।

—:*:—

एकादश अध्याय

आत्म-निरुपण

नैयायिक तथा वैशेषिकों ने आत्मा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है। उसका लक्षण बतलाया गया है—

"ज्ञानाद्यधिकरणमात्मा-" तर्कसंग्रह—पृ० ६

अर्थात् ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न आदि गुणों का जो आश्रयभूत द्रव्य है वही आत्मा है। इसी ज्ञान गुण को "चेतनाशक्ति" भी कहा गया है। जिस द्रव्य के अन्दर यह ज्ञानात्मक चेतनाशक्ति पायी जाती है वही उस ज्ञानात्मक चेतना शक्ति का आधारभूत द्रव्य आत्मा है। वह नित्य है। उसकी नित्यता का प्रमाण यही है कि उस आत्मारूप द्रव्य को नित्य मानने पर ही कर्म और कर्मजन्य फल इन दोनों का नियम बन सकता है। मनुष्य अच्छा या बुरा कर्म करता है। उस कर्म से होनेवाले अच्छे-बुरे फल का भागी भी वही होता है। इससे यह सिद्ध है कि कर्त्ता और भोक्ता एक है। दूसरी बात यह है कि आंखों से किसी वस्तु को देख लेने के पश्चात् त्वगिन्द्रिय के आधार पर किसी शरीरावयव के द्वारा उसी पूर्वदृष्ट वस्तु का स्पर्श भी होता है। उसी के विषय में यह प्रतीति भी प्रमाण है—

"यमहं घटमद्राक्षं तमहमिदानीं स्पृशामि"

इन दोनों इन्द्रियों से उत्पन्न चाक्षुष और स्पार्शन प्रत्यक्षात्मक ज्ञानों का ग्रहण करनेवाला वह चेतनतत्त्व एक है या दो? अर्थात् देखनेवाला और स्पर्श करनेवाला ये दो तत्त्व हैं—अथवा इन दोनों का ग्राहक तत्त्व एक है? पूर्वोक्त दोनों प्रकार के ज्ञानों का ग्राहक तत्त्व वह एक ही है। वही द्रष्टा है और स्प्रष्टा भी है, तथा वही ज्ञानात्मक सृष्टि का रचयिता भी है। यदि द्रष्टा और स्प्रष्टा ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हों तो द्रष्टा को दर्शनात्मक ज्ञान होगा परन्तु स्पार्शनज्ञान उसे कैसे प्राप्त हो सकता है? इसी प्रकार स्प्रष्टा को स्पार्शन होगा परन्तु दर्शन ज्ञान नहीं हो सकता है। उसमें वैजात्य वैलक्षण्य स्वीकार करना सर्वथा अनुभव विरुद्ध है—

"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्" गौतमसूत्र—३-१-१

भाष्कार वात्स्यायन भी भाष्य करते कहते हैं—

"दर्शनेन यावदर्थो गृहीतो स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते । यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि, इति यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि इति, एक विषयौ चेमौ प्रत्ययौ एककर्तृकौ प्रतिसंधीयेते, न च संघातकर्तृकौ"

जीवात्मा का नियत्व—

नैयायिकप्रवर अन्नंभट्ट ने स्पष्ट कहा है कि—

"जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च" तर्कसंग्रह० ६—

अर्थात् जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न है तथा वह विभु (व्यापक) और नित्य है। जो विभुद्रव्य होते हैं वे नित्य होते हैं जैसे आकाश काल दिशा ईश्वर। जो नित्य होता है वह उत्पत्ति-विनाश से रहित होता है। यह जीवात्मा भी विभु तथा नित्य है। नित्य होने के नाते उत्पत्ति-विनाश से रहित है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा को नित्य न मानकर यदि अनित्य माना जाता है तो कृतहान और अकृताभ्यागम इन दोनों दोषों की आपत्ति लग जायेगी। जीवात्मा के नित्य पक्ष में इन दोनों दोषों की आपत्ति नहीं लगती है। इसलिये भी जीवात्मा को नित्य ही मानना सर्वथा उचित है। दूसरी बात यह भी है कि नवप्रसूत बच्चे की स्वाभाविक रूप से अपनी माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति देखते हैं। बन्दर के नवप्रसूत बच्चे को भी वृक्ष की शाखा आदि के पकड़ने में स्वभावतः प्रवृत्तिशील देखते हैं। यह एक अनुभव सिद्ध विषय है कि सम्पूर्ण सांसारिक प्राणियों की जो जो प्रवृत्ति होती है वह इष्टशाधनता ज्ञान के बिना नहीं होती है। वह चेतन प्राणी किसी भी वस्तु के आदान प्रदान में तभी प्रवृत्तिशील बनेगा जब प्रवृत्ति के पूर्व अपने इष्ट का साधन उसे समझ लेगा—इदं मदिष्टसाधनम्" इत्यादि।

नवप्रसूत बच्चा माता के स्तन्यपान को अपने इष्ट का साधन समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है। यही व्यवस्था नवप्रसूत बन्दर के बच्चे की है। जब वह शाखाओं के पकड़ने अथवा ग्रहण करने में इष्टसाधनता का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तभी उसमें वह प्रवृत्त होता है। इष्ट साधनताज्ञान प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि प्रमाणों से सर्वथा अगम्य है। अतः उसे अनुभवरूप नहीं कहा जा सकता है। उसे स्मृतिरूप ही कहना होगा। स्मृतिरूप ज्ञान संस्कारमात्र जन्य है, अथवा संस्कारद्वारा पूर्वानुभवजन्य है। संस्कार भी अनुभव के आधार पर ही संभव है। इससे स्मृति के लिये पूर्वानुभव सर्वथा अपेक्षित होता है। अतः नवप्रसूतबच्चे ने पूर्वजन्म में माता के स्तन्यपान में इष्टसाधनता का अनुभव किया है। उस पूर्वा

नुभवजन्य संस्कारों के आधार पर ही वह नवप्रसूत बच्चा इस जन्म में भी माता के स्तन्यपान में इष्टसाधनता का स्मरण करता है। स्मरण के पश्चात् ही वह स्तन्यपान में प्रवृत्तिशील बनता है। यह भी नियम है कि अन्य जीवात्मा से अनुभूत वस्तु का अन्यजीवात्मा को स्मरण नहीं हो सकता अतः जिस जीवात्मा ने पूर्वजन्म में माता के स्तन्यपान में इष्टसाधनता का अनुभव किया है, उस अनुभव के आधार पर सम्पन्न होनेवाले संस्कार भी उसी जीवात्मा में जब रहेंगे तो उसी जीवात्मा को स्मृति भी होगी। अनुभव संस्कार स्मृति इन तीनों का सामानाधिकरण्य होने पर ही अर्थात् एक अधिकरण में रहने पर ही कार्यकारणभाव संपन्न हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि जो जीवात्मा इस जन्म में स्मरण करता है वही पूर्वजन्म में स्तन्यपान में इष्टसाधनता का अनुभव भी करनेवाला है। इसलिये पूर्व पूर्वजन्मों में तथा उत्तरोत्तर जन्मों में एवं विद्यमान जन्म में वह एक ही सर्वदा विद्यमान रहता है। वही आत्मा प्रवाह रूप से सब शरीरों अनुस्यूत रहता है।

आत्मा की चेतनता

आत्मा को जड़ मानने पर क्रियाशीलता के आधार पर संपन्न होनेवाले सभी कार्य संसार के नहीं हो पायेंगे। अतः आत्मा को चेतना स्वीकार करना सर्वथा आवश्यक है। जड़पदार्थ के विषय में ऐसा नियम है कि वह किसी चेतन-तत्त्व से प्रेरित होकर ही अपने कार्य को सम्पन्न कर सकता है।

चेतना सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण

चेतनतत्त्व के विषय में यह प्रश्न होता है कि वह चेतनतत्त्व कौन है? क्या शरीर ही चेतनतत्त्व है? चक्षुरादि इन्द्रियाँ चेतन हैं या मन? क्षणिक विज्ञान या नित्यविज्ञान ही वह चेतनतत्त्व है? किस चेतनतत्त्व को हम आत्मा के नाम से पुकारते हैं? इनसे अतिरिक्त भी कोई चेतनतत्त्व है?

जड़ जगत् का संचालन करने वाला "अहम" "मैं"—"वयम्" "हम" इत्यादि शब्दों से कहा जानेवाला ही वह चेतनतत्व है, यह निर्विवाद विषय है। मैं जाता हूँ, मैं खाता हूँ इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर अबाधितरूप से प्रतीत होनेवाला "मैं" शब्द वाच्य चेतनतत्त्व सर्वथा विवाद रहित है। परन्तु वह ज्ञाता चेतनतत्त्व कौन है?

शरीरात्मवादी चार्वाक का कहना है कि शरीर से अतिरिक्त आत्मा

नामक कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। प्रत्येक भौतिक कण चेतन है, इसलिये भौतिककणों की समष्टिस्वरूप यह पाँचभौतिक शरीर भी चेतन है, ज्ञाता है, आत्मा है। इससे भिन्न किसी भी पदार्थ को चेतन-ज्ञाता अथवा आत्मा नहीं कहा जा सकता। चैतन्य एकमात्र इस पांचभौतिक शरीर का ही गुणविशेष है। जिस प्रकार किसी अवस्था विशेष में गुड़ आदि पदार्थों की सम्मेलनात्मक समष्टि एक मादक शक्ति की उत्पादक हो जाती है उसी प्रकार इन विभिन्न पाँचभौतिक द्रव्यों के परस्पर सम्मेलन से चैतन्य (चेतनाशक्ति) की उत्पत्ति होती है—"किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चेतन्यमुपजायते" चार्वाकदर्शन।

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि घट-पट आदि पदार्थों का ज्ञाता चेतनतत्व आत्मा यह पांचभौतिक शरीर ही है। दूसरी बात यह भी है कि "हम" और "मैं" इत्यादि शब्दों से वाच्य अर्थ ही को चेतन आत्मा स्वीकार किया जा सकता है। "गौरोऽहम्" 'श्यामोऽहं' इत्यादि प्रतीतियों से मैं शब्द वाच्य आत्मा शरीर ही सिद्ध है। शरीरात्मपक्ष में दोष-शरीर उत्पाद विनाशशाली है। बाल्यावस्थापन्न जिस शरीररूपी आत्मा ने किसी वस्तु का अनुभव किया उसके पश्चात् उस वस्तु का कभी स्मरणात्मकज्ञान और कभी प्रत्यभिज्ञा ज्ञान अवश्य ही होता है। परन्तु ये दोनों ज्ञान आत्मा के स्थिरत्व-नित्यत्वरूप हैं। अतः आत्मा के नित्यत्वपक्ष में ही स्मृति और प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान संपन्न हो सकते हैं। इन दोनों ज्ञानों का तथा अनुभवात्मकज्ञान का कार्यकारणभाव है—"अनुभवजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" तर्क संग्रह १६.

इसलिये अनुभव करनेवाला ही स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञारूपज्ञान का भी कर्त्ता हो सकता है। "शरीरस्य चैतन्ये बाल्ये विलोकितस्य स्थविरेस्मरणनुपपत्तेः। शरीराणामवयवोपचयापचयैरुत्पाद विनाशशालित्वात्' न्या. सि. मु. १७३

दूसरी बात यह भी है कि शरीर ही यदि आत्मा हो तो शरीर तो मृतशरीर भी है, वहाँ जैतन्य कहाँ है? इस कारण भी शरीर को आत्मा नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त शरीरात्मवाद पक्ष में तीसरा दोष है कि नवप्रसूत बच्चे की सर्वप्रथम अपनी माता के स्तन्यपान में प्रवृत्ति कैसे होती है? प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनताज्ञान कारण होता है। उस बच्चे को "इदं स्तन्यपानं मदिष्टसाधनम्" यह ज्ञान कैसे? यह इष्टसाधनताज्ञान यदि स्मृतिरूप है तो उसका स्मारक कोई नहीं है। यदि अनुभवरूप है तो उसका अनुभावक कोई नहीं है। यदि प्रत्यक्षरूप है तब उस इन्द्रियसन्निकर्ष रूप प्रत्यक्ष का

कोई कारण नहीं। अनुमितिरूप भी नहीं क्योंकि उसका अनुमापक कोई नहीं। इस प्रकार स्तन्यपान प्रवृत्ति अनुपपन्न हो रही है।

इन्द्रियात्मवादी चार्वाक

इन्द्रियात्मवादी चार्वाक का कहना है कि इन्द्रिय को ही आत्मा मानना उचित है। इससे पूर्वोक्त शरीरात्मवाद के समस्त दोष निरस्त हो जाते हैं—वाल्यावस्था में देखे अथवा सुने पदार्थों का वृद्धावस्था में अथवा युवावस्था में स्मरण नहीं होगा इत्यादि। वाल्यावस्था में जो इन्द्रियरूप आत्मा है वही युवावस्था में, एवं वही वृद्धावस्था में भी विद्यमान है। शरीर के उत्पाद विनाश होने पर भी इन्द्रियां तो ज्यों की त्यों रहती हैं। वे ही अनुभव करने वाली स्मरण करनेवाली इन्द्रियाँ ही हैं।

"अहं घटं पश्यामि" "अहं शब्दं शृणोमि" इत्यादिरूप से अनुभव सभी प्राणियों को होता है। उस अनुभव के चक्षु-श्रोत्र आदि इन्द्रियों के दर्शन-श्रवण आदि व्यापारों के साथ-साथ इन्द्रियरूपी आत्मा के अहंता धर्म का सामानाधिकरण्य भी भासमान होता है। इसी प्रकार "काणोऽहम्" "वधिरोऽहम्" इत्यादिरूप अनुभव में चक्षुश्रोत्र आदि इन्द्रियों के काणत्व-वधिरत्व आदि धर्मों के साथ-साथ इन्द्रियरूपी आत्मा के अहंता धर्म का सामानाधिकरण्य भासित होता है। "अन्धोहं जानामि" "वधिरोऽहमभिलषामि" इत्यादि अनुभवस्थल में चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियों के अन्धत्व-वधिरत्व आदि धर्मों के साथ साथ इन्द्रियरूपी आत्मा के ज्ञान-इच्छा आदि धर्मों का सामानाधिकरण्य अवभासित होता है। जिन धर्मो का धर्मी एक होता है उन्हीं धर्मों का परस्पर में सामानाधिकरण्य होता है। इसलिये जिस धर्मी में अहंता धर्म तथा ज्ञान-इच्छा आदि धर्म अथवा गुण सामानाधिकरण्य रूप में अवभासित हों वही चेतन है, वही ज्ञाता और आत्मा हैं। अतः इन्द्रियां ही चेतन आत्मा है। लोकायत चार्वाक का कहना भी है कि—

"ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः" वेदान्तसार से

'वे प्राण अर्थात् इन्द्रियाँ ब्रह्मा के पास जाकर बोलीं' इस श्रुति के आधार पर भी इन्द्रियाँ ही आत्मा सिद्ध हो रही हैं।

इस इन्द्रियात्मवाद में दोष—इन्द्रियरूप चेतन आत्मा नाना हैं, इनकी एकवाक्यता किसी भी कार्य को संपन्न करने के लिये कैसे हो सकेगी ? इससे शरीर का कोई भी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार नहीं सिद्ध हो सकेगा ?

इन्द्रियों को चेतन अर्थात् आत्मा स्वीकार किया गया है किन्तु समस्त इन्द्रियाँ चेतन हैं या उन सब इन्द्रियों में से एक ? यदि कहा जाय कि एक या दो इन्द्रियाँ ही चेतन हैं तो वे एक दो इन्द्रियाँ कौन हैं ? क्या ज्ञानेन्द्रिया में से एक या दो हैं अथवा कर्मेन्द्रियों में से ? ज्ञानेन्द्रियों में से हैं तो कौन हैं, एवं कर्मेन्द्रियों में से हैं तो कौन हैं ? यदि विनिगमनाविरह के भय से सबको मानते हैं तो अनेक चैतन्य मानने होंगे। अनेक ही चैतन्य के आश्रय भी होगें। पुन: वही शरीरात्मवादवाली बात इस पक्ष में भी होगी। इसके अतिरिक्त एक शरीर के अन्दर नाना चेतन मानने पड़ जायेंगे। इससे अव्यवस्थित परम्परा हो जायेगी। उनमें नियम से एकवाक्यता नहीं हो पायेगी। अनेक इन्द्रियरूप आत्मा अपने अपने विषयों के उपभोग के लिये किसी भी कालविशेष में तथा देशविशेष में इस भौतिक शरीर को आकृष्ट कर सकती हैं। विश्वनापञ्चानन ने इस विषय में स्पष्ट कहा है कि—

"तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः" भा. प. ४८.

अर्थात् यदि इन्द्रियों को चेतन अर्थात् आत्मा माना जायेगा तो उन उन इन्द्रियों के विनाश से स्मृति कैसे ?

मन-आत्मवाद-कतिपय चार्वाकलोगों का कथन है कि बाह्य इन्द्रियों को नश्वर होने के कारण चेतन आत्मा नहीं माना जा सकता है। अतः आभ्यन्तर इन्द्रिय मन को ही आत्मा मानना उचित है। वह परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म होने के नाते नित्य है। स्वप्नावस्था में चक्षु आदि इन्द्रियाँ जब विषयों से उपरत हो जाती हैं उस अवस्था में मन ही समस्त व्यवहारों का सपादन करता है। दूसरी बात यह भी है कि मन जीवात्मा का प्रधान है। अतः वह समस्त इन्द्रियों को अपने अधीन रखता है। इन्द्रियों के अधीन मन नहीं है। इसी मन के समवधान को प्राप्त हुई इन्द्रियाँ अपने अपने ज्ञान के उत्पादन में समर्थ भी देखी जाती हैं। मनरूप आत्मा को बाल्यावस्था, वृद्धावस्था तथा युवा आदि अवस्थाओं में नितान्त निरविच्छिन्न रूप से स्थिति बनी रहती है। इसका अवस्थाभेद प्रयुक्त भेद नहीं होता है। इच्छा-संकल्प-संशय-श्रद्धा-अश्रद्धा-धैर्य-तथा-अधैर्य-लज्जा-ज्ञान-भय ये सब मन ही के धर्म हैं। जो आत्मा के धर्म माने गये हैं उन्हीं धर्मोंवाला धर्मी मन है। अतः मन ही आत्मा है। एक शरीर के अन्दर अनेक चेतनों की स्थिति होने पर

एकवाक्यता नहीं हो पाती है। परन्तु यहाँ तो एक शरीर के अन्दर एक ही मन है। अतः एकवाक्यता होने में कोई बाधा नहीं है।

मन आत्मवाद का खण्डन—यह मन आत्मवादी चार्वाक ने मनको परमाणु परिमाणवाला माना है। अतः अत्यन्त सूक्ष्म होने के नाते मनरूप आत्मा को अहं सुखी" ', अहं दुःखी" "अहं जानामि" "अहं मिच्छामि" इत्यादि रूप से होनेवाले सुख-दुःख ज्ञान-इच्छा आदि गुणों का मानस प्रत्यक्ष कदापि नहीं हो सकेगा। किसी भी विषय के प्रत्यक्ष होने में महत्त्व अपेक्षित होता है। विषय में और प्रत्यक्ष के आश्रयीभूत आत्मा में महत्त्व होना परमावश्यक है। इसलिये जिस प्रकार पृथिवी जल आदि के परमाणुओं में रहनेवाले रूप रस आदि का प्रत्यक्ष नहीं होता है क्योंकि महत्त्व नहीं वैसे ही यहां भी। दूसरी बात यह है कि ग्रीष्मऋतु में भगवान् भास्कर के आतप से तपे हुए पुरुष को पैर से लेकर मस्तिस्क पर्यन्त समस्त शरीरावच्छेदेन दुःख का अनुभव होता है। वही पुरुष जब गंगाजी के शीतल जल में गोता लगाता है तो समस्त शरीर में बहुत ही विशेष सुख का अनुभव करता है। वह समस्त शरीरव्यापी सुख दुःख का अनुभव तभी होगा जब आत्मा में परमाणु परिमाण न हो बल्कि महत्वावच्छिन्न हो। महत्त्व परिमाण से मध्यम परिमाण नहीं समझना चाहिये, क्योंकि मध्यम परिमाणवाले सभी पदार्थ अनित्य माने गये हैं। अतः इस पक्ष में आत्मा की अनित्यता की आपत्ति लग जायेगी। इससे परममहत्त्व परिमाणवाले को ही आत्मा स्वीकार करना परमावश्यक है।

पुत्रात्मवादी चार्वाक

स्थूलबुद्धि अतिप्राकृत चार्वाक पुत्र को ही आत्मा मानते हैं। वे इस बिषय में प्रमाण भी देते हैं—**आत्मा वैजायते पुत्र-वेदान्तसार से**

"पुत्रे पुष्टेऽहमेव पुष्टः" "पुत्रे नष्टेऽहमेव नष्टः" अर्थात् पुत्र के पुष्ट हो जाने पर वह अपने को पुष्ट मानता है, पुत्र के नष्ट हो जाने पर अपने को नष्ट समझता है। अतः पुत्र ही आत्मा है इस प्रकार का सब को अनुभव भी होता है। दूसरी बात यह भी है कि मनुष्य जिस प्रकार का अपने प्रति प्रेम अनुभव करता है उसी प्रकार वह अपने पुत्र में भी प्रेम अनुभव करता है। उसे अपने में तथा पुत्र में समान ही प्रेम दर्शन होता है। अतः श्रुतियुक्ति एवं अनुभवानुरोध के आधार पर पुत्र ही आत्मा सिद्ध है।

पुत्रात्मवाद-खण्डन—यह मत भी असंगत है। सभी दर्शनिकों ने अहम् इस प्रतीति के विषयीभूत अहम् पद से वाच्य अर्थ को ही आत्मा माना है। "अहं सुखी" "अहं दुःखी" "अहं जानामि" इत्यादि स्थल में सर्वत्र ही "अहम्" पद से कहा जानेवाला ही आत्मा होता है, ऐसा अनुभव भी होता है। दूसरी बात यह है कि जो ब्रह्मचर्य आश्रमवासी ब्रह्मचारी हैं, क्या वे आत्मा से हीन अर्थात् रहित हैं? इसका अभिप्राय तो स्पष्ट यही है कि जो पुत्रवाले है वे सब आत्मावाले हैं। उनके अतिरिक्त ब्रह्मचारी, सन्यासी, वानप्रस्थ अविवाहित ये सब आत्मा से रहित ही हैं।

प्राणात्मवाद—कतिपय चार्वाकदार्शनिकों का कथन है कि शरीर इन्द्रियात्मवाद से श्रेयस्कार यह प्राणात्मवाद प्रतीत होता है। शरीर से इन्द्रियों के विच्छेद होजाने पर प्राण अपना व्यापार एवं कार्य करता रहता है। परन्तु शरीर में प्राण न रहने पर इन्द्रियां सर्वथा निर्व्यापार हो जाती हैं। प्राण के रहते हुए ही वे इन्द्रियां अपना-अपना व्यापार करने में दक्ष पायी जाती है। इसके अतिरिक्त श्रुतिभी प्राण है—

"अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः" वेदान्तसार से

इसके अतिरिक्त क्षुधा एवं तृषा का भी प्रधान कारण प्राण है। मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ, यह प्राणिमात्रसिद्ध अनुभव भी प्राण को ही आत्मा सिद्ध करता है। शरीर में प्राण रहने पर ही क्षुधा एवं तृषा का अनुभव प्राणी करता है न रहने पर नहीं। इस अन्वयव्यतिरेक के आधार पर भी प्राण ही आत्मा सिद्ध हो रहा है। "अहमशनायावान्" "अहं पिपासावान्" इस अनुभव का विषय "अहम्" पद वाच्य ही आत्मा (जीवात्मा) है। स्वप्नावस्था एवं सुषुप्ति अवस्था में जब इन्द्रियां निर्व्यापार हो जाती हैं तो प्राण उस समय भी अपना व्यापार करता ही रहता है। जीवन और मरण के व्वहार का भी तो प्रधान कारण यही प्राण है। शरीर में प्राण के रहने पर ही जीवन व्यवहार होता है, और न रहने पर नहीं होता। यह प्राणरूपी अन्तरात्मा आत्मभिन्न समस्त वस्तुओं से प्रिय है।

प्राणात्मवाद-खण्डन—प्राणात्मवादी चार्वाक का यह मन्तव्य उचित नहीं प्रतीत होता। प्राण के विषय में सभी प्रमाण शक्तिहीन हो जाते हैं। एकमात्र अनुमान ही वहां काम करता है। विश्नाथपञ्चानन ने वृक्ष आदि के शरीर प्रकार में स्पष्ट कहा है कि वृक्ष आदि को शरीर होता है, इसमें क्या प्रमाण है?

—"आध्यात्मिक वायुसम्बन्धस्य प्रमाणत्वात्, तत्रैव किं मानमिति चेद् ? भग्नक्षत संरोहणादिना तदुन्नयनात्" सि.मु.

वृक्ष आदि को शरीर होता है इसमें आध्यात्मिक (प्राण) वायु का सम्बन्ध शरीर के साथ होना ही प्रमाण है। प्राणवायु का सम्बन्ध शरीर के साथ ही हुआ करता है। वृक्षादि शरीर के साथ प्राणवायु का सम्बन्ध है, इसमें क्या प्रमाण है ? इस प्रकार के प्रश्न होने पर यही कहना होगा कि वृक्ष के किसी भी अवयव के भग्न एवं क्षत होने पर उस अवयव का फिर से संरोहण (संबर्धन) होता है। वह विना प्राणवायु के सर्वथा असंभव है। "वृक्षः आध्यात्मिकवायुसम्बन्धवान् भग्न क्षत संरोहणात्""तदुन्नयनात्" टिप्पणी।

अतः प्राण आत्मा नहीं है, इसमें अनुमान ही प्रमाण है—"प्राणः अनात्मा वायुत्वात् वाह्यवायुत्" अर्थात् प्राण आत्मा नहीं वायुस्वरूप होने से वाह्य वायु की तरह। जहां भी वायुत्व है वहां सर्वत्र अनात्मत्व, इससे स्पष्ट है कि प्राण को आत्मा नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि प्राणों को भी धारण करनेवाली कोई दूसरी वस्तु है जिसे "जीव" शब्द से कहा जाता है। जीव-शब्दार्थ प्राण में संघटित नहीं होता है। अतः प्राण को जीव नहीं कहा जा सकता है। प्राण से अतिरिक्त ही जीव मानना होगा। इस दृष्टि से जीव ही आत्मा है, ऐसा स्वीकार करना ही समुचित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त प्राण को आत्मा न मानने में एक कारण यह भी है कि श्वास-प्रश्वास का न्यूनाधिक्य देखने में आता है। अतः इस अनुभव के आधार पर भी श्वासरूप प्राण से भिन्न ही आत्मा सिद्ध हो रहा है। तीसरी बात यह भी है कि प्राण के स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, अतः सायवव ही प्राण को मानना होगा। हम यह देखते है—जो भी द्रव्य प्रत्यक्ष स्पर्शवाले होते है वे सब सावयव होते हैं जैसे वाह्यवायु एवं घट-पट आदि द्रव्य। जो द्रव्य सावयव होते हैं वे सब अनित्य होते हैं जैसे घट-पट आदि द्रव्य। इससे प्राण को भी अनित्य ही स्वीकार करना होगा।

क्षणिकविज्ञानात्मवाद—बौद्ध योगाचार मत के अनुसार विज्ञान ही आत्मा है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप होने से चेतन है। भावरूप होने से क्षणिक है, अर्थात् स्वाऽव्यवहितोत्तर क्षणवृत्तिध्वंस प्रतियोगी है। "अयं घट" ,"अयं पट" इत्यादि प्रवृत्ति विज्ञान अपने अव्यवहित उत्तरक्षण में नष्ट होता रहता है और अपने सजातीय दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करता रहता है। बौद्धों के यहां विज्ञान

विजली के प्रकाश के समान क्षणिक है। अतः प्रकृत में इसी क्षणिकत्व का उल्लेख किया गया है न कि तृतीयक्षण वृत्तिध्वंस प्रतियोगित्वरूप क्षणिकत्व का। विज्ञान को योगाचार ने दो भागों में विभाजित किया गया है—प्रवृत्तिविज्ञान आलय विज्ञान। श्रावणज्ञान आदि के भेद से भिन्न एवं घट-पट आदि विषयों के भेद भिन्न प्रवृत्तिविज्ञान अनेक प्रकार का है। चक्षुर्विज्ञान श्रोत्रविज्ञान घ्राणविज्ञान जिह्वाविज्ञान कायविज्ञान मनोविज्ञान क्लिष्टमनोविज्ञान भेद से सात प्रकार का है। इसी प्रवृत्ति विज्ञान का प्रवाह यह संसार है। "अहम्" इत्याकारक सतत बना रहनेवाला धारावाहिक विज्ञान आलयविज्ञान कहलाता है। सुषुप्ति अवस्था में भी इस विज्ञान का अनुबन्ध बराबर बना रहता है। इन दोनों विज्ञानों के अनवरत प्रवाह को विज्ञानस्कन्ध कहा जाता है। पूर्व विज्ञान को उत्तर विज्ञान का कारण माना गया है। प्रथमक्षण में उत्पन्न हुआ विज्ञान द्वितीय क्षण में अपने सजातीय विज्ञान को उत्पन्न करके स्वयं उसी क्षण में नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीयक्षणवर्ति विज्ञान भी अपने सजातीय विज्ञान को उत्पन्न कर स्वयं विनष्ट हो जाता है। ऐसे ही आगे भी धारा चलती रहती है। ऐसे ही सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान धारावाहिकरूप से बराबर चलता ही रहता है। समुद्र के अन्दर पवन से प्रेरित हुई तरङ्गे जिस प्रकार अविच्छिन्न रूप से नृत्य करती रहती हैं, कभी भी वे विश्राम नहीं लेने पाती हैं। एक के बाद दूसरी का दूसरी के बाद तीसरी का उद्भव बराबर होता ही रहता है। उसी प्रकार आलयविज्ञान में भी विषयरूपी वायु से प्रेरित होकर प्रवृत्ति विज्ञान-तरङ्गे भी बराबर नृत्य करती रहती हैं, वे भी कभी विश्राम नहीं लेने पाती हैं।

> तरङ्गा उदधेर्यद्वत् पवनप्रत्ययेरिताः।
> नृत्यमानाः प्रवर्तन्ते व्युच्छेदश्च न विद्यते ॥
> आलयौघस्तथा नित्यं विषयपवनेरितः।
> चित्रैस्तरङ्गविज्ञानै र्नृत्यमानः प्रवर्तते ॥ मु. वि. १७९

जब विज्ञानरूप आत्मा ही स्वयं क्षणिक है तब उसके आश्रित हुए संस्कार भी क्षणिक ही है। ऐसी परिस्थति में कालान्तर में सपन्न होनेवाली स्मृति कैसे संपन्न हो पायेगी ?

इसका उत्तर है कि—"मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्व विज्ञानजनित संस्काराणां मुत्तरोत्तरविज्ञान हेतुत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेः" सि०मु०१७९। सौंवी पड़त से यथाक्रम आदान प्रदान होते हुए ऊपर की प्रथम पड़त तक जैसे गन्ध

आ जाती है उसी प्रकार प्रकृत में भी पूर्व पूर्व विज्ञान से उत्पन्न हुए संस्कार यथाक्रम उत्तर २ विज्ञान को प्राप्त होते रहते हैं। पूर्व २ विज्ञान अपने २ संस्कारों को उत्तरोत्तर विज्ञान को अर्पित करते रहते हैं। इससे स्मरण आदि ज्ञानों की किसी भी प्रकार अनुपपत्ति नहीं होती है।

विज्ञानात्मवाद-खण्डन—नैयायिकों का कहना है कि विज्ञान रूपआत्मा सविषयक है अथवा निर्विषयक ? यदि वह निर्विषयक है, तो यह कथन सर्वथा गलत है क्योंकि निर्विषयक तो कोई भी विज्ञान होता ही नहीं है। यदि वह सविषयक है ? अर्थात् किसी वस्तु को अवश्य विषय करता है तो वहाँ पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह जगत्विषयक है अथवा यत्किञ्चित् पदार्थ विषयक है ? अर्थात् वह जगत् को विषय करता है अथवा यत्किञ्चित् पदार्थ को ? यदि वह विज्ञान रूप आत्मा विषय के रूप में जगत् को जानने के कारण जगत् का ज्ञाता हो गया तो उसे सर्वज्ञ कहना चाहिये। जीव कभी सर्वज्ञ हो नहीं सकता है। उसकी सर्वज्ञता सर्वथा बाधित है। अतः उसे जगद्विषयक नहीं कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि जीव की वह सर्वज्ञता स्वाभाविक है अथवा औपाधिक ? यदि यह कहा जाय कि जीव स्वभाव से ही सर्वज्ञ है तो यह कहना सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। दूसरे पक्ष में वह उपाधि स्वाभविक है अथवा औपाधिक ? प्रथम पक्ष में वही अनुभव विरोध दोष होगा, दूसरे पक्ष में अनवस्था। इस प्रकार जीव की सर्वज्ञता किसी भी प्रकार नहीं बनती है। यदि उसे यत्किञ्चित् पदार्थक अर्थात् यत्किंचित् पदार्थ को विषय करनेवाला कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं है। यत्किञ्चित् शब्द से यदि "घट" का ग्रहण करते हो तो "पट" का ग्रहण उस यत्किंचित् शब्द से क्यों नहीं किया जाता है, एवं मठ अथवा चट का ग्रहण क्यों नहीं? इस प्रकार विनिगमना विरह (एक पक्ष को सिद्ध करनेवाली युक्ति का अभाव) हो जाता है। योगाचार में एक अर्थ को सिद्ध करनेवाली कोई भी युक्तिरुप विनिगमना नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि "सविषयक" पक्ष में सुषुप्ति अवस्था में क्या दशा ? योगाचार ने सुषुप्ति अवस्था में भी आलयविज्ञान का अस्तित्व स्वीकार किया है। विज्ञान का नियम है कि वह हमेशा सविषयक ही होता है, निर्विषयक कोई भी ज्ञान होता ही नहीं है। इससे सुषुप्ति काल में विषय का अवभास प्रसंङ्ग होना चाहिये। योगाचार का कहना है कि सुषुप्ति अवस्था में निराकार चित्सन्तति की अनुवृत्ति बराबर बनी रहती है, यह सर्वथा असंगत है। सुषुप्ति अवस्था सर्वथा ज्ञान शून्यावस्था मानी गयी है।

अनुभव भी ऐसा ही होता है कि सुषुप्ति में कोई भी ज्ञान नहीं होता है। योगाचार का कहना हैं कि पूर्व २ विज्ञान जनित संस्कार उत्तर २ विज्ञान में उत्पन्न होते रहते हैं, यह भी ठीक नहीं है। उत्तरोत्तर विज्ञान में उनका उत्पादक ही कोई नहीं है। बिना किसी उत्पादक अथवा प्रदानकर्त्ता के वे संस्कार उत्तर विज्ञान कैसे आ पाये ?

नित्यविज्ञानात्मवादी वेदान्ती

नित्यविज्ञान को आत्मा माननेवाले वेदान्ती हैं। उनका कहना है कि विज्ञान ही जब वाह्यविषयों अथवा वस्तुओं के आकार को धारण करता है तो घट-पट आदि वाह्य विषयों के रूप में अवभासित होने लगता है। वे आत्मा की नित्यता एवं विज्ञानरूपता का प्रमाण उपस्थापित करते हैं—

"अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"

"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" न्या. सि. मु. १८६ में उद्धृत

जो विज्ञान को ब्रह्म जानता है तथा उससे जो प्रमाद नहीं करता है, वह ईस शरीर में रहता हुआ ही पहले पापों का विनाश तथा उत्तरकालीन पापों का परित्याग कर समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है। विशुद्ध संस्कृत अन्तःकरण मन के द्वारा ही इसका दर्शन हो पाता है।

अद्वैत वेदान्ती लोगों ने सगुण तथा निर्गुण भेद से इसे दो भागों में विभाजित किया है। उसमें माया के आश्रित एवं जाग्रत्-स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के साक्षीभूत ईश्वर को सगुणब्रह्म के रुप में बतलाया गया है। माया से अतीत तथा पूर्वोक्त तीन प्रकार की अवस्थाओं से अतीत ब्रह्म को निर्गुण ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म के दो लक्षण बतलाये गये है—तटस्थ लक्षण, दूसरा स्वरूप लक्षण। जन्म स्थिति-प्रलय इनके कारणीभूत ब्रह्म को सगुणब्रह्म कहा गया है। इसी की पुष्टि ब्रह्मसूत्र में—"जन्माद्यस्य यतः" ब्र. सू. १-१-२

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" तैत्तिरीयोपनिषत्—

ब्रह्म का स्वरूपलक्षण सत्-चिद्-आनन्दात्मकत्व बतलाया गया है। यही सत्यस्वरूप-विज्ञानरूप एवं आनन्दरूप ब्रह्म है तथा इसी को निर्गुण ब्रह्म बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि तटस्थ लक्षण लक्षित ब्रह्म को सगुण ब्रह्म कहा गया है और स्वरूप लक्षण लक्षित को निर्गुण ब्रह्म।

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—तै. उ. "निर्गुणं निष्कलं शान्तं निरञ्जनम्"—श्वे.

नित्यविज्ञानात्मवाद का खण्डन—विज्ञानरूप आत्मा सविषयक है अथवा निर्विषयक ? यदि सविषयक है तो क्या जगद्विषयक है अथवा यत्किंचित्पदार्थ-विषयक है ? इन दोनों पक्षों में उन्हीं पूर्वोक्त दोषों की आपत्ति लग जाती है। इन विकल्पों के आधार पर ही विज्ञानात्मवाद निरस्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त व्यवहारिक दृष्टि से विचार करने पर भी विज्ञानरूपता आत्मा की नहीं सिद्ध हो पाती है। कोई भी मनुष्य व्यवहार में मैं ज्ञान हूँ, ऐसा नहीं समझता, बल्कि मैं ज्ञानवान् हूँ, इसी प्रकार समझता है। "मैं" "हम" इत्यादि शब्दों से जो कहा जाता है वही आत्मा है। वह ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञान का अधिकरण है न कि ज्ञानरूप है।

अद्वैत वेदान्ती लोगों का कहना है कि यह समस्त चाराचर विश्व कल्पित एवं मिथ्या है, यह सर्वथा भ्रांति है। हम देखते हैं कि मिथ्याभूत कल्पित पदार्थों का अधिष्ठान साक्षात्कार के अनन्तर बाध हो जाता है, परन्तु यहाँ ऐसा नहीं देखने में आता। शुक्ति में रजत अथवा रजतत्व का भ्रमात्मक ज्ञान होने के पश्चात् शुक्ति दर्शनानन्तर यह प्रमात्मक निश्चय होता है कि यह रजत नहीं है "नेदं रजतम्"। इस प्रकार ये समस्त सांसारिक पदार्थ मिथ्या एवं कल्पित हैं, "इस प्रकार का भ्रम किसी को भी नहीं होता। "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" यह श्रुति 'विज्ञान' पद विज्ञान के आश्रय को बतला रही है। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" यहां पर 'यः सर्वज्ञः' जो सामान्यरूप से सर्वविषयक ज्ञानवान् हैं, "स सर्ववित्" वह विशेषरूप से भी सर्वविषयक ज्ञानवान् हैं। यहां पर आत्मा ज्ञान का आश्रय ही स्वीकार किया गया है। इसी श्रुति के अनुरोध से "नित्यं विज्ञान मानन्दं ब्रह्म" "सत्यं ज्ञान=विज्ञान के आश्रय की ही विवक्षा की जा रही है न कि विशुद्ध विज्ञानमात्र की। इससे स्पष्ट है कि वेदान्ती जिन श्रुतियों के आधार पर आत्मा को विज्ञानरूप सिद्ध करते हैं वे श्रुतियां ही आत्मा को ज्ञानाश्रय सिद्ध कर रही हैं। इसी प्रकार "नित्यं विज्ञा-नमानन्दं ब्रह्म" यहां पर "आनन्दम्" इसका भी आनन्दवान् यही अर्थ है। 'आनन्दं ब्रह्म' का अर्थ है 'आनन्दवद् ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म=आत्मा आनन्दवाला है, न कि वह स्वयं आनन्द रूप है। "अर्श आदिभ्योऽच्" इस सूत्र से मतुप अर्थ में "अच्" प्रत्यय करने से अधिकरण=आश्रय अर्थ सुतरां आ जाता है। 'मतुप्' प्रत्यय अधिकरणार्थक होता है। इससे वही न्यायमतसिद्ध "ज्ञानाधिकरणमात्मा" का सिद्धान्त सिद्ध है

जीवात्मा के परममहत्त्व परिमाण का विवेचन—

जीवात्मा अणु परिमाणवाला है, या मध्यम परिमाणवाला है, अथवा परममहत्त्व परिमाणवाला है ? इस प्रकार के प्रश्न के लिये विश्वनाथ पञ्चानन कहते हैं—कालखात्मदिशां सर्वगतत्वं परमं महत्" भाषापरिच्छेद—

अर्थात् जीवात्मा काल-आकाश-ईश्वर एवं दिशा के समान परममहत्त्व परिमाणवाला है न कि वह अणु अथवा मध्यम परिमाणवाला है। परममहत्त्व परिमाण वाले द्रव्यों को ही विभु (व्यापक) माना गया है, अर्थात् जो द्रव्य परममहत्त्व परिमाणवाले होते हैं वे सब व्यापक होते हैं। आत्मा के विषय में श्रुति कहती है—

"आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः। महतो महीयान्। एष महानज आत्मा"

इस श्रुति ने आत्मा को "महतो महीयान्" कहकर परममहत्त्व परिमाण वाला सिद्ध कर दिया। "सर्वगतश्च इससे उसके विभुत्व का प्रदर्शन किया गया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि परममहत्त्व परिमाण का तथा विभुत्व का परस्पर में समानाधिकरण्य है। जो आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापक और नित्य है वह आत्मा महान् से भी महान् अर्थात् परममहत्त्व परिमाणवाला है तथा अज भी है। आत्मा को "अणोरणीयान्" अर्थात् आत्मा छोटे से छोटा है ऐसा भी कहा है। इससे आत्मा का परमाणुपरिमाण सिद्ध हो रहा रहा है। परन्तु वह औपाधिक विषय है, अर्थात् हृदय आदि उपाधि के सम्बन्ध से आत्मा के परिमाण को "अणोरणीयान्" कहा गया है। वास्तव में आत्मा में अथवा आत्मा के परिमाण में अणुत्व है ही नहीं, उसमें तो परममहत्त्व है। दूसरी बात यह भी है कि आत्मा को जो अणोरणीयान् कहा गया है उसका एक कारण यह भी है कि आत्मा बहुत ही कठिनाई से अर्थात् योग अभ्यास वैराग्य आदि साधनों से एवं श्रवण-मनन तथा निदिध्यासन आदि साधनों द्वारा ज्ञेय है।

आत्मा के अणुत्व का खण्डन—

जीवात्मा को यदि अणुत्व परिमाणवाला माना जाय तो वह अणु आत्मा इस शरीर के एक किसी हाथ-पैर आदि देशविशेष के किसी एक स्वल्प भाग में ही रह सकेगा न कि समस्त शरीर में अथवा शरीर के समस्त भाग में। इससे समस्त शरीर को व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव कैसे होगा ? हम यह

अनुभव करते हैं कि जब भी किसी प्रकार के सुख या दुःख का अनुभव होता है तो वह पैर से लेकर मस्तक पर्यन्त ही होता है न कि किसी शरीर के भाग विशेष में ही। भयङ्कर गर्मी में जब हम गर्मी का अनुभव करते है तो वह पैरों से लेकर मस्तक पर्यन्त। इसी प्रकार शीतकाल में शीतानुभव से हाथ-पैरों से लेकर दन्तावलि पर्यन्त समस्त अवयव कम्पमान हो उठते हैं। इस से जीवात्मा को अणु कदापि नहीं माना जा सकता है। जीवात्मा को अणु मानने वाले का कहना है कि एक छोटा सा स्वल्प परिमाणवाला दीपक एक बड़े विशाल घर को रोशन कर देता है। वह दीपक घर के एक कोणे में रहता हुआ भी अपनी प्रभा के प्रकाश से सम्पूर्ण घर को प्रकाशमान कर देता है। उसी प्रकार अणु आत्मा शरीर के एक किसी अंगुलि आदि देश-विदेश में रहता हुआ भी वह अपने ज्ञान के प्रकाश से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर लेता है, जिससे इस अणु आत्मा को शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव करने में लेशमात्र भी अड़चन नहीं होती है। परन्तु जीवात्माणुवादी का यह कथन युक्ति-युक्त तथा न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है। दीपक यदि परमाणु परिमाणस्वरूप होता तो दीपक का दृष्टान्त देना सर्वथा संगत हो सकता था, परन्तु दीपक परमाणुपरिमाण स्वरूप नहीं है। आत्मा के अणुपरिमाण-वाद पक्ष में अणुत्वपरिमाण से सबसे छोटे परमाणु परिमाण का ही ग्रहण है। दूसरी बात यह भी है कि योगी लोग त्रिकालदर्शी होने के नाते जिस समय यह देखते हैं कि हमारे कर्मों के फल की समाप्ति नहीं हो रही है, तो उन उन कर्मों के फलोपभोग के लिये नये नये शरीर भी धारण करते हैं। इन नये नये शरीरों की परम्परा के आधार पर ही यह जीव "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम्" इस भवचक्र व्यूह के जंजाल में फँस जाता है। इसी के भय से उस समय वे लोग एक शरीर के अनेक शरीर अपने योग के प्रभाव से बना लेते हैं। उसीका नाम कायव्यूह है। आत्मा अणु होने के नाते योग के प्रभाव से उन नवनिर्मित समस्त शरीरों में तो प्रवेस कर नहीं सकती है, उन शरीरों में से किसी एक शरीर में ही रह सकती है। जिस एक शरीर में रहेगी उसी को वह अपनी ज्ञानप्रभा से व्याप्त करेगी, और दूसरे शरीरों को नहीं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि योगी उसी एक शरीर के सुख-दुःख आदि का अनुभव कर सकता है, अन्य शरीरों के सुख-दुःख आदि का नहीं। परन्तु शास्त्र की दृष्टि से यह सर्वथा

नियमविरुद्ध है। तर्क-न्याय-एवं शास्त्र यह बतलाता है कि योगी एक शरीर के अनेक शरीर इसलिये बनाता है कि इसी एक जीवन काल में सम्पूर्ण कर्मजन्य फलोपभोग यह जीवात्मा करले और आगे की जन्म-जमान्तर की परम्परा समाप्त हो जाय। परन्तु यह तब हो सकता है जब उस अणु आत्मा का उन सब शरीरों के साथ सम्बन्ध संभव हो सके। उन शरीरों में रहकर ही समस्तकर्मजन्य फलोपभोग वह कर सकेगा, न कि एक किसी शरीर में रहकर। अन्यथा फिर योगी को एक शरीर के अनेक शरीर बनाने की आवश्यकता ही क्या थी? इसलिये यह आत्माणुवाद सर्वथा असंगत है। इसके अतिरिक्त यह भी एक कारण आत्मा के अणुवाद का विरोधी है कि प्रत्यक्ष में सर्वानुभव सिद्ध महत्त्व कारण माना गया है।

चाक्षुष[1]-रासन[2]-स्पार्शन[3]-घ्राणज[4]-श्रावण[5] तथा मानस[6] इन छः प्रकार के प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व को कारण माना गया है। आत्मा को अणु मानने पर न तो आत्मा का ही मानसप्रत्यक्ष हो पायेगा, और न आत्मा के अन्दर रहने-वाले सुख-दुःख-ज्ञान-इच्छा आदि का ही "अहं सुखी- अहं दुःखी अहं जाने-अहमिच्छामि" इत्यादिरूप से मानसप्रत्यक्ष हो सकेगा। इसलिये भी आत्माको अणु नहीं माना जा सकता है।

जीवात्मा का मध्यम परिमाण

जीवात्मा को मध्यमपरिमाणवाला माननेवाले जैन दार्शनिकों का कहना है कि जीवात्मा को अणुत्वपरिमाणवाला मानने में यह एक दोष आ जाता है कि वह आत्मा शरीर के एक कोने में रहने से शरीरव्यापी सुख-दुःख का अनुभव कैसे कर सकेगा? परन्तु मध्यम परिमाणवाला स्वीकार करने पर यह दोष निरस्त हो जाता है। आत्मा का मध्यम परिमाण उतना ही बड़ा माना जायेगा जितना मध्यमपरिमाण उस शरीर का होगा। उतने ही बड़े परिमाणवाला आत्मा सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर सकता है तथा समस्त शरीर में व्याप्त सुख-दुःख का अनुभव भी करने में समर्थ हो सकता है। दोनों ही समान मध्यम परिमाणवाले हैं। इससे सम्पूर्ण शरीरव्यापी सुख-दुःख के अनुभव की हानि भी नहीं है। अतः जीवात्मा को मध्यम परिमाणवाला मानना ही श्रेयस्कर होगा। आत्मा के मध्यम परिमाण पक्ष में संकोच विकास यदि स्वीकार कर लिया जाय तब भी अणुत्व परिमाण

पक्ष के समस्त दोष निरस्त हो जाते हैं। मानसप्रत्यक्ष आदि की यथावत् रूप से उपपत्ति हो जायेगी। अतः यह संकोच विकास पक्ष भी आदरणीय है।

मध्यमपरिमाण का खण्डन

जीवात्मा को मध्यम परिमाणवाला यदि स्वीकार किया जाता है तो अवश्य उसे अनित्य ही मानना होगा। हम देखते है कि जो मध्यम परिमाण वाले द्रव्य होते हैं वे सब अनित्य होते हैं जैसे-घट-पट आदि सावयव द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं। जीवात्मा को अनित्य स्वीकार करने पर कृतहान अकृताभ्यगम इन दोनों दोषों की प्रसक्ति होने लग जायेगी। वेद विहितयाग-दान आदि कर्मजन्य जो धर्म है, एवं वेदनिषिद्ध हिंसा आदि कर्मजन्य जो अधर्म है उन धर्म अधर्म के आधार पर होनेवाले फलोपयोग की अनुपपत्ति हो जायेगी। पूर्व में न किये कर्मों के फलोपभोग की आपत्ति लग जायेगी। अभिप्राय यह है कि पूर्वजन्म में अथवा इस जन्म में जो हमने जीवात्मा में कर्मजन्य धर्म-अधर्म का संपादन किया है, जीवात्मा के अनित्य होने से अग्रिमजन्म में वह जीवात्मा नष्ट हो जायगा, फिर उस जीवात्मा के द्वारा किये हुए कर्मों के सुख-दुख रूप फल का उपभोग कौन करेगा ? यह नियम है कि—

> " नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि "
> अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अर्थात् मनुष्य जो अच्छे बुरे कर्म करता है उनकी शान्ति बिना भोग के नहीं होती है। उनके सुख दुख आदि फल का उपभोग हो जाने के बाद ही शान्ति होती है। इस प्रकार जीवात्मा को मध्यम परिमाण वाला नहीं माना जा सकता है। जैसे ईश्वर विभु और परममहत्व परिमाणवाला है उसी प्रकार जीवात्मा भी विभु और परममहत्व परिमाणवाला है। अतः जीवात्मा को मध्यम अथवा अणुत्व परिमाणवाला नहीं माना जा सकता है।

आत्मा में रहनेवाले गुणों का संक्षिप्त परिचय

आत्मा (जीवात्मा) में चौदह गुण रहते हैं, जिनमें कुछ विशेषगुण है और कुछ सामान्यगुण हैं—

> बुद्धियादिषट्कं संख्यादिपंचकं भावना तथा।
> धर्माधर्मौ गुणा एते ह्यात्मनस्युश्चतुर्दश-भाषापरि.

अर्थात् बुद्धि-सुख-दु:ख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न ये छः गुरा, तथा १ संख्या २ परिराम ३ पृथक्त्व, ४ संयोग ५ विभाग, ये संख्या आदि पांच गुरा, तथा भावना-नामक संस्कार, और धर्म-अधर्म ये जीवात्मा के चौदह गुरा हैं। इन चौदह प्रकार के गुणों में १बुद्धि—२सुख—३दु:ख—४इच्छा—५द्वेष—६प्रयत्न ये बुद्धि आदि छः, तथा भावना नामक संस्कार, एवं धर्म-अधर्म ये नौ आत्मा में रहनेवाले विशेषगुरा माने गये हैं। इन नौ प्रकार के विशेषगुणों में भी प्रथम बुद्धि आदि छः विशेषगुण प्रत्यक्ष हैं। अवशिष्ट भावना धर्म-अधर्म ये तीन अनुमानप्रमाण से गम्य होने के नाते अनुमेय हैं। इन नौ गुणों के अतिरिक्त संख्या-परिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभाग ये पांच गुरा सामान्यगुण हैं। इस प्रकार (जीवात्मा में चौदह गुरा रहते हैं—"जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश"

जैसे रूप एकमात्र चक्षु इन्द्रियजन्यज्ञान का विषय है इसीलिये वह विशेषगुरा है, इसी प्रकार बुद्धि सुख दु:ख आदि भी गुरा है। मनरूप एक इन्द्रिय से ग्राह्य हैं अतः यह भी विशेषगुरा ही हैं। यह व्याप्ति है कि जो भी पदार्थ गुरा होता हुआ केवल एक इन्द्रिय से ग्राह्य होता है वह विशेषगुरा होता है। इस प्रकार अनुमान के आधार पर बुद्धि आदि विशेषगुरा सिद्ध हैं। अनुमान के आधार पर भी पारिशेष्यात् ये बुद्धि आदि गुरा जीवात्मा के ही विशेषगुरा सिद्ध हो जाते हैं। महर्षि गौतम ने भी इन बुद्धि ज्ञान एवं इच्छा आदि विशेषगुणों को आत्मा का लिङ्ग अर्थात् जीवात्मा के अनुमापक हेतु बतलाये हैं।

"इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख-दु:ख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" गौ० सू०

जीवात्मा प्रयत्नवाला होने से कर्ता माना गया है। सुखी दु:खी होने के कारण भोक्ता, तथा ज्ञानवाला होने के कारण अनुभवी भी है। विशेषता यही है कि इस जीवात्मा के कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व आदि धर्म इसमें तभी तक संभव है जब तक यह शरीरावच्छिन्न है। जब शारीरिक बन्धन से छूट जाता है तब इच्छा द्वेष आदि गुणों से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर विश्राम करता है। वही इसकी मोक्षावस्था है। उस अवस्था में पहुँचने पर यह शान्त तथा विकार रहित हो जाता है। वहां इसे न सुख है न दु:ख है न ज्ञानशक्ति और न चैतन्य है, क्योंकि जीवात्मा को ज्ञान इच्छा एवं सुख-दु:ख आदि समस्त गुरा शरीर के आधार पर ही संभव हैं। जिस समय यह शरीर से सर्वथा निरपेक्ष हो जाता

है, अर्थात् शरीर से इसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है उस समय मन तथा इन्द्रियों से भी इसका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता है। इच्छा आदि समस्त गुण भी नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्था में जीवात्मा की स्थिति प्रायः वही है जो सुषुप्तप्राणी की होती है। गाढ़ सुषुप्तावस्था में प्राणी पत्थर के समान संज्ञा-शून्य हो जाता है वैसे ही मोक्षावस्थास्थित जीव भी संज्ञाशून्य होकर पत्थर के समान हो जाता है।

द्वादश अध्याय

अपवर्ग विचार

संसार से उपरम हो जाना ही जीव का मोक्ष है। इसी को कतिपय दार्शनिकों ने नित्य एवं निरतिशय-सुख की अभिव्यक्ति अर्थात् साक्षात्कार हो जाना भी कहा है—"नित्यनिरतिशयाभिव्यक्तिर्मुक्तिः—सर्व सं०

सांख्यदार्शनिकों ने प्रकृति और पुरुष के भेदज्ञान होने से प्रकृति का पुरुष से उपरत हो जाना तथा पुरुष की अपने स्वरूप में स्थिति होना ही मोक्ष माना है—

"प्रकृति पुरुषान्यताख्यातौ प्रकृत्युपरमे पुरुषस्य स्वरूपेण ऽवस्थानं मुक्तिः" सर्व. सं.

काव्यवेत्ता लोगों ने संसार के प्रपंच से मोचन अथवा निःसरण हो जाने को ही मोक्ष कहा है—"मोचनं निः सरणं वा मुक्ति"

कुछ दार्शनिकों ने अज्ञानरूपी आवरण से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही मुक्ति कहा हैं—आवरण मुक्तिर्मुक्तिः" सर्व० सं०

इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थों से शून्य गुणों का प्रादुर्भाव होना, अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में स्थिति होना ही मोक्ष माना है—"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः" सर्व० सं०

माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिक बौद्धदार्शनिकों ने रागादि के ज्ञान सन्तानका सर्वथा समुच्छेद हो जाना ही मुक्ति कहा है।

न्याय वैशेषिक में जन्म का सर्वथा विनाश हो जाना और पुनः जन्म का न होना ही आत्यन्तिकरूप से दुःखनाश कहलाता है। यही आत्यन्तिक दुःखनाश मोक्ष है।

'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' न्या० द० वा. भा. ११०

मुक्ति के विषय में कतिपयदार्शनिकों का कहना है कि—"ज्ञानादृते न मुक्ति" अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती—

यदात्मानं विजानीयादहमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय संसारमनुसंसरेत् ॥ न्याय० कु० २

पुनः—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय" न्या०कु०

परन्तु तत्त्वज्ञान ही यदि जीव की मुक्ति का साधन है तो "यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धः स धर्मः" इस सूत्र के साथ विरोध हो जायेगा। सूत्रकार स्पष्ट कह रहे हैं कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है वही धर्म है। इस विरोध को दूर करने की दृष्टि से ही भाष्यकार श्री प्रशस्तपाद कहते हैं—

"तच्चेश्वर चोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव" प्रः भा०

अर्थात् वह निः श्रेयस (मोक्ष) ईश्वर की चोदना से अभिव्यक्त धर्म से ही होता है। "चोद्यन्ते प्रेर्य्यन्ते ऽनया भावाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ईश्वर की इच्छा ही चोदना शब्द का अर्थ होता है। अभिप्राय यह है कि धार्मिक व्यक्ति भी धर्म से तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर पाता जब तक उसे ईश्वर की प्रेरणा प्राप्त न हो। धर्म से अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, परन्तु साक्षात् नहीं अपितु परम्परया रूप से। साक्षात् तो तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन है— "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां षण्णांपदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यतत्वज्ञानं निः-श्रेयस हेतुः" प्र० भा०

जिस पदार्थ का अथवा जिस वस्तुका जो भाव है वही उस वस्तु या पदार्थ का तत्त्व है। वस्तुओं के साधारण धर्म को साधर्म्य और असाधारणधर्म को वैधर्म्य कहा गया है।

"साधारणोधर्मः साधर्म्यम्, असाधारणो धर्म वैधर्म्यम्" न्या० क०

यही साधर्म्यवैधर्म्य रूप तत्त्वज्ञान साक्षात् मोक्ष का साधन है। तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषयों के उपभोग से उत्पन्न होनेवाला सुख सुखाभास रूप है और क्षणिक है, विनाशी है, तथा सांसारिक विषयों से उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकार के दुःखों से सम्बन्धित है। स्वर्गरूप सुख भी स्वर्ग से पतन की आशङ्का से उत्पन्न होनेवाले दुःख का दूसरा रूप ही है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" गीता। अतः वह स्वर्गरूप सुख भी निश्चित रूप से श्रेय नहीं है, अपितु आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक रूप से दुःखो से छुटकारा प्राप्त करना ही परम कल्याण है। वह समस्त दुःखोपरम रूप है। उसका एकमात्र कारण द्रव्यादि पदार्थों के स्वरूप को जान लेना अर्थात् द्रव्यादि पदार्थ तत्त्वज्ञान ही है—

"आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति रसह्य संवेदन निखिलदुखोपरमरूपत्वादपरावृत्तेश्च निश्चितं श्रेयः। तस्य कारणं द्रव्यादिस्वरूपज्ञानम्—न्या० क०

वैशेषिकों और नैयायिकों की मोक्ष की परिभाषा प्रायः समान ही है। इन दोनों का सिद्धान्त आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूपमोक्ष में ही पर्यवसित होता है। कणाद ने आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिरूप मोक्ष का दुख के पूर्ण निरोध में तात्पर्य व्यक्त किया है। उनका कहना है कि आत्मा का शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही अपवर्ग है—

"तदभावे संयोगायावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" वैशेषिकसूत्र

महर्षि गौतम ने भी स्पष्ट रूप से आत्यान्तिक दुःख निवृत्ति को ही मोक्ष बतलाया है—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः" गौतमसूत्र—

"तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्त विमुक्तिरपवर्गः" वात्स्यायन भाष्य—११०

इससे आन्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही अपवर्ग सिद्ध है। वैशेषिक दार्शनिकों का कहना है—"निःश्रेयसमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः। दुःखवृत्तेश्चाऽप्यन्तिकत्वं समानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनत्वम्। युगपदुत्पन्नसमानाधिकरणसर्वात्मविशेषगुणध्वंस समानकालीनत्वम्। अशेषविशेष गुणध्वंसावधिक दुःखप्रागभावो वा मुक्तिः"। उपस्कार—

इस कथन से भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है, यह स्पष्ट है। इस प्रकार दोनों का मोक्ष के विषय में मतैक्य है। अन्तर इतना ही है कि कुछ गौतममतानुयायी नवीन नैयायिक लोगों ने दुःखध्वंस को मुक्ति न मान कर दुरितध्वंस को मुक्ति माना है। दुरित ही (पाप ही) दुख का कारण है, उसके (नाश) ध्वंस हो जाने से दुःख स्वयं नहीं होगा। नवीन नैयायिकों का अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष योग्य जो विभु द्रव्यों के विशेषगुण हैं उनका विनाश उन्हीं के उत्तरवर्ती विशेष गुणों से होता है, ऐसा नियम है। दुःख भी विशेष गुण है, अतः इसका विनाश तो द्वितीय क्षणवर्त्ती दुःख से ही तृतीय क्षण में हो जायेगा, इसके विनाश के लिये तत्त्व ज्ञान की क्या आवश्यकता है? इससे तत्त्वज्ञान का अङ्गीकार ही सर्वथा व्यर्थ हो जाता है तो फिर "प्रमाणादीनां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः" प्रामाण्यवाद—इत्यादि उक्तियां ही सब आचार्यों की निष्फल तथा असङ्गत हो जायेंगी। इसी दृष्टिकोण से नवीननैयायिकों ने दुःखपद को दुःख का साधन दुरित (पाप) परक मान लिया है। वह दुःख का साधन दुरित योग्यविभुद्रव्यविशेषगुण नहीं

है। इसलिये वह अपने उत्तरवर्ती विशेषगुण से नाश्य भी नहीं है। अतः दुःख के प्रधानकारण दुरित के विनाशस्वरूप मुक्ति के लिये तत्त्वज्ञान की सर्वथा आवश्यकता है क्योंकि वह तत्त्वज्ञान से ही साध्य है—

"नव्यास्तु योग्यविभुविशेषगुणनाशं प्रति स्वोत्तरवर्त्तिगुणानांकारणत्वात् स्वोत्तरोत्पन्नगुणेनैव दुःखध्वंसरूपमुक्तिसंभवेन न तत्र तत्त्वज्ञानापेक्षेति दुःखपदं दुःखसाधनदुरित परतया व्याख्येयम्" दिनकरी न्या० सि० मु०

नैयायिकों ने दुखों के ध्वंस को ही मुक्ति बतलाया है। उस ध्वंस के प्रतियोगिभूत दुःख इक्कीस प्रकार के हैं—

(१) शरीर।
(२ षडिन्द्रिय, (छः इन्द्रियां चक्षु-श्रोत्र आदि)
(३) षड्विषय, (छः इन्द्रियों के विषय—रूप रूपवान् द्रव्य-रस आदि)
(४) षड्बुद्धि, (छः इन्द्रिय जन्य ज्ञान चाक्षुष-श्रावण आदि)
(५) सुख और दुःख।

नैयायिकों का कहना है कि सांसारिक सुख भो दुःख रूप ही है। स्वर्गीय सुख भी दुःख का ही दूसरा नामकरण है। इसीलिये एकविंशतिदुःखों में सुख का भी उल्लेख किया गया है।

परममुक्ति विचार—

पूर्वोक्त इक्कीस प्रकार के शरीर आदि दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति को ही परममुक्ति अथवा परमोक्ष अथवा मृतमोक्ष कहा गया है। जीवनमुक्त जिस समय अपने शरीर का परित्याग कर देते हैं उस समय उन्हीं महान् आत्माओं को मृतमुक्त-परममुक्त निर्वाणमुक्त कहते हैं। जीवनकाल में मिथ्याज्ञान, मिथ्यावासना एवं मिथ्याव्यवहार से सर्वथा शून्य होकर रहना ही जीवनमुक्ति है। इसके पश्चात् शरीर का परित्याग कर देना ही परममुक्ति अथवा निर्वाण-मुक्ति कहलाती है। इसी को कुछ विद्वान् मृतमुक्ति भी कहते हैं, क्योंकि मृत अवस्था को प्राप्त हुआ जीव ही इस मुक्ति को प्राप्त करता है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार सुख और दुःख, तथा सुख-दुःख के साधनों का शरीर के साथ अन्तिमक्षण तक सम्बन्ध बना रहता है। यदि ऐसा न हो तो मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्यावासनाओं के विनाशकाल के अव्यवहित उत्तरक्षण में ही ज्ञानी महात्माओं का शरीर समाप्त हो जाना चाहिये। वीतराग परम तपस्वी महात्माओं

के मिथ्याज्ञान एवं मिथ्यावासनाओं के निरस्त होने पर भी दीर्घकालपर्यन्त जीवन देखने में आता है। इसलिये इस पक्ष में जीवन्मुक्ति नाम की कोई वस्तु ही नहीं है जिसे हम आत्यन्तिकदु:ख निवृत्ति रूप कहें। अतः इस मत में मुक्ति दो भागों में विभाजित करना गलत है। परममुक्ति ही एकमात्र मुक्ति है, जीवन्मुक्ति नहीं है। परममुक्ति तक पहुँचने का मार्ग यही है कि विशुद्ध आचरण सन्ध्या-वन्दन, शास्त्राभ्यास आदि सत्कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से मनुष्य पदार्थों के वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याज्ञानजन्य वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं। शरीर तथा इन्द्रिय आदि अनात्म पदार्थों में आत्मत्व बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। अनात्मभूत वस्तुओं में आत्मत्व बुद्धि का कारण पदार्थों का यथार्थ ज्ञान न होना ही है। उसकी निवृत्ति से राग-द्वेष मोह इन दोषों की भी निवृत्ति हो जाती है। मिथ्याज्ञान ही न्यायदृष्टि से उनका तथा समस्त विश्व का कारण है। कारण के नाश से कार्य का नाश स्वाभाविक है। राग-द्वेष-मोह इन तीनों दोषों की निवृत्ति हो जाने पर दोष जन्य पाप-पुण्य भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार चरम-शरीर के अन्त हो जाने पर फिर से जन्म नहीं होता है। जन्म के न होने के कारण शरीर का अभाव हो जाता है। पुनः प्राणी आध्यात्मिक आधिभौतिक आधिदैविक इन तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार से वह जीव जन्म शरीर एवं दुःख के चक्र में फिर से नहीं पड़ता। पुनर्जन्म का अन्त हो जाता है। शारीरिक बन्धनों के साथ साथ पूर्वोक्त दुःखों का भी हमेशा के लिये विनाश हो जाता है। इसी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का नाम परममुक्ति है—

"भोगेन पूर्वोत्पन्न धर्माधर्मयोः क्षयः, निवृत्तदोषस्य धर्माधर्मान्तरानुत्पत्तौ अपूर्वशरीरान्तराऽनुत्पत्तौ पूर्वशरीरेण सहाऽऽत्मनो यः संयोगाभावः स एव मोक्षः"

वै. उपस्कारः

त्रयोदश अध्याय

कारण—विचार

कारण और कार्य सापेक्ष पद हैं। किन्हीं दो पदार्थों में नियम से पहले रहनेवाले को कारण तथा नियम से बाद में रहनेवाले को कार्य कहते हैं। तात्पर्य यह है कि कारण नियमतः पूर्ववर्ती घटना है तथा कार्य पश्चात्‌वर्ती है। कारण और कार्य के पूर्वभावी तथा पश्चात्‌भावी रूप को ध्यान में रखते हुए कारण की परिभाषा की गयी—कार्य नियत पूर्ववृत्ति कारणम्—अन्नंमट्ट–त. सं. १७ अर्थात् कार्य के नियम से पूर्व में रहना ही कारणत्व माना गया है। इसी प्रकार कार्य का लक्षण है—कार्यं प्रागभावप्रतियोगी त. सं. १८

अर्थात् 'भाविष्यति' इस प्रगभाव का जो भी प्रतियोगी होगा वही कार्य है। कोई जन्य वस्तु ही प्रागभाव का प्रतियोगी हो सकता है, जैसे–घटो भविष्यति, पटो भविष्यति इत्यादि। अजन्य वस्तु (नित्य वस्तु) कभी भी प्रागभाव की प्रतियोगी नहीं हो सकती है, जैसे आकाशः भविष्यति, कालो भविष्यति इत्यादि। प्रागभाव का ऐसा नियम है कि वह कार्य के पूर्वकाल में रहता है। अतः इससे कार्य का यह लक्षण सिद्ध हो रहा है कि 'जो कारण के नियम से पश्चात्‌काल में उत्पन्न हो। इस प्रकार कारण और कार्य में नियत पौवापर्य सम्बन्ध होता है। कारण केवल पूर्ववर्ती पदार्थ नहीं वरन् नियत पूर्ववर्ती है। इस परिभाषा में प्रयुक्त पूर्वभाव तथा नियत दोनों शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्वभाव—इसका अर्थ है कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में रहना, अर्थात् कार्योपत्ति के पूर्वक्षण में जो अवश्य ही विद्यमान हो। पूर्ववर्तिता का अर्थ है कार्याव्यवहित पूर्वकाल वृत्तित्वम्। इस प्रकार कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के आश्रय में कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से रहना ही पूर्वभाव है। जिस सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वह कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहा जाता है। जिस क्षण में कार्य की उत्पत्ति होती है उसके ठीक पूर्व का क्षण अव्यवहित पूर्वक्षण कहा जाता है[1]

---

१. तर्कभाषा—व्याख्याकार पं. वदरीनाथ शुल्क पृ. ३०.

नियत—नियत का अर्थ है व्यापक। अतः तर्कभाषाकार के अनुसार यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतः का अर्थ है—कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध से कार्य के आश्रय में कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहनेवाले अभाव का कारणतावच्छेदक सम्बन्ध से प्रतियोगी न होना। अतः नियत शब्द के सन्निवेश का फल है कि कारण के लिए कार्य-नियत कार्य का व्यापक होना उसे अवश्यक है।[2] यदि नियत शब्द इससे हटा दिया जाय तो किसी कार्य के पूर्व जो भी पदार्थ होगा वही कारण कहलाने लगेगा। उदाहरणार्थ घटोत्पत्ति के पूर्व वहां रासभ आदि भी विद्यमान है, अतः वे भी कारण हो जायेंगे। रासभ का वहाँ रहना नियत पूर्व नहीं हैं। वह तो वहाँ अकस्मात् या दैवात् है। अतः इसी अकस्मात् या दैवात् के निराकरण के लिए नियत पद का सन्निवेश किया गया है। घटोत्पत्ति के नियत पूर्व दण्ड चक्र आदि हैं न कि रासभ। दण्डचक्र आदि की सत्ता घट के पूर्व नियमतः अपेक्षित है। अतः नियत पद से रासभादि की व्यावृत्ति हो जायेगी।

इस प्रकार अन्नंभट्ट की परिभाषा 'कार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम्' का विश्लेषण किया गया। परन्तु यह परिभाषा पूर्ण नहीं है। इसमें एक और पद का सन्निवेश होना आवश्यक है—अनन्यथासिद्ध। अतः कारण का लक्षण हुआ—अनन्यथासिद्धनियतपूर्वभावित्वम् कारणत्वम्। अनन्यथासिद्धनियतपश्चाद्भावित्वम् कार्यत्वम्—त. भा. ३३. अर्थात् अनन्यथासिद्ध नियत पूर्वभावी होना कारण का लक्षण है तथा अनन्यथासिद्ध नियत पश्चात्भावी होना कार्य का लक्षण है। इन तीनों पदों का सन्निवेष करते हुए श्री विश्वनाथ पञ्चानन भी कारण की परिभाषा करते हैं—

अन्यथासिद्धि शून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता— भा. प. १६.

"कार्याव्यवहित प्राक्क्षणावच्छेदेन कार्याधिकरणवृत्त्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकान्यथा सिद्धचनिरुपकतावच्छेदकधर्मवत्वम् कारणत्वम्—मु. वि. ८९
इस प्रकार 'अनन्यथासिद्ध' भी कारण की परिभाषा में परमावश्यक पद है। अन्यथासिद्ध शून्य का अर्थ है अनन्यथासिद्ध अथात् अन्यथासिद्ध रहित। 'अन्यथासिद्ध का लक्षण है—लघुनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तद्भिन्नम्' अर्थात् किसी कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध न रखने वाला ही अन्यथासिद्ध

---

२ वही पृ. ३१.

कहा जाता है। घटोत्पत्ति के पूर्व रासभ की विद्यमानता अन्यथासिद्ध है, अर्थात् घटोत्पत्ति से रासभ का सम्बन्ध साक्षात् नहीं है। तन्तुरूप पट रूप के प्रति कारण है, परन्तु पट के प्रति तन्तुरुप अन्यथासिद्ध है, साक्षात् कारण नहीं है। अन्यथा सिद्ध कारण विचार में सबसे महत्वपूर्ण शब्द है। श्री विश्वनाथ ने करण की परिभाषा में सर्वप्रथम 'अन्यथासिद्ध' शब्द का प्रयोग किया है— अन्यथा सिद्धशून्यस्य इत्यादि। श्री विश्वनाथ के अनुसार अन्यथासिद्ध पांच है—

> येन सह पूर्वभावः कारणमादाय वा यस्य।
> अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभाव विज्ञानम् ॥
> जनकं प्रति पूर्ववृत्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते।
> अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः ॥
> एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिकम्।
> घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥
> तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनकोऽपरः।
> पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥ भा. प. १६

कारणत्व जिस रुप से कार्य के प्रति ग्रहण किया जाता है वह रुप उस कार्य के प्रति अन्यथासिद्ध है, जैसे घट के प्रति दण्डत्व। घट के प्रति दण्ड को दण्डत्वेन रूपेण कारणता है। अतः दण्डत्व घट के प्रति प्रथम आकार का अन्यथासिद्ध है, क्योंकि घट के प्रति दण्डत्व का कोई भी उपयोग नहीं है। कारण के ग्रहण पूर्वक जिसका ग्रहण हो, वह अन्यथासिद्ध है। उदाहरणार्थ दण्ड का रूप घट के प्रति अन्वय व्यतिरेक अपने कारण दण्ड को लेकर ही बनता है। अतः दण्डत्व रूप द्वितीय आकार का अन्यथासिद्ध है, क्योंकि दण्ड का रूप दण्ड से पृथक् नहीं हो सकता जिससे वह स्वतंत्र घट के प्रति कारण हो सके। किसी अन्य के प्रति पूर्वभाव गृहीत होने पर ही जिसका कार्य के प्रति निश्चय हो सके वह अन्यथासिद्ध है, जैसे आकाश घट के प्रति। यह तृतीय अन्यथासिद्ध है।

आकाश शब्द का सयवायि कारण है। अतः आकाश में शब्द के प्रति कारणत्व का ग्रहण करने के पश्चात् ही घटादि के प्रति कारणता का निश्चय करते है। अतः आकाश शब्द के प्रति कारण तथा घट के प्रति अन्यथासिद्ध होगा। कारण का कारण चतुर्थ अन्यथासिद्ध होता है जैसे, कुलालपिता घट के पति। कुलालपिता कुलालपितृत्वेन घट के प्रति अन्यथा सिद्ध है। नियतावश्यक पूर्वभावी से अतिरिक्त जो कुछ भी हो वह पञ्चम अन्यथा सिद्ध है, जैसे रासभ घट के

प्रति। घट कार्य आवश्यक पूर्ववर्ती दण्ड-चक्र चीवर इत्यादि से सम्पन्न होता है तो रासभ आदि अन्यथा सिद्ध हैं। इन पांचों में अन्तिम अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

कारण के प्रकार—कारण तीन प्रकार का है—समवायिकारण, असमवायिकारण तथा निमित्त कारण—

कारणत्वं भवेत्तस्य त्रैविध्यं परिकीर्तितम
समवायिकारणं ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्। भा. प. १७.
एवं न्यायनयज्ञैस्तृतीय मुक्तं निमित्त हेतुत्वम्।

समवायिकारण—जिसमें कार्य समवेत हो वह समवायिकारण कहलाता है, अर्थात् जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो। उदाहरणार्थ घट कार्य कपाल में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अतः कपाल घट का समावायिकारण कहलाता है—

यत्समवेतं कार्यं भवति ज्ञेयं तु समवायिजनकं तत्, भा. प. १८
स्वसमवेत कार्योत्पादकं समवायिकारणम् त.सं.१८

समवाय सम्बन्धावच्छिन्न कार्यतानिरुपित तादात्म्यसम्बधावच्छिन्न कारणताशालित्वं समवायिकारणत्वमिति—मु.वि.६१

तात्पर्य यह है कि कपाल घट का समवायिकारण है, तन्तु पट का समवायिकारण है, अर्थात् कपाल में घट तथा तन्तु में पट समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। इस समवायि कारण को उपादान कारण भी कहा जाता है। क्या समवयिकारण ही उपादान कारण है? दोनों वस्तुतः एक हैं, परन्तु न्याय वैशेषिक में समवायिकारण शब्द ही अधिक प्रचलित है। कारण यह है कि समवायि शब्द कारण के साथ-साथ समवाय सम्बन्ध पर बल होता है जैसे कपाल द्रव्य में घट का समवाय ही माना गया है। समवायिकारण शब्द ही समवाय की सापेक्षता को द्योतक है परन्तु समवाय को नहीं माननेवाले दार्शनिक उपादान कारण शब्द का प्रयोग करते हैं। साधारणतः हम समायिकारण को अंग्रेजी में Material cause कहते हैं, परन्तु समवायिकारण constituent cause है। महान् पाश्चात्य विचारक अरस्तू ने जहाँ उपादान कारण material cause पर विचार किया है वहाँ इतना ही विचार है कि जिससे कार्य उत्पन्न हो वह उपादान कारण है, परन्तु जिसमें कार्य समवाय सम्बन्ध से रहे, यह उन्होंने नहीं कहा। न्याय वैशेषिक

में 'यत्समवेतं कार्यं मुत्पद्यते' कहकर कपाल रूप समवायि कारण पर बल दिया गया है, अन्यथा Constituent cause को Material cause समझने की भ्रान्ति हो सकती है । मेरा विचार है कि समवायि कारण से 'कपाल' ही लिया जाय जिससे कारण के साथ साथ समवेत कार्य का स्पष्ट भान हो । व्यवहार में उपादान कारण (Material Cause) ही अधिक प्रचलित है परन्तु समवायिकारण (Constituent Cause) कहने से कपाल-द्वय (Constituting factors) स्पष्ट रूप से प्रतीत होते है । अतः समवायिकारण का प्रयोग वैशेषिक में 'कार्यस्य समवायः यस्मिन् अस्ति इति समवायी' इस अर्थ में होता हैं न कि 'कार्योत्पादकम्' केवल । दूसरी बात यह भी है कि उपादान (मिट्टी) और अवयव (कपाल) में भेद स्पष्ट है। अतः जो लोग समवाय सम्बन्ध नहीं मानते वे ही समवायिकारण को उपादान कारण मानते हैं ।

असमवायिकारण—जो समवाय सम्बन्ध से समवायिकारण में रहता हो तथा समवायिकारण के कार्य का जनक हो वह असमवायिकारण कहलाता है।

'तत्नासन्नं जनकं द्वितीयम्' (असमवायि)—भा. प. १८.

कपाल द्वय संयोग घट के समवायिकारण कपाल में रहता है और घट का कारण भी हैं। अत कपालद्वय संयोग घट का असमवायिकारण हुआ। श्री अन्नंभट्ट का कहना है—

कार्य के साथ या कार्य के कारण के साथ एक अर्थ में जो समवाय सम्बन्ध से रहे वह असमवायि कारण है–कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन् अर्थे समवेतं सत्कारण-मसमवायिकारणम्' त० सं. १८. तन्तुरूप पट रूप का असमवायिकारण कहलाता है। असमवायि कारण के उपर्युक्त लक्षणानुसार तुरी तन्तु संभोग भी असमवायि कारण प्रतीत हो रहा है। तुरी तन्तु संयोग पट के समवायिकारण तन्तु में रहता है और पट का कारण भी है। इसी प्रकार वेग भी अभिधाताख्य संयोग का असमवायिकारण हो जायेगा। वेग अभिघाताख्य संयोग के समवायि कारण में रहता है तथा अभिघाताख्य संयोग का जनक भी है—अत्र यद्यपि तुरीतन्तुसं-योगानां पटासमवायिकारणत्वं स्यात् एवं वेगादीना मभिघाताद्यसमवायिकारणत्वं स्यात्-सि० मु०। इस प्रश्न का उत्तर है कि असमवायि कारण के लक्षण में 'तत्तद्भिन्नत्व' विशेषण देना आवश्यक है। इस प्रकार पट के असमवायि कारण का लक्षण हुआ—तुरी तन्तु संयोगभिन्नत्वे सति पटसमवायिकारणे प्रत्यासन्नत्वे

सति पटकार्यजनकत्वं पटासमवायिकारणत्वम् सि० मु० ९२० इस प्रकार ज्ञान इच्छा आदि में अति व्याप्ति का वारण हो सकता है। ज्ञान इच्छा का असमवायि कारण है, क्योंकि ज्ञान इच्छा के समवायिकारण आत्मा में समवाय से रहता है तथा इच्छा का जनक है। इस अतिव्याप्ति के वारण के लिये 'ज्ञानादिभिन्नत्व' विशेषण देना आवश्यक है, जैसे तुरीतन्तु संयोग भिन्नत्व तथा अभिधात के असमवायिकारण लक्षण में वेग भिन्नत्व आदि विशेषण दे देना चाहिये—'तथापि पटासमवायिकारणलक्षणे तुरीतन्तुसंयोगभिन्नत्वं देयम्। तुरीतन्तु संयोगस्तु तुरीपटसंयोगं प्रत्यसमवायिकारणं भवत्येव। एवं वेगादिकमपि वेगस्पन्दाद्यसमवायिकारणं भवत्येवेति तत्तात्कार्या समवायिकारणलक्षणे तत्तद्भिन्नत्वम् देयत्वम्। आत्मविशेष गुणानां तु कुत्राप्यसमवायिकारणत्वं नास्ति। तेन तद्भिन्नत्वं सामान्यलक्षणे देयमेव सि० मु० ९२

प्रत्यासत्ति-विचार—असमवायिकारण समवायिकारण में दो प्रकार से रहता है, अर्थात् समवायि कारण में असमवायि कारण की प्रत्यासत्ति दो प्रकार की है—साक्षात् प्रत्यासत्ति तथा परम्परा प्रत्यासत्ति। प्रथम कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति कहलाता है, जिसका अर्थ है कार्य के साथ एक अधिकरण में रहना। उदाहरणार्थ घट और घट का कारण कपालसंयोग इन दोनों का अधिकरण एक ही कपाल है। इस प्रकार कपाल-संयोग, घट कार्य के प्रति कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति द्वारा कारण होता है। इसलिये इसे साक्षात् प्रत्यासत्ति कहते हैं कि कार्य तथा असमवायि कारण के सम्बन्ध में साक्षात् प्रत्यासत्ति अर्थात् समवाय सम्बन्ध है। इस कार्यैकार्थ प्रत्यासत्ति में घट कार्य के साथ कपाल संयोग समवाय सम्बन्ध से है। इस प्रकार कपाल संयोग (असमवायिकारण) की कारणता का नियामक समवाय सम्बन्ध है।

कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति को परम्परा प्रत्यासत्ति कहते हैं जैसे, घट रूप के प्रति कपालरूप असमवायिकारण है। घट और कपाल रूप का अधिकरण एक (कपाल) में वर्त्तमान हैं। यही कारणैकार्थ प्रत्यासत्ति कहलाती है। यहाँ पर प्रत्यासत्ति का अर्थ है 'स्वसमवायिसमवेतत्व' अतः इस पक्ष में स्वसमवायिसमवेतत्व ही कारणता का नियामक है, क्योंकि घटरूप के प्रति कपालरूप स्वसमवायि समवाय सम्बन्ध से कारण होता है। यह प्रत्यासत्ति परम्परया होती है, क्योंकि कार्य और असमवायिकारण के सम्बन्ध के लिये किसी अन्य तत्व की आवश्यकता होती है। कार्यैकार्थ में

कारणता का नियामक समवाय है, परन्तु कारणैकार्थ में कारणता का नियामक स्वसमवायिसमवेतत्व है।

समवायि तथा असमवायिकारण में भेद—समवायिकारणत्व केवल द्रव्य का साधर्म्य है, अर्थात् केवल द्रव्य ही समवायिकारण होता है। असमवायिकारणत्व केवल गुण, कर्म का साधर्म्य है अर्थात् असमवायिकारण केवल गुण कर्म ही होते हैं। भाषा परिच्छेद में कहा गया है कि—

समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्।
गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसमवायिहेतुत्वम्॥ २३

दूसरी बात यह है कि समवायिकारण (कपाल) में कार्य (घट) समवाय सम्बन्ध से स्थित रहता है। असमवायिकारण (कपाल रूप) में कार्य (घट रूप) स्वसमवायि समवाय सम्बन्ध से रहता है। कपाल रूप का समवायिकारण कपाल है। कपाल का समवाय घट में हैं। घट रूप भी घट में है तथा कपाल रूप भी घट में है। इसलिए घटरूप के प्रति कपालरूप असमवायिकारण हुआ इसी को दूसरे शब्दों में श्री शिवादित्य कहते हैं—

'स्वसमवेतकार्योत्पादकत्वं समवायिकारणत्वम्'

समवायिकारण प्रत्यासन्नमवधृतसामर्थ्यम् असमवायिकारणत्वम्—स.प.१३५

निमित्त कारण—

समवायिकारण तथा असमवायिकारण इन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण कहलाता है—'समवायिकारणभिन्नत्वे सति असमवायिकारणभिन्नत्वे सति कारणत्वं निमित्त कारणत्वम्—मु० वि० ९६

घटकार्य के प्रति दण्ड इत्यादि निमित्त कारण है तथा अन्य दो सहकारी कारण कहे गये हैं। प्रधान होने के नाते इसे करण कहते है। करण कहने का तात्पर्य यह है कि यह किसी कार्य का फलोत्पादक कारण विशेष है—

'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्'

अर्थात् अन्य कारणों की अपेक्षा इसमें अतिशयता है। उदाहरणार्थ दण्ड में व्यापार विशेष है जिससे घट की उत्पत्ति होती है। व्यापार करण से ही उत्पन्न होता है तथा व्यापार के बाद कार्य होता है। अतः 'तज्जन्यः तज्जन्यजनकश्च व्यापारः' इस प्रकार व्यापार की परिभाषा की गयी है। उदाहरणार्थ घट निर्माण में 'चक्र-भ्रमण व्यापार है जो घट के निमित्त कारण दण्ड से

उत्पन्न होता है। इस दण्ड में ही अतिशयता है। इस अतिशयता को स्पष्ट करने के लिये इसे साधकतम कहा जाता है—'साधकतमं करणम्' अर्थात् करण कारक अत्यन्त साधक है। अत्यन्त साधक कहने का तात्पर्य यह है कि जिसके बाद सद्यः कार्य की उत्पत्ति हो अर्थात् करण कारक अविलम्ब कार्योत्पत्ति का सूचक है—'येनाऽविलम्बेन कार्योत्पत्तिः तत् प्रकृष्टं कारणं करणम्'—

यह करण कारक ही प्रमाण होता है जैसे प्रत्यक्षप्रमा में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, अनुमितिप्रमा में परामर्शज्ञान करण है। प्रत्यक्ष प्रमाण स्थल में कारण अनेक हैं, परन्तु सन्निकर्ष में अतिशयता है। अतः किसी कार्य की उत्पत्ति में तीनों कारण रहते हैं जिनमें निमित्त कारण में कुछ विशेषता होती है। घटोत्पत्ति में कपाल घट का समवायिकारण है, कपाल-द्वय संयोग असमवायिकारण तथा दण्ड कुलाल आदि निमित्त कारण हैं। पट रूप कार्य के प्रति तन्तु समवायिकारण, तन्तुसंयोग असमवायिकारण तथा वेमा आदि निमित्त कारण हैं। श्री हर्ष कवि ने बड़े सुन्दर रूपक के साथ इन कारणों का वर्णन किया है—

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नः सहकृत्वरी वहुम्।
दिगङ्गनागावरणं रणांगणे यशः पट तद्भटचातुरी तुरी ॥ नै० च०

अर्थात् रण-प्रांगण में बड़े असिरूप वेमा की सहकारिणी नल के वीरों की चातुरी रूप तुरी, उसके शुभ्रवर्ण के वीरता आदि गुणरूप तन्तुओं से दिगंगना के आवरण के लिये यशः रूप पट को बुन रही थी।

करण-सम्बन्धी श्री जयन्तभट्ट का विचार—उनके अनुसार करण कारक-साकल्य है अर्थात् कारण-कूट, सामग्री ही करण है। साधारणतः हम साधकतम निमित्त कारण को करण कहते हैं, क्योंकि उसमें अतिशयता है। श्री जयन्त कहते हैं कि अनेक कारकों के सन्निधान से कोइ कार्य होता है तथा उनमें से किसी एक के अभाव में कार्य नहीं होता, तो अतिशयता किसी एक में कैसे कहा जाय—'अनेक कारकसन्निधाने कार्यघटमानमन्यतरव्यपगमे च विघटमानं कस्मै अतिशयं प्रयच्छेत्—न्या० मं० पृ० १२

अतः किसी भी एक कारण से अतिशयता नहीं है। जब सभी कारकों के सन्निधान से कार्य होता है तथा उनमें किसी एक के व्यवधान ने कार्य नहीं होता तो सन्निधान (साकल्य) में ही अतिशयता है। अतः करण कारक किसी एक

कारण विशेष (साधकतम्) को नहीं कह सकते। अत्यन्त साधक तो कारण-कूट ही हो सकता है। दूसरी बात यह है कि सन्निपत्य जनकत्व अर्थात् जिसके बाद सत्वर कार्य की उत्पत्ति हो उसी में हम अतिशयता मानते हैं। तात्पर्य यह है कि जिस कारण के बाद बिना किसी व्यवधान के कार्य की उत्पत्ति हो उसी को हम अतिशय कारण (करण) मानते हैं। श्री जयन्त का कहना है कि दूर के कारण भी तो कारण ही है। दूरस्थ कारण भी यदि विद्यमान न हो तो कार्य नहीं हो सकता—'सन्निपत्यजनकत्वमतिशयं इति, चेन्न—आरादुपकारकाणामपि कारकत्वानपायात् न्या० मं० १२-१३

श्री जयन्तभट्ट इसे एक सुन्दर उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हैं—निशीथ अन्धकार में घनघोर वर्षा हो रही है। एकाएक बिजली चमकी और किसी कामिनी का मुख दिखायी पड़ा। यहाँ पर विद्युल्लता (बिजली की चमक) में अतिशयता है, क्योंकि बिजली चमकने के ठीक बाद कामिनी का ज्ञान हुआ। परन्तु यदि कामिनी ही वहाँ न रहती तो कामिनी-दर्शन कैसे होता ? इसी प्रकार निशीथ अन्धकार आदि भी नहीं होते तो कामिनी का मुख नहीं चमकता। अतः सन्निपत्य जनकत्व ही अतिशयता का सूचक नहीं। इस प्रकार न तो हम अत्यन्त साधक अर्थात् साधकतम को और न सन्निपत्य जनकत्व को ही किसी एक कारण (करण) का लक्षण मान सकते हैं। अतिशयता तो सामग्री में ही है। अतः सामग्री (कारण कूट) ही करण है। सामग्री से ही कार्य होता है—सन्निहिता चेत् सामग्री सम्पन्नमेव फलम् इति सैवातिशमवती न्या० मं० १३

पाश्चात्य दर्शन में कारण विचार—पाश्चात्य दर्शन में अरस्तू (Aristotle) का कारण विमर्श अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अरस्तू के दर्शन में कार्योत्पादक को कारण कहा गया है। अरस्तू के अनुसार कारण चार हैं—उपादान कारण (Material cause), निमित्तकारण (Efficient cause), आकारिक कारण (Formal cause), तथा अन्तिम कारण (Final cause). किसी भी कार्य की उत्पत्ति में ये चारों कारण समानतः सहयोगी हैं, अर्थात् इन सभी कारणों के विद्यमान रहने पर ही कोई कार्य उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ किसी पत्थर की मूर्ति को लें। मूर्ति निर्माण में पत्थर ही उपादान कारण है। निमित्तकारण अरस्तू के अनुसार परिश्रम कौशल या शक्ति है जिसके कारण परिवर्त्तन होता है। मूर्ति-निर्माण में शिल्पी ही निमित्तकारण है। आकारिककारण किसी वस्तु का सार (Eessence) होता है। मूर्ति निर्माण

में मूर्ति की आकृति ही उसका सार है। अन्तिम कारण किसी कार्य की पूर्ति या प्रयोजन है जिसके लिए परिवर्त्तन होता है। मूर्ति-निर्माण में बनी हुई प्रतिमा ही अन्तिम कारण है। पुनः अरस्तू इन चार कारणों के स्थान पर दो ही कारणों को स्वीकार करते हैं, तथा अन्य दो को इन्हीं में अन्तर्भावित मानते हैं। उनके अनुसार आकरिक कारण, निमित्त कारण तथा अन्तिम कारण सभी आकार की सत्ता में अन्तर्भावित हो जाते हैं। इस प्रकार उपादान तथा आकार (Matter and Form) दो ही शेष रह जाते हैं। किसी भी कार्य के ये ही दो कारण हो सकते हैं। कोई भी कार्य किसी उपादान या द्रव्य से ही उत्पन्न होता है। पुनः किसी कार्य की कोई आकृति या आकार होता है जिसमें परिवर्त्तन के आधार पर ही किसी कार्य का सम्पादन सम्भव है। हम किसी पत्थर के टुकड़े को लेकर राम, कृष्ण, बुद्ध या ईसा को प्रतिमा बनाते हैं। वह पत्थर ही उपादान कारण है तथा प्रतिमा का आकार ही आकारिक कारण है।

★

चतुर्दश अध्याय

कारण कार्य संबन्ध—

अन्वय व्यतिरेक से ही कारणता का निश्चय होता है। अन्वय का लक्षण है—तत्सत्वे तत्सत्वम्, तथा व्यतिरेक का लक्षण है—तदभावे तदभावः, अर्थात् कारण के होने पर कार्य का भी होना तथा करण के न होने पर कार्य का भी न होना। उदाहरणर्थ अग्नि दाहरूप कार्य के प्रति कारण है। इसमें अन्वय व्यतिरेक बनेगा—अग्निसत्वे दाहसत्ता, अग्न्यभावे दाहाभावः अर्थात् अग्नि के होने पर दाह का होना तथा अग्नि के न होने पर दाह का न होना। इसी प्रकार तुरी वेमा आदि के रहने पर पट रूप कार्य उत्पन्न होता है और तुरी वेमा आदि के न रहने पर पट उत्पन्न नहीं होता। दण्ड, चक्र, चीवर आदि के भाव में घटोत्पत्ति होती है तथा अभाव में उत्पत्ति नहीं होती है। अतः दण्ड, चक्र आदि घट के प्रति तुरी, वेमा आदि पट के प्रति अन्वय व्यतिरेक से कारण होते हैं।

मीमांसक लोग कारण का लक्षण करते हैं—कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि कारणम् त. भा. ३५.। कुछ विद्वानों ने केनल व्यरिरेक संबन्ध के ही आधार पर कारण का लक्षण किया है—

'कार्यव्यतिरेक प्रयोजकव्यतिरेक प्रतियोगित्वम् त. भा. ३६।

परन्तु कारण के इन लक्षणों में दोष है। नैयायिकों का कहना है कि यदि अन्वयव्यतिरेक ही कारणता के नियामक हैं तो 'नित्य' और 'विभु' कारण नहीं होंगे। नित्य द्रव्य शाश्वत हैं, अतः किसी भी समय उनका व्यतिरेक दृष्टान्त उपलब्ध नहीं होगा। इसी प्रकार विभु द्रव्य सभी दिग्देश में विद्यमान रहता है तथा किसी भी दिग्देश में उनका अभाव उपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार 'कार्यानुकृतान्वय व्यतिरेकि कारणम्' ही कारण की परिभाषा मान लिया जाय तो दिक्, काल, ईश्वर आदि नित्य और सर्वव्यापक पदार्थों में कारण का लक्षण समन्वित नहीं हो पायेगा तथा अव्याप्ति दोष हो जायेगा। इसी प्रकार यदि केवल व्यतिरेक—'कार्यव्यतिरेक प्रयोजकव्यतिरेकप्रतियोगित्व' को ही कारण स्वीकार किया जाय तो नित्य विभु द्रव्यों में अव्याप्त होने के

कारण यह लक्षण भी दोष ग्रस्त होगा। इसी आशय से व्यतिरेकतन्त्र का निराकारण करते हुए श्री उदयनाचार्य कहते हैं—

'पूर्वभावोहि हेतुत्वं मीयते येन केनचित्।
व्यापकस्यापि नित्यस्य धर्मिधीरन्यथा नहि—न्या. कु. प्र. १०

इस प्रकार कारण की परिभाषा 'कार्यानुकृतान्वयव्यतिरेकि' तो निर्दुष्ट लक्षण के रुप में मान्य नहीं, परन्तु साधारणत: कारणता का निश्चय अन्वय व्यतिरेक से स्वीकार किया जाता है। अत: अन्वय और व्यतिरेक ही कार्य कारण सम्बन्ध का नियामक है। इस अन्वय और व्यतिरेक से ही साहचर्यभावरुप व्याप्ति का निर्णय होता है। अन्वय और व्यतिरेक में नियतत्व-निश्चयात्मकता ही पूर्व-भावी और पश्चात्भावी का निर्णय करता है। इस प्रकार दो घटनाओं में जो नियम से पूर्व में घटे उसे कारण और जो नियम से पश्चात् घटे उसे कार्य कहते हैं। दूसरे शब्दों में कारण के भाव में कार्य का भाव और कारण के अभाव में कार्य का अभाव ही नियतत्व हैं। इस अन्वय व्यतिरेक को न्याय वैशेषिक में अनुभव सिद्ध माना जाता है—'अन्वयव्यतिरेकौ च गृह्येते व्यवहारतः' न्या. मं. २-४१

अग्नि रहने से दाह का होना तथा अग्नि न रहने पर दाह का न होना, अनुभव सिद्ध है। यदि अन्वय व्यतिरेक कारणता का नियामक नहीं तो वह्नि के लिए धूम, तृप्ति के लिए भोजन, दूसरों के बोध लिए शब्द का क्या प्रयोजन? यदि हि गृतीतान्वयव्यतिरेकं हेतुं बिना कार्योत्पत्ति शङ्केत तदा स्वयमेव धूमार्थं वह्नेः, तृप्त्यर्थं भोजनस्य परपतिपत्त्यर्थं शब्दस्य चोपादानं कथं नियमतः कुर्यात्-तत्वचिन्तामणि २७।

तातपर्य यह है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति अकस्मात् नहीं होती। इस प्रकार न्याय वैशेषिक का सिद्धान्त चार्वाक तथा ह्यूम से नितान्त भिन्न है।

कारण कार्य सम्बन्धी चार्वाक-मत—

चार्वाक दर्शन में कार्य—कारण का सम्बन्ध 'अकस्मात्' स्वीकार किया गाया है। तातपर्य यह है कि कारण कार्य नियम का नियामक नियतत्व नहीं है। कारण से कार्य की उत्पत्ति तो स्वभावतः होती है—

अग्निरूष्णो जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥
शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान्कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥

अर्थात् अग्नि की उष्णता, जल की शीतलता और वायु के अनुष्णाशीत स्पर्श को किसने बनाया ? इन सभी की स्थिति स्वभाव से ही है। धर्म से सुख और अधर्म से दु:ख होता हैं, ऐसी कल्पना इस संसार में विद्वानों को नहीं करनी चाहिए। मनुष्य स्वभाव से ही सुखी या दुखी होता है, किसी अन्य के कारण नहीं। मयूर को चित्रित कौन करता है तथा कोयल को मधुर स्वर कौन प्रदान करता है? स्वभाव के अतिरिक्त इनका कोई भी कारण नहीं। चार भूत पदार्थों के सम्मिश्रण से जीव की उत्पत्ति हो जाती है। विकाश की अवस्था में चेतना भी आ जाती है। ताम्बूल के पत्ते, सुपारी, चूना आदि के मिलने पर लाल रंग आ जाता है, वैसे ही भौतिक तत्वों के विकार स्वरूप चेतना की सृष्टि होती है—

जड़ भूतविकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते ।
ताम्बूलपूगचूर्णानां योगाद्रागइवोत्थितः ॥

इस प्रकार कार्य कारण के निषेध प्रसंग में चार्वाक स्वाभावाद का प्रतिपादन करते हैं। जगत् का कोई कर्त्ता नहीं, यह अकस्मात् उत्पन्न होता है। जगत् के कारण स्वरूप ईश्वर की कल्पना करना वृथा है।

श्री उदयनाचार्य का मत—

उदयनाचार्य चार्वाक मत का खंडन एवं न्याय-मत का स्थापन करते हैं। चार्वाक के अनुसार कारण से कार्य अकस्मात् उत्पन्न होता है जैसे कांटे में तीक्ष्णता उत्पन्न होती है। 'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टक तैक्ष्ण्यादि दर्शनात्' सूत्र से चार्वाक मत का पूर्व पक्ष रखा गया है। तात्पर्य यह है कि चार्वाक सभी पदार्थों की उत्पत्ति अकस्मात् मानते हैं जैसे काटों में तीक्ष्णता। श्री उदयनाचार्य इस 'अकस्मात्' शब्द को पांच व्याख्यायें उपस्थित करते हैं। तथा सबों में दोष दिखलते हैं—

हेतु भूति निषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च ।
स्वभाववर्णना नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥ ५ ॥ न्या० कु०

अर्थात् अकस्मात् शब्द (१) हेतु का निषेध करता है। (२) उत्पत्ति का निषेध करता है। (३) अपने से भिन्न हेतु का निषेध करता है (४) पारमार्थिक हेतु का निषेध करता है (५) स्वभाव से इस अर्थ का बोध करता है। तात्पर्य यह है कि 'अकस्माद् भवति' का अर्थ क्या है ?

हेतु का निषेध—अर्थात् "अकारणाद भवति" यह अर्थ है। अकारणात् का भी अर्थ है 'कारणं विना भवति' अर्थात् कार्य बिना कारण के ही होता है। इस पक्ष के ग्रहण से कार्य अकारण सिद्ध होता है। यदि कार्य अकारण ही होते हैं तो सर्वदा क्यों नहीं होते। यदि' कारण व्यतिरिक्ताद् भवति' यह अर्थ अकस्मात् का है तो कार्य किसी काल विशेष ही में क्यों होता है? अतः हेतु निषेध मानने पर कार्योत्पत्ति की व्याख्या नहीं हो पाती। कोई कार्य किसी काल विशेष में होता है, इसका स्पष्ट अर्थ है कि कारण उसके नियत पूर्व में विद्यमान रहता है। अतः हेतु निषेध पक्ष ठीक नहीं।

भवन-निषेध अर्थात् उत्पत्ति का निषेध—यह पक्ष कार्यमात्र का निषेध करता है। यदि कोई कार्य ही नहीं होता तो उसके कारण मानने की कोई आवश्यकता नहीं। अतः यह पक्ष उचित नहीं है। कार्य अपने प्रागवाव का प्रतियोगी होता है। यदि कार्य की सत्ता ही नहीं तो प्रागभाव का प्रतियोगी कौन? अर्थात् प्रागभाव किसके द्वारा नाश को प्राप्त होता है? पुनः प्रागभाव से भाव में कौन परिवर्तित होता है। इस प्रकार अकस्मात् भवति का अर्थ उत्पत्ति निषेध ठीक नहीं। अपने से भिन्न हेतु का निषेध-'स्वस्मात् भवति' अपने से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है। यह पक्ष कारण और कार्य का अभेद बतलाता है। यदि कारण और कार्य में अभेद है तो 'कारण से कार्य उत्पन्न होता है' इस वाक्य का अर्थ क्या? तन्तुओं से पट की उत्पत्ति होती है। यदि कारण और कार्य एक हैं तो पट से पट की उत्पत्ति मानना पड़ेगा जो सवर्था अनुभव विरुद्ध है। यदि पटोत्पत्ति के पूर्व पट है तो पूर्वभावी और पश्चात्भावी में अन्तर कैसे सिद्ध होगा? पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में भेद है। पूर्वक्षण में कार्य का अभाव है उत्तरक्षण में कार्य का भाव है। यदि कार्योत्पत्ति अपने आप से होती है तो अभाव से भाव में (तन्तु से पट में) परिणत होने को व्याख्या नहीं हो पाती है। अतः अकस्मात् का अर्थ स्वस्मात् भवति भी ठीक नहीं।

अलीक से कार्य की उत्पत्ति होती है—मिथ्या जैसे खपुष्प वन्ध्यापुत्रादि से कार्य की उत्पत्ति होती है। यह पक्ष सर्वथा अमान्य है। यदि अलीक पदार्थ से कार्योत्पत्ति होती है तो कार्योत्पादन सर्वदा होना चाहिये क्योंकि अलीक पदार्थ का कभी भी अभाव नहीं होता। बन्ध्यापुत्रादि मिथ्या पदार्थ सर्वदा रहनेवाले हैं, इनका कभी भी अभाव नहीं हो सकता। अतः यदि अकस्मात् का अर्थ अलीकात् भवति है तो कार्योत्पत्ति सर्वदा होनी चाहिये।

'अकस्मात्' शब्द के सभी अर्थों पर विचार करने से दो अर्थ निकलते हैं– कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती अथवा कार्य सर्वदा विद्यमान रहता है—

नित्यं सत्वं असत्वं वा हेतोरस्या नपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां कादाचित्कत्त्वसम्भवः ।।

दोनों अर्थों के विरुद्ध तर्क उपस्थित कर श्री उदयनाचार्य सिद्ध करते हैं कि कार्य कारण स्वीकार किये बिना पदार्थों का कादाचित्कत्व नहीं बन सकता है। अतः कार्य कारण प्रवाह अनादि है जिसका निश्चय अन्वत्र व्यतिरेक के आधार पर होता है। पुनः चार्वाक दर्शन के द्वारा प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि अन्वत्र व्यतिरेक कार्य कारण का नियामक कैसे ?

अग्नि की उत्पत्ति में तीन कारण है—तृण, अग्नि और मणि। इन तीनों का अग्नि के साथ अन्वय सम्बन्ध तो बन जाता है, परन्तु व्यतिरेक नहीं बनता। तृण के भाव से अग्नि का भाव, अरणि के भाव से अग्नि का भाव, मणि के भाव से अग्नि का भाव बन रहा है। परन्तु तृण के अभाव में अग्नि का अभाव नहीं सिद्ध हो रहा है। इसी प्रकार अरणि और मणि के अभाव में अग्नि का अभाव नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार इनका केवल अन्वय सम्बन्ध बन रहा है, व्यतिरेक नहीं। कार्य कारण का नियामक अन्वय व्यतिरेक दोनों स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार अन्य पदार्थों के कार्य कारण भाव का खण्डन हो सकता है। चार्वाक के इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए श्री उदयनाचार्य कहते हैं–

तृण, अरणि और मणि से जो अग्नि की उत्पत्ति (जैसा कि चार्वाक के पूर्व पक्ष से अवगत है) है उसमें वैजात्य कल्पना है। तात्पर्य यह है कि तृण, अरणि और मणि से विजातीय अग्नि की उत्पत्ति होती है। तीनों कारणों के कार्य (अग्नि) में भिन्नता है। तृण-जन्य अग्नि अरणि-जन्य अग्नि से भिन्न है, उसी प्रकार मणि-जन्य भी पूर्वोक्त दोनों से भिन्न है। इस वैजात्य-कल्पना के आधार पर कारण कार्य के अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध में कोई त्रुटि नहीं आती। तृण के भाव में तार्ण अग्नि का तथा तृण के अभाव में तार्ण अग्नि का अभाव सिद्ध है। तृण के अभाव में अरणि-जन्य अग्नि का भाव हो सकता है परन्तु तृण-जन्य अग्नि का तो अभाव रहेगा ही। तीनों में एक ही अग्नि की सत्ता मानने पर व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनता, परन्तु वैजात्य-कल्पना से इस दोष का निराकरण हो जाता है—'न्यायमतन्तु तृणादि जन्यतावच्छेदकं वैजात्यमेव

विजातीयेष्वेकजातीय कार्मानुकूल शक्तिकल्पने कु० हरि। इस प्रकार श्री उदयनाचार्य न्याय-मत का प्रतिपादन करते हुए सिद्ध करते हैं कि 'अकस्मात्' से कादाचित्कत्व की व्याख्या नहीं हो पाती। पदार्थों का कादाचित्कत्व सम्बन्ध तभी बन सकता है जब एक की सत्ता नियत पूर्वभावी होगी तथा दूसरे की नियत पश्चाद्भावी। दोनों की अवधि निश्चित है। इस प्रकार अवधि निश्चय कादाचित्कत्व का अनुगमक हो सकता है। कादाचित्कत्व तभी बन सकता है जब किसी का पूर्व में अभाव एवं पश्चात् में भाव हो— 'इतः पूर्वं नासिदिदानी मस्तीति पूर्वकालासत्वे सत्युत्तरकालसत्वं कादाचित्कत्वम्'

पाश्चात्य दर्शन में संशयवाद—

पाश्चात्य दर्शन में संशयवादी डेविड ह्यूम (David Hume) का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय दर्शन में स्वभाववादी चार्वाक को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान यूरोपीय दर्शन में संदेहवादी ह्यूम को है। चार्वाक के अनुसार कारण से कार्य की उत्पत्ति 'अकस्मात्' होती है, उत्पन्न होना तो स्वभावमात्र है। दो घटनाओं या वस्तुओं में साहचर्यसम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार ह्यूम भी कारण और कार्य के सम्बन्ध को निश्चायत्मक नहीं कल्पना-प्रसूत मानते हैं। यह मानव का स्वभाव है कि वह दो घटनाओं को एक साथ देखकर उनमें साहचर्य के आधार पर कार्य कारण की कल्पना कर लेता है। परीक्षा के आधार पर इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः कारण कार्य का सम्बन्ध काल्पनिक है।

कारण विचार ह्यूम के दर्शन में सबसे महत्त्वपूर्श है। हमारे वास्तविक ज्ञान का आधार कारण ज्ञान ही है। कारण-विमर्श के आधार पर ही हम ज्ञात से अज्ञात का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इन्द्रिय-जन्य संवेदनाओं के आधार पर अतीन्द्रिय नियमों का निर्माण करते हैं। हम संवेदनाओं की पुनरावृत्ति से साहचर्य की कल्पना करते है तथा साहचर्य से सामान्य नियम बनाते हैं। इस प्रकार सामान्य नियम की आधारशिला कारणवाद ही है, अर्थात् सामान्य नियमों की यथार्थता कारणवाद की यथार्थता पर निर्भर है। कारण किसे कहते हैं ? कारण किन्हीं दो वस्तुओं का आपसी सम्बन्ध (relations among Objects) है। अग्नि और दाह भोजन एवं तृप्ति के सम्बन्ध को हम कारण कार्य सम्बन्ध कहते है। इन दोनों में एक पूर्ववर्ती तथा दूसरा पश्चाद्वर्ती होता है। पूर्ववर्ती को हम कारण तथा पश्चाद्वर्ती को हम कार्य की संज्ञा देते हैं।

अतः अवधि को देखकर हम सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। प्रश्न यह है कि यह सम्बन्ध नियत है या नहीं ? दूसरे शब्दों में कारण कार्य में निश्चयात्मकता कैसे आती है ? जब हम वाह्य पदार्थों का निरीक्षण करते हैं तो कोई भा अनिवार्य सम्बन्ध हमें स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता—

When we look about us towards external objects and consider the operation cf causes, we are never able, in a single instance, to discover any power or necessary connection, any quality which binds the effect to the cause, and renders tha one as infallible consequence of the other. We only find that the one does actually, in fact, follow the other. The impulse of one billiard-ball is attended with motion in the second. This is the whole that appears to the outward senses. The mind feels no sentiment or inward impression from this succession of objects, Consequently there is not, in any single, particular instance of cause and effect, any thing which can suggest the idea cf power or necessary connection.

An Enquiry concerning Human Under Standing David Hume p. 53

अर्थात् वाह्य पदार्थों के निरीक्षण से हमें यही उपलब्धि होती है कि एक घटना दूसरे की अनुवर्ती है, परन्तु हमें किसी भी अनिवार्य सन्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। बिलियर्ड गेन्द की एक गति दूसरे गति की सहचरी है। हमारे वाह्येन्द्रियों को इतना ही ज्ञान होता है। इसी के आधार पर हम कारण कार्य के अनिवार्य सन्बन्ध का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। किसी कारण से कोई कार्य होता है, यह अनुभव सिद्ध है। हम अग्नि तथा दाह को एक साथ अनुभव करते हैं। अनुभव पुनरावृत्ति से स्मरण में परिवर्तित हो जाता है। भविष्य में जब भी हम एक को देखते हैं तो दूसरे की स्मृति हो जाती है। इसी स्मरण के आधार पर हम एक को कारण तथा दूसरे को

कार्य कहते हैं। अतः कारण कार्य का सम्बन्ध केवल संयोग (Constant Conjunction) है। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार कारणवाद के दो अंग है–पहला, मनुष्य में साहचर्य कल्पना की शक्ति जन्मजात है। दूसरा, दो पदार्थों के संयोग का स्मरण। इस प्रकार कारण कार्य का सम्बन्ध दो पदार्थों का संयोग है जिसे हम कल्पना शक्ति के द्वारा साहचर्य का रूप देते हैं। यह साहचर्य काल्पनिक इसलिये है कि हमें दो घटनाओं में अनिवार्यता की उपलब्धि नहीं होती। केवल हमें सहचार के कुछ दृष्टान्त अवश्य मिलते जिसे हम कल्पना के सहारे भविष्य के लिये भी सत्य मान लेते हैं।

इस प्रकार ह्यूम भी चावार्क के समान कार्य और कारण में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। चार्वाक दर्शन में कारण और कार्य का सम्बन्ध अकस्मात् है। ह्यूम के अनुसार यह सम्बन्ध कल्पनाप्रसूत है। श्री जयन्त भट्ट चार्वाकादि संशयवादी दार्शनिकों का पूर्वपक्ष करते हुए कहते हैं कि भूतकाल में सैंकड़ो उदाहरणों में अन्वय सम्बन्ध देखने पर भी भविष्य में व्यभिचार दृष्टिगोचर हो सकता है। भूयोदर्शन के आधार पर ही व्याप्ति की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि व्यभिचार की उपलब्धि कभी भी हो सकती है। देश और काल भेद से वस्तु में भी परिवर्त्तन हो जाता है। अतः दृष्टान्त भविष्य में भी इसी प्रकार होंगे, इसका कोई निश्चय नहीं—

साहचर्ये च सम्बन्धे विस्रम्भ इति मुग्धता।
शतकृत्वोऽपि तद्दृष्टौ व्यभिचारस्य सम्भवात्॥
देशकाल दशाभेदविचित्रात्मसु वस्तुषु।
अविनाभावनियमो न शक्यावस्तुमाह च॥
भूयोदर्शनगम्याऽपि न व्याप्तिखकल्पते।
सहस्रशोऽपि तद्दृष्टे व्यभिचारावधारणात्॥ न्या०मं० १०९

तात्पर्य यह है कि दो घटनाओं को एक साथ कई बार देखने पर भी भविष्य में व्यभिचार की आशंका बनी रहती है। हमारी बुद्धि अभ्यस्त हो गयी है कि हम भूयोदर्शन के आधार पर साहचर्य सम्बन्ध की कल्पना करते हैं। संशयवादी दार्शनिक चार्वाक, ह्यूम इत्यादि कारण से कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते है, परन्तु दोनों का अनिवार्य सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। अतः कारण से कार्य की उत्पत्ति स्वभावतः होती है। कारण का यह स्वभाव है कि वह किसी काल विशेष में किसी कार्य को उत्पन्न करता है—कार्यस्याहेतुत्वेपि......स्वाभावादेव कादाचित्कत्वम् स्यात्—न्या.कु.

प्राय: न्याय वैशेषिक के सभी ग्रन्थों में स्वभाववाद, अकस्मात् उत्पति का खंडन उपलब्ध होता है। संक्षेप में 'कादाचित्कत्व' के आधार पर स्वभाववाद, अकस्मात् उत्पत्ति आदि का निराकरण किया जाता है। न्याय वैशेषिक में कारण कार्य का सम्बन्ध अनिवार्य है। तन्तु से ही पट की उत्पत्ति होती है अग्नि से ही दाह होता है, भोजन से ही तृप्ति होती है, अन्यथा नहीं। तन्तु और पट में कारण कार्य सम्बन्ध अनुभव सिद्ध है। कारण से कार्य, कारण के अभाव में कार्य का अभाव ही अविनाभाव का सूचक है। अत: कोई बुद्धिमान मानव अपनी वाणी में विरोध के विना इसे अस्वीकार नहीं कर सकता। संशय-वादी कार्य कारण के अनिवार्य सम्बन्ध में संशय कर अनुभव का अपलाप करता है। अत: श्री उदयनाचार्य के शब्दों में—तदेव हि अशंक्यते यस्मिनन्नाशंक्यमाने स्वक्रियाव्याघातादयो दोषा नावरन्तीति लोकमर्यादा—न्या.कु.

कार्य तथा कारण का सम्बन्ध

हम पहले देख चुके हैं कि कारण और कार्य अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है। कोई भी घटना अकारण या अकस्मात् नहीं होती। इस सिद्धान्त के आधार पर किसी कार्य का अवलोकन कर हम उसके कारण का अवश्य ही अनुमान करते हैं, परन्तु कार्य के स्वरूप के सम्बन्ध में दार्शनिकों में मतभेद है।

प्रश्न यह है कि कार्य की उत्पत्ति आविर्भाव है या आरंभ ? पूर्व विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति होती है या अविद्यमान वस्तु की ? सत् कारण से असत् कार्य उत्पन्न होता है या सत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है ? प्रथम पक्ष न्याय वैशेषिक का है, द्वितीय पक्ष सांख्य योग का है।

सत् कार्यवाद—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्
शक्तस्य शक्यकरणात् करणाभावाच्च सत्कार्यम्—सं. का

सत् कार्यवाद की सिद्धि के लिए पाँच तर्क दिये गये है—

(क) यदि कारण को असत् मानते हैं तो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। असत् से सत् की उत्पत्ति असम्भव है। अतः विद्यमान कारण ही विद्यमान कार्य को उत्पन्न कर सकता है।

(ख) किसी :कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण की आवश्यकता होती है। यदि कार्य असत् है तो उपादान कारण की आवश्यकता क्या है ? मिट्टी से ही घड़ा बनता है। यदि घट असत् है तो मिट्टी की आवश्यकता क्या है ? अत: उपादान कारण के ग्रहण करने से कार्य की सत्ता सत् स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि कार्य नियत रूप से कारण से सम्बद्ध होता है।

(ग) सभी कार्य सभी कारण से उत्पन्न नहीं होते हैं। बालू से तेल नहीं निकलता। तेल तिल के कणों से ही प्राप्त होता है। अतः सत् कारण ही सत् कार्य को उत्पन्न करता है।

(घ) वही कारण उस कार्य को उत्पन्न करता है जिसके लिए वह शक्त या समर्थ हो। बालू में तेल उत्पन्न करने की शक्ति नहीं, परन्तु तिल समर्थ है। अतः तिल से तेल की उत्पत्ति होती है।

(ङ) कारण और कार्य में अभेद सम्बन्ध है। कार्य केवल कारण का रूपान्तर है। कारण कार्य की अव्यक्तावस्था है तथा कार्य कारण की व्यक्तावस्था दोनों में केवल अवस्था का भेद है—कारण अव्यक्त है कार्य व्यक्त है।

उपर्युक्त कारिका में असत् कार्यबाद का खण्डन तथा सत् कार्यवाद की स्थापना है। उपर हमने मंडन पक्ष का उल्लेख किया है, परन्तु इन तर्कों के विश्लेषण से ही असत् कार्यवाद का खंडन भी किया जाता है।

असद्करणात्—यदि कार्य असत् होता तो कारण व्यापार की क्या आवश्यकता ? हजारों कुशल कारीगर भी नीले रंग को पीले रंग में नहीं बदल सकते। कारण व्यपार के पूर्व भी घट सत् हो रहता है असत् नहीं। इसलिए कारण व्यापार के अनन्तर जैसे कार्य सत् है वैसे हो उसके पूर्व भी—'असत् चेत् कारण व्यापारात् पूर्वं कार्यं नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यम्। न हि नीलं शिल्पीसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते तस्मात्कारणव्यापारादर्ध्वमिव ततः प्रारापिसदेव कार्यमिति' सां. त. कौ. प्र. ६०

असत् से सत् की उत्पत्ति असम्भव है। उत्पत्ति तो अभिव्यक्ति मात्र है। तिलों में तेल अनभिव्यक्त अवस्था में, धान में चावल, गोदोहन से पूर्व गौ में दूध आदि अनभिव्यक्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। असत् वस्तु की उत्पत्ति का उदाहरण नहीं मिलता—'सतश्चाभिव्यक्तिरूपपन्ना। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, अवघातेन धान्येषु तण्डुलानाम् दोहनेन सौरभेयीषु पयसः—सां०त०कौ०प्र० ७१

उपादान ग्रहणात्—इसका तात्पर्य है कार्य के साथ कारण का सम्बन्ध। उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य कारण से सम्बद्ध रहता है। असम्बद्ध वस्तुओं में उत्पत्ति नहीं देखी जाती जैसे, मृत्तिका से पटोत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि दोनों असम्बद्ध हैं। अतः कार्य से सम्बद्ध होकर ही कारण कार्य का जनक होता है। यह सम्बन्ध कार्य को असत् मानने पर सम्भव नहीं हो सकता—उपादानैः कार्यस्य सम्बन्धादिति भावत्कार्येण सम्बद्धं कारणं कार्यस्यजनकम्, सम्बन्धश्च कार्यस्यासतो न सम्भवति—सा० त० कौ० प्र० ६२. "असत्करणे नियतोपादानग्रहणं न प्राप्नोति, तैलाभी हि तिल सर्षपानुपादते न सिकताः असत्वे च तैलस्य कोविशेषः सर्षपाणसिकताभ्य।, असति कार्ये निरालम्बनः कारकव्यापरो भवेत्" —न्या० म० द्वि० खं० ६३

सर्वसम्भवाभावात्—सभी कार्यों की उत्पत्ति सभी कारणों से सम्भव नहीं। यदि कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाय तो सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न होने लगेंगे। अत: किसी कारण विशेष से कार्य विशेष की उत्पत्ति असम्भव होने लगेगी-असत्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्वसाङ्गिभिः असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थिति—सा० त० कौ० प्र०

शक्तस्य शक्यकरणात्—शक्तकारण से ही शक्य कार्य की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका से घट बनता है तथा तन्तु से पट, क्योंकि मृत्तिका घटोत्पत्ति में समर्थ है। इस क्षमता या या सामर्थ्य का अनुमान हम कार्य को देखकर ही करते हैं। अत: कार्य सत् है क्योंकि सत् कार्य से भी शक्तकारण का अनुमान होता है—'शक्ये चेत् कथमसति शक्ये तत्र इति वक्तव्यम्। सम्बन्धत्वे नाऽसता सम्बन्ध इति सत्कार्यम्। असम्बन्धत्वे सैवाव्यवस्था—सा० त० कौ० प्र० ६३

करणभावाच्च—कार्य उत्पत्ति के पूर्व भी सत् है, क्योंकि वह कारणरूप होता है। कारण और कार्य में अभेदसम्बन्ध है। यदि कारण सत् है तो कार्य भी सत् है, असत् नहीं। तन्तु और पट में अभेद है क्योंकि पट तन्तु की अवस्था विशेष है। तन्तु और पट में उपादान और उपादेयभाव है। उपादाना-पादेय भाव दो अभिन्न पदार्थों में ही सम्भव है। दूसरी बात यह है कि तन्तु और पट में परस्पर में संयोग और विभाग का अभाव है। संयोग और विभाग दो विभिन्न वस्तुओं में ही सम्भव है, अभिन्न वस्तुओं का नहीं।

तीसरी बात यह है कि तन्तु और पट का परिमाणतुल्य होता है। अतः दोनों में अभेद है। दो भिन्न वस्तुओं के परिमाण में भेद अवश्य होगा। एक पल सुवर्ण से बना हुआ आभूषण दो पलों से बने हुए की अपेक्षा भिन्न होगा। तन्तु का परिमाण तथा उनके निर्मित पट का परिमाण तुल्य होगा। इन प्रमाणों के आधार पर कारण और कार्य का अभेद सिद्ध है। उत्पत्ति आविर्भाव एवं विनाश तिरोभाव मात्र है। कछुए के अङ्ग प्रविष्ट हो जानेपर गुप्त एवं बाहर आजाने पर प्रकट हो जाते हैं न कि उत्पन्न या विनष्ट हो जाते हैं। मृत्तिका या सुवर्ण से घट आभूषण आदि पकट होनेपर उत्पन्न एवं उसी में (कारण में) विलीन होनेपर नष्ट कहे जाते हैं। यथार्थ में असत् घट, आभूषण आदि की उत्पत्ति नहीं होती तथा सत् घट आदि का विनाश भी नहीं होता। भगवान् कृष्ण ने भी गीता (२-१६) में कहा है—नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यते सतः—अर्थात् असत् का भाव नहीं होता एवं सत् का अभाव नहीं होता।

यथा हि कूर्मस्याऽङ्गानि कर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निः सरन्ति चाविर्भवन्ति, न तु कर्मतस्तदङ्गान्युत्पद्यन्ते प्रध्वंसन्ते वा। एकमेकस्याः मृदः

सुवर्णस्य वा घटमुकुटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते, निविशमानास्तिरीभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते। न पुनरसतामुत्वादः सतां वा विरोधः सा० त० कौ० प्र० ६६

सत्कार्यवाद का खण्डन तथा असत् कार्यवाद का स्थापन-न्यायवैशेषिक का मत असत्कार्यवाद कहलाता है। असत्कार्यवादी सत्कार्यवाद के साधक हेतुओं का खण्डन करते हैं—

(१) यदि तन्तु में पट पूर्व ही (कारण के व्याप्त होने के पहले) विद्यमान है तो तन्तु में पट की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? अर्थात् तन्तु में भी पट का प्रत्यक्ष होना चाहिये। सत्कार्यवादी का कहना है कि उस समय पट अनभिव्यक्त रहता है, अतः उसकी उपलब्धि नहीं होती। असत्कार्यवादी का प्रश्न है कि यह अनभिव्यक्ति क्या है ? यदि अनभिव्यक्ति उपलब्धि का अभाव है तो असत्कार्य सिद्ध है। यदि अनभिव्यक्ति प्रयोजन के सम्पादक रूप का अभाव है, तो भी असत्कार्यवाद सिद्ध है क्योंकि पट में पहले से अविद्यमान उसके प्रयोजन सम्पादक रूप की उत्पत्ति हुई है–यदि कारणव्यापारात् प्रागपि पटस्तन्तुषु सन्नेव, किमित्युपलब्धि कारणेषु सत्सु सत्यामपि जिज्ञासायां नोपलभ्यते ? अनभिव्यक्तत्वादिति चेत् ? केयमनभिव्यक्तिः ? न्या० क० ३४१

सत्कार्यवादी का कहना है कि कारणव्यापार के पूर्व कार्य का प्रत्यक्ष नहीं होता। पट के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में जैसे चक्षु आदि इन्द्रियां कारण हैं वैसे ही जुलाहा आदि कारण है। जुलाहा के व्यापार के पश्चात् ही कार्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। तन्तु में पट है परन्तु कारणव्यापार के पूर्व प्रत्यक्ष नहीं होता। न्यायवैशेषिकों का कहना है कि सत्कार्यवादी के अनुसार सभी कार्य उत्पत्ति के पूर्व सत् हैं। अतः जुलाहे आदि का व्यापार भी सत् है। सत् होने के कारण वह व्यापार सर्वदा विद्यमान रहेगा अर्थात् कभी उसका अभाव सम्भव नहीं। सत्कार्यवाद के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि 'आकाश कुसुम के समान असत् वस्तु की उत्पत्ति सम्भव नहीं' है। असत्कार्यवादी इसका खण्डन करते हैं कि वस्तुओं का सत्व और असत्व दोनों ही स्वभाव है। गगनारविन्द का केवल असत् होना ही स्वभाव है, अतः गगनारविन्त की उत्पत्ति असम्भव है। परन्तु घट पट आदि वस्तुएं सत् और असत् दोनों होती हैं। तुरी वेमा आदि (कारण सामर्थ्य) से पहले असत् पट (कार्य रूप) पुन सत् हो जाता है। कारण से सम्बद्ध वस्तु से हो कार्य की उत्पत्ति होती है। बिल्कुल असम्बद्ध कार्य की अगर उत्पत्ति मानें तो अतिप्रसक्ति होगी, अर्थात् कपाल आदि कारणों से भी पट की उत्पत्ति होगी। तन्तु जाति से ही पट जाति की उत्पत्ति सम्भव है। अन्वय और व्यतिरेक से तज्जातीय वस्तु की उत्पत्ति

तज्जातीय वस्तुओं में ही निश्चित् है—कारणसामर्थ्यात्, अस्ति स कोऽपि महिमा तुर्यादीनां यदेतेषु सम्भूयव्याप्रियमाणेष्यसन्नेव पटः सम्भवति—न्या० क० ३४३.

सत्कार्यवादी कारण और कार्य में अभेद मानते हैं। कारण सत् है और उससे अभिन्न कार्य भी सत् है। न्यायवैशेषिक के अनुसार इसमें असिद्ध हेतु से असिद्ध का साधन दोष है, क्योंकि कारण और कार्य दोनों के स्वरूप, शक्ति और विन्यास में भेद दृष्टिगोचर होता है—'तदसिद्धमसिद्धेन साधितम्, कार्यकारणयोः स्वसूपशक्ति संस्थानभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्। न्या० क० ३४३

न्याय वैशेषिक के अनुसार कारण और कार्य में अत्यन्त भेद' स्वीकार किया गया है। कार्य समवाय सम्बन्ध के द्वारा कारण में विद्यमान रहता है तथा कार्योत्पत्ति समवायिकारण में ही सम्भव है। इस प्रकार कार्य अपने समवायिकारण से सम्बद्ध होकर भी भिन्न है। अतः न्यायवैशेषिक में कार्य कारण का सम्बन्ध 'अभेद सहिष्णु अत्यन्त भेद' स्वीकार किया गया है। यह मत असत्कार्यवाद कहलाता है। 'असत्कार्यवाद' शब्द का एक विशेष अर्थ है। साधारणतः हम असत्कार्यवाद का अर्थ समझते हैं असद वस्तु की उत्पत्ति जैसे, शशशृंग इत्यादि। परन्तु यह अर्थ उचित नहीं। असत् का अर्थ है—जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह पहले असत् (अविद्यमान) था। कारण सामग्री से कार्योत्पत्ति होती है इसका अर्थ आकाश कुसुम की उत्पत्ति नहीं—

असत्करणपक्षे च यच्चोदितं 'शशविषाणाद्यपि क्रियेते' ति, तन्न यदसत्तत्क्रियते इति नेयं वचनव्यक्ति रपितु यत्क्रियते तदसदिति। रूपसहकार्यादिहेतवो यद्विधायिनः। दृश्यन्ते जन्यते तद्विध न व्योमकुसुमादिवत्, न्या. मं. द्वि० ख० ६४

इस प्रकार असत्कार्य का अर्थ कार्योत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अभाव है। कार्य का लक्षण ही है—कार्य प्रागभावप्रतियोगि—त. सं. १८

अर्थात् कार्य उसे कहते हैं जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो। घट उत्पत्ति के पूर्व कपाल आदि कारण में अविद्यमान रहता है। अतः हमें ज्ञान होता है 'अत्र घटो भविष्यति'। घट के नष्ट होने पर हमें ज्ञान होना है 'घटो नष्टः' इत्यादि। अतः जिसमें जिस कार्य का प्रागभाव होता है, उसी में उसकी उत्पत्ति होती है। तिल से ही तेल की उत्पत्ति होती है बालू से नहीं। सत्कार्यवादी यह आक्षेप देते हैं कि यदि कार्य असत् है तो तिल के समान बालू से भी तेल की उत्पत्ति होनी चाहिये। परन्तु तिल और बालू में तेल का अभाव समान नहीं। तिल में तेल का प्रागभाव है और बालू में तेल का अत्यन्ताभावा है। अतः उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्रागभाव कारण में है तथा नाश होने के पश्चात् उसका ध्वंसाभाव हो जाता है। कारण का व्यापार प्रागभाव दशा में ही सम्भव है, ध्वंसाभावकाल में नहीं—

प्रागभावदशायां च हेतुव्यापारदर्शनम्।
न तु प्रध्वंसवेलायामतः कमनुयुञ्ज्महे ॥ न्या० मं० खं० २–६५

शुद्धि पत्र

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१	११	कार्यनियत	त. सं. १७.	२८	१७	यहाँ	यहाँ
१	१२	कार्यान्य.	मु. वि. ८६	२८	२१	स्वोत्पत्य.	मु. वि. १७६
१	१६	कार्यं प्राग.	त. सं. १८.	२८	२७	नहि वाचक.	न्या. मं. ६०
१	२३	हुवे	हुए	३३	२५	मानी	माना है.
२	७	प्रमितिविष.	स. प. २.	३३	३	बुद्ध्यादि.	भा. प. ६०
२	१५	अभिधेयत्वं.	त. दी. २.	३३	६	रूपं रसं	भा. प. ८६
३	२	षण्णाम.	प्र. भा. ४१.	३३	२७	पृथिव्यप.	त. सं २
३	१४	यस्यवस्तु.	न.क.प्र.भा.४१	३४	३	थ्यापक	व्यापक
३	२६	नापि अस्ति.	न.क.प्र.भा.४२	३४	६	दिवका.	सि. ल. गं ११६
४	२७	अर्न्तनि	अन्तर्नि	३५	६	तमाल	चित्सु. २८
५	६	अभिधेय	न.क.प्र.भा.४१	३५	१२	तमोहि	चित्सु. २८.
६	२०	भननञ्च	त. मृ. २	३७	२६	अनुपल.	सि. मु. ११६
६	१७	स्वतः		३६	२८	प्रत्येका.	जा.अव.नि. १०६
७	२७	चैत्रो	चैत्र	४०	१६	वास्तविक.	वास्तव
८	१२	षण्णा	प्र. भा. ४१	४१	१३	सभाप्ति	समाप्ति
६	२	हुवे	हुए	४१	२७	एकभात्र	एकमात्र
१०	८	अल	जल	४४	१७	पारिमा.	भा. प. १५
११	६	हुवे	हुए	४४	४८	जायगा	जायेगा
१२		सर्वेषा	त. सं. ४६	४५	११	असवेत	असमवेत
१२	१७	प्रमिति.	स. प. २	४५	१७	तमौ	तमो
१७	२५	उत्पन्नं	त. भा. ४६	४५	२५	मानी	माना
१८	५,१२,१७	जायगा	जायेगा	४६	१७	अववस्था	अनवस्था
१६	७	समवायि	भा.प. २३	४७	१३	जले.	मु. वि. १३४
१६	२४	द्रव्यत्व.	त. दी. ११४	५२	१३	आधार	आधार पर
२०	१२	स्वप्राधा.	न.क.प्र.भा. ३४	५२	२२	वास्तविक	वास्तव में
२१	१७	गुणाश्रयो.	न्या.ली. ७५२	५५	२	भंयोग	संयोग
२३	१७	समवाया.	न्या.को. ६६३	५५	२८	वास्तविक	वास्तव में
२३	२३	भतसभवे.	त. सं. १८	६०	२	उत्कत	उत्कट
२४	७	समवायि.	भा. प. २३	६१	५	निमायक	निर्मायक
२५	६	प्रत्येका.	जा.अव.नि. १०६	६१	१६	वैषिक	वैशेषिक
२६	१६	गलते	गलत	६१	२१	वैषेषिक	वैशेषिक

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
६३	८	रूपादी.	प्र.भा. २२६	८४	१८	इतोवहु	मु. वि. ७७
६३	११	अथद्रव्य.	भा.प. ८६	८४	२७	मानव.	त. सं. १२
६३	२८	गुणस्तु	स.प. ५६	८४	२६	परिमाणं.	भा. प. १०६
६४	६	वायोन.	मु.वि. ११७	८५	२१	संख्यातः	भा. प. १११
६७	१७	अवच्छक	अवच्छेदक	८६	४	पारिमाराड.	भा. प. १५
६७	२५	दा	दो.	८६	२६	तद्विधस्वा.	सि. मु. ८६
६७	२८	हो	हो.	८७	२०	न तु कवा.	मु. वि. ८६
६७	१६	रूपत्व	स. प. ७०	८८	१	प्रचयः	भा. प. ११२
६७	१७	चक्षु.	त. सं. ६	८८	१३	परमाणौ.	मु. वि. ८६
८६	२८	यहीं.	यही	८६	६	शरीरा.	सि. मु. ८३
६६	२२	नीलं	नीलं	९०	४	पृथग्.	त. सं. १३
७०	७	मौं	में	९१	१५	अस्मात्.	भा. प. ११४
७०	१०	अपयवी	अवयवीं	९१	२२	तथाचा.	मु. वि. ८६
७१	८	अववबी	अवयवी	९१	२६	पृथक्.	मु. वि. ९१
७१	३	शंखस्ये.	सि.मु. १४५	९१	२	द्विपृभ.	द्विपृथ.
७२	६	अवभवै	अवयवै	९२	५	अप्राप्त.	भा. प. ११५
७२	१७	यो गुणो.	मु. वि. ७८	९३	१४	आदिभिः	भा. पा. ११६
७२	२६	गुरूणी.	भा. प. २८	९४	१४	मेषयोः	भा. प. ११७
७४	१४	घ्राण.	त. सं १०	९५	२३	ता	तो.
७४	२९	सौरभ.	भा. प. १०३	९४	१८	अभिधा.	भा. प. ११८
७५	११	पृथिवो	पृथिवी	९७	२६	संयोग.	त. सं. १३
७५	२६	त्वगिन्द्रि.	त. सं. ११	९७	२७	विभागो.	त. भा. ३०३
७६	२	चत्वारि.	भा. प. २६	९८	२४	असवा	असमवा
७७	१५	स्पश	स्पर्श	९९	१५	संतोग.	संयोग.
७८	५	काठन	कठिन	१००	२५	ज्यष्ठ	ज्येष्ठ.
८१	२४	अनेका.	भा. प. १०८	१००	२५	परत्वो.	त. मृ. ६
८२	१८	दूररे	दूसरे	१००	२७	परत्व.	त. मृ. १०
८२	१२	अनेकै.	भा.पा. १०९	१०१	१०	दैशिक.	सि.मु. १०५
८३	१५	अतएव	भा.प. ६९	१०१	११	इरस्थे.	त. सं. १३
८३	२०	अतीन्द्रि.	भा.प. ७४	१०३	१०	विनाश.	प्र.भा. ३८७
८४	१२	तथा च.	मु.वि. ७६	१०३	६	निमित्त.	न्या.को. ४६७

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१०४	१७	आद्य.	त. सं. १४	११९	७	भतोभ्यु.	वै. सू. १
१०४	२४	स्यन्दन.	प्र. भा. ६४१	११९	२०	जगतः	शां. गी. भा. १
१०५	१	नेमि	नैमि.	१२१	२४	कर्मणिये.	भा. प. ६
१०५	२०	दिव्येन.	प्र. भा. ६४२	१२२	१५	गुणकर्म	भा. प. २३
१०५	१	प्राथ.	पृथि.	१२१	९	न्यासो.	व्यासो
१०६	१	चूर्णादि	त. सं. १५.	१२३	२	की.	ही.
१०७	१७	स्नेह.	भा. प.	१२४	१	पतना.	त. सं. १४.
१०७	२१	श्रोत्र.	त. सं. १५.	१२३	७	सि.	जिस.
१०८	३	उत्पन्नः	भा. प. १६७	१२३	११	माना	मानी
१०८	१९	वीचि.	भा. प. १६६	१२३	२०	स.	से.
१०९	१३	शब्दो	सि. मु. १५५	१२३	२२	उनर	उपर
१०९	१६	आश्रया.	मु. वि. १५६	१२४	२०	प्रतिराध	प्रतिरोध
११०	९	स. च.	प्र. भा. ६९३	१२४	१८	स्यन्द.	त. सं. १४
१११	५	आप्तो.	गौ. सू. ७	१२५	९	उदाहरण	उदाहरण
१११	२४	बुद्धि.	वा. भा. ४१०	१२५	१५	संयोग.	त. सं. १३
१११	२०	आगमो.	प्र.च. परि.५१	१२७	२८	उर्ध्व.	मु. वि. ५८.
१११	२६	अर्थप्र.	त. भा. ३१९	१२९	१६	अधो.	मु. वि. ५८
११२	७	सर्वव्य	त. सं. १६.	१३१	४	शरीर.	मु. वि. ५८
११२	१३	यस्मिन्	कि. ५१०.	१३१	१२	शरीर.	त. सं. ४३
११२	२१	सांख्या	सां. सू.	१३१	२१	अंग	प्र. भा. ७००.
११२	२६	आत्मा.	स. प. ७६.	१३३	१६	गमन.	वै. उ. १६.
११५	२५	स्थाया	स्थायी	१३३	१७	उत्क्षेप	मु. वि. ५८
११६	१	अनुग्रह.	प्र. भा. ६३०	१३३	२६	सर्वं हि.	प्र. भा. ७०१
११६	२१	ननु सर्वे.	स. प. ती.७६	१३५	८	या सामना	वा. भा. ४१९
११६	२५	प्रयानो.	स. प. ती. ७६	१३५	१६	नित्य.	त. सं. ४४
३१६	२७	उपघात	प्र. भा. ६३३	१३५	१५	नित्यत्वे.	सि. मु. ५९
११७	११	उत्पन	उत्पन्न	१३५	१६	सामान्य.	स. प. ५८
११७	४	पीड़ा.	त. भा. ३२०	१३६	८	समाना	सि. मु. २५३
११७	९	स्वार्थं	प्रा. भा. ६३४	१३८	१२	यत्रडव.	सि. मु. ७५
११७	२४	प्रज्वला	प्र. भा. ६२७	१३८	२२	नित्यत्वे	सि. मु. ५९
११८	५	प्रयत्न	प्रा. भा.६३८	१३९	२८	प्रतिपिण्ड	प्र. भा. ७४२

पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.	अशुद्ध	शुद्ध
१४०	१४	सायन्य	सामान्य	१६८	११	भिन्म	भिन्न
१४०	१०	स्वविष.	प्र.भा. ७४१	१७१	१८	का	
१४०	२५	समान	न्या. सू. ७१	१७३	२२	किसा	किसी
१४१	१६	अर्थेनै.	न्या. कु. ४।४	१७७	२२	प्रतीत	प्रतीति
१४३	४	सामाम्म	सामान्य.	१७८	६	र्भाव	भाव
१४३	२६	जानाभि	जानामि.	१८३	१८	भावात्वं	भावत्वं
१४४	६	मूलम	मूलक	१८४	३	हे	हैं
१४४	११	तर्कस्य	त. वि. १	१८६	१८	रूवाभाव	रूपाभाव
१४५	१२	व्यक्ते	सि. मु. ६०	१९०	२५	लाक	लोक
१४६	३	स्वभिन्न	मु. वि. ६१	१९१	७	युक्त	युंक्त
१४७	१५	अप्रामाणि	मु. वि. ६१	१९१	२५	eris	cxis
१४७	२७	मसवाय	समवाय	२००	१७	ह	है.
१४८	१३	व्यापक	भा. प. १०	२०३	१६	शाधन	साधन
१४८	६	प्राक्तं	प्रोक्तं	२०४	१३	शरीरों	शरीरों में
१४९	२	कहलती	कहलाती	२०४	१६	कौ.	को
१५०	२५	बाद्ध	बौद्ध	२०७	४	ज्ञानेन्द्रिया	ज्ञानेन्द्रियों
१५३	१३	Gdea	Idea	२१९	३	न	ने
१५७	५	निःसामा	मु. वि. ६४	२१९	१	परिणाम	परिमाण
१५७	१५	अन्त्यो	भा. प. १०	२२३	१६	मह	यह
१५७	१६	अन्ते	सि. मु. ६३	२२९	१८	हे	हैं
१५७	१९	अन्तेषु	प्र. भा. ७६५	२२९	१९	प्रचालन	प्रचलित है
१५८	५	अयं पर	सि. मु. ६४	२३४	२२	अरस्त्	अरस्तू
१५९	३	घटादी	सि.मु. ६३	२३७	२५	काय	कार्य.
१५९	२५	विनाशा	प्र. भ. ७६६	२३७	२	- अग्नि	चा. द. १९४
१६१	९	घःट	घटः	२३८	११	जड़भू	चा. द. १९४
१६१	१५	विशष्ट	विशिष्ट	२३८	२२	सवां	सबों
१६१	२३	पञ्चानव	पञ्चानन	२३९	११	प्रागवाव	प्रागभाव
१६२	२३	अर्था.	अर्थात्				
१६४	२०	अनन्त ही.	भी.				
१६६	७	अकिकरण	अधिकरणता.				

पठितोल्लिखित ग्रन्थ सूची

सङ्केत-विवरण

आ. त. वि.	आत्म तत्वविवेक—श्री उदयनाचार्य, चौखम्भा.
क. र.	कणाद रहस्य—शंकर मिश्र. चौखम्भा, वाराणसी.
कि.	किरणावली, उदयनाचार्य. कलकत्ता
कि. प्र.	किरणावली प्रकाश, वर्धमान. ए. सो. कलकत्ता
कि. प्र. दी.	किरणावली प्रकाश दीधिति. रघुनाथ शिमणि, सरस्वती भवन
कु. प्र.	कुसुमाञ्जली प्रकाश, वर्धमान, चौखम्भा वाराणसी.
ख. ख. खा	खण्डन खण्ड खाद्य-श्री हर्ष. चौखम्भा, वाराणसी
ख. र.	खण्डन रहस्य-शंकर मिश्र ,, ,,
ग. व्यु.	गादाधरी व्युत्पत्तिवाद } गदाधरभट्टाचार्य
ग. शक्ति.	गादाधरी शक्तिवाद } बनारस, मुबई.
गी. भा.	गीता भाष्य (शांकर) गीता प्रेस, गोरखपुर.
गौ. वृ.	गौतम सूत्रवृत्ति. ए. सो. कलकत्ता.
च. भा.	चन्द्रकान्त भाष्य गुजराती प्रेस.
च. वृ.	चन्द्रानन वृत्ति. बड़ौदा.
चि. प्र.	चिन्तामणि प्रकाश. कलकत्ता.
जै. न्या.	जैमिनीय न्यायमाला माधवाचार्यः पूना.
त. कौ.	तर्क कौमुदी लौगाक्षिभास्कर मुंबई.
त. दी.	तर्क दीपिका. अन्नंभट्ट बनारस.
त. सं.	तर्क संग्रह पं० ज्वाला प्र० की टीका
त. भा.	तर्कभाषा, केशवमिश्र, व्याख्याकार पं बद्रीनाथ शुल्क वाराणसी
त. मृ.	तर्कामृत. व्यायाकार. पं.ज्वाला प्र.गौड़, मोतीलाल बनारसीदास.
त. स. प.	तत्व संग्रह पञ्जिका.
ता. र.	तार्किक रक्षा. वरदराज. मुंबई.
ता. टी.	तात्पर्य टीका चौखम्भा, वाराणसी.
तै. उ.	तैत्तिरोयोपनिषत् (उपनिषत् संग्रह)
दिन.	दिनकरी न्याय सिद्धान्त मुक्तावली
दीधि.	दीधिति. रघुनाथ भट्टाचार्य, कलकत्ता.
द्र. कि. टी.	द्रव्य किरणावली टीका. वादीन्द्र. ए. सो. कलकत्ता.
न्या. क.	न्यायकन्दली (प्र. भा.) गंगानाथ ग्रन्थमाला
न्या. सू.	न्याय सूत्र. (वा. भा.) चौखम्भा. १९२५.
न्या. बो.	न्याय बोधिनी. गोबर्धन मिश्र पूना.
न्या. वि. टी.	न्याय विन्दु टीका धर्मोत्तराचार्य. मुंबई.
न्या. मं.	न्याय मञ्जरी जयन्त भट्ट, चौखम्भा.
न्या. वा.	न्याय वार्तिक. चौखम्भा. वाराणसी.
न्या. भा.	न्याय भाष्य. वात्स्यायन भाष्य, चौखम्भा.
न्या. सि. मु.	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली. विश्वनाथ पञ्चानन.

न्या. सि. मु. वि. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली विलासिनी टीका. पं. ज्वाला प्र. गौड.
न्या. ली. न्याय लीलावती, वल्लभाचार्य, चौखम्भा
न्या. को. न्याय कोश पं. भीमाचार्य. पूना.
न्या. कु. न्याय कुसुमांजली उदयनाचार्य. चौखम्भा.
प. च. पदार्थ चन्द्रिका (सप्तपदार्थी टीका (कलकत्ता)
प्र. भा. पशस्तपाद भाष्य. गंगानाथ झा ग्रन्थमाला.
प्र. क. मा. प्रमेय कमल मार्तण्ड मुंबई १९४१.
बृह बृहदारण्यक उपनिषद्, उपनिषद् संग्रह.
भा. प. भाषा परिच्छेद विश्वनाथ पंचानन. विलासिनी के साथ.
ब्र. सू. ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) मुम्बई.
सां. त. कौ. साख्य तत्व कौमुदी प्रभा. (आद्या प्र. मिश्र की हिन्दी टीका)
व्योम. व्योमवती (वैशेषिक भाष्य व्याख्या, चौखम्भा.
वेदा. प. वेदान्तपरिभाषा, धर्मराजाध्वरीन्द्र.
वे. सा. वेदान्तसार सदानन्द. (स्वामी निखिलानन्द).
वै. द. वैशेषिक दर्शन, महर्षि कणाद, कलकत्ता.
वै. उ. वैशेषिक उपस्कार, शंकरमिश्र, कलकत्ता.
वै. वि. कणाद सूत्र विवृत्ति. श्री जयनारायण
सर्व. सं. सर्वदर्शन संग्रह माधवाचार्य.
सां. का. सांख्य कारिका, ईश्वर कृष्ण.
सां. सू. सांख्यसूत्रम्, कपिल (विज्ञानभिक्षु भाष्य सहित).
स. प. सप्त पदार्थी शिवादित्य (डी. गुरुमूर्ति) थियोसोफिकल आन्ध्र.
स. प. प. पदार्थचन्द्रिका. (सप्तपदार्थी टीका) शेषानन्त.
जा. व्य. जागदीशी व्यधिकरण.
जा. सा. जागदीशी सामान्य निरुक्ति.
त. चि. दी. तत्व चिन्तामणि दीधिति.
सा. ल. सामान्य लक्षणा, रघुनाथ शिरोमणि.

Indian philosophy by Dr S. Radha Krishnan.
A Hist. of Indian philosophy. S. N. Das Gupta.
Studies in Nyaya VaisesiKa Metaphysics by S. Bhaduri. Indian logic and Atomism dy A. B. Keith.
The vaisesika system ty Faddegon. An out line of Indian plilosophy by M. Hiriyanna,
History of Indian plilosophy by Dr Umesh Mishra.
A critical survey of Indian philosophy by Dr. C.D. sharma. An Intro. to In.dian phil. by Datta. chatterjee.
Nyaya theory of Knowledge S. C. chatterjee.
Navya Nyaya System of logic by Dr D. C. Guha